भारतीय साहित्य

(हिन्दी विद्यापीठ आगरा विश्वविद्यालय का मुखपत्र)

जनवरी १९५९

[वर्ष ४, अंक १]

सम्पादक

डा० विश्वनाथ प्रसाद

संचालक

क० मुं० हिन्दी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ

आगरा विश्वविद्यालय, आगरा ।

प्रकाशक :—

संचालक,

क० मुं० हिन्दी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ,

आगरा विश्वविद्यालय,

आगरा ।

वार्षिक शुल्क १२, रु० ।

भारतीय साहित्य

वर्ष ४, अंक १

मुद्रक :—

एच० के० कपूर,

आगरा यूनिवर्सिटी प्रेस,

आगरा ।

विषय-सूची

डा० विश्वनाथ प्रसाद

अनुसंधान के सिद्धान्त

अनुसंधान की प्रवृत्ति वस्तुतः एक सहज प्रवृत्ति है। ज्ञान की उपासना जब से चली तब से उसके साथ ही अनुसंधान की प्रवृत्ति भी चली। ज्ञान एक प्रकार से अनुसंधान का पर्याय या प्रतिफल है। ये जो प्रकृति के विभिन्न रूप मनुष्य के सामने प्रकट हुए और उनकी प्रक्रियाओं के संबंध में उसके मन में जो जिज्ञासाएँ उत्पन्न हुईं, उन्हीं से अनुसंधान की प्रवृत्ति का सम्बन्ध है।

हिन्दी में तीन शब्द 'रिसर्च' के लिए प्रयुक्त होते हैं। एक तो अनुसंधान, दूसरा गवेषणा और एक तीसरा शब्द प्रयुक्त होता है शोध। अनुसंधान, गवेषणा और शोध ये तीनों शब्द मिलकर जो भाव व्यक्त करते हैं, मैं समझता हूँ कि उससे अनुसंधान का स्वरूप कई दृष्टियों से हमारे सामने आ जाता है। संधान के पहले लगा हुआ अनु उपसर्ग प्रायः पश्चात् के अर्थ में प्रयुक्त होता है। इस प्रकार यदि किसी ने प्रारंभ में कोई खोज की हो, किसी सत्य का अनुभव किया हो और उसे प्रकाश में भी लाया हो, परन्तु वह सत्य जटिलता या पुरातनता के कारण तिरोहित हो गया हो और फिर उस सत्य के उद्घाटन या विवेचन का प्रयत्न अन्य कोई पीछे से करे तो हम इस प्रयास को अनुसंधान कह सकते हैं।

दूसरा शब्द गवेषणा एक रूपकात्मक शब्द है। जंगलों में गौओं के गले में बँधी हुई घंटियों की ध्वनि सुनकर उनकी जो खोज की जाती है, शब्दगत अर्थ में वही गवेषणा है। किन्तु अर्थविस्तार के नियम से अब इसका प्रयोग सामान्य रूप से अन्य विषयों की खोज के लिए भी होने लगा है। जैसे किसी गूढ़ विषय के किसी पक्ष का कहीं से कुछ अन्दाज हमें मिल रहा हो और हम उसकी खोज में प्रवृत्त हों। किसी विषय का कुछ संकेत पाकर उसके अन्तर्निहित मूल स्रोतों तक पहुंचने के लिए प्रयत्नशील होना अनुसंधान की एक विशेष प्रवृत्ति है। तीसरा शब्द शोध शुध् धातु से व्युत्पन्न है। इस अर्थ में उसका संबंध वास्तविकता के निर्णय से जोड़ा जा सकता है। किसी विषय में क्या सच है, क्या सच नहीं है, इसका विश्लेषण करके एक परिणाम पर पहुँचने के लिए हम जो प्रयत्न करते हैं वह शोध ही है।

इन तीनों अर्थों को एक साथ ग्रहण करके विचार करें तो अनुसंधान या रिसर्च के स्वरूप को हम बहुत कुछ अंशों में ग्रहण कर सकेंगे। अनुसंधान पहले के किसी उपलब्ध किन्तु लुप्तप्राय सत्य को फिर प्राप्त करने की चेष्टा करता है, गवेषणा किसी सुदूर गुहानिहित सत्य की ध्वनि को खोजने का अथवा संकेतमात्र के सहारे किसी विषय के मूल स्रोतों तक पहुंचने का प्रयास करती है और शोध सत्यासत्य का विधिवत् निरीक्षण-परीक्षण करके किसी निष्कर्ष पर पहुँचने का व्यापार है।

लुप्त सत्य को पकड़ने की चेष्टा के सम्बन्ध में तुलसीदास जी के कथन 'लुप्त भए सद्ग्रंथ' की ओर ध्यान जाता है तो एक सहज जिज्ञासा होती है कि ये सद्ग्रंथ कौन से थे। यदि कोई व्यक्ति इसी जिज्ञासा की तृप्ति के लिए प्रयास करे तो निश्चय ही उसके कार्य को अनुसंधान माना जा सकता है। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या ऐसा प्रयास भी अनुसंधान कहा जा सकता है जिसमें ऐसी चीज खोजने का प्रयत्न करें जो पहले कभी खोजी न गई हो, और प्रकाश में न आ सकी हो? वस्तुतः यह भी अनुसंधान का विषय है। और इसे उसका एक चौथा लक्षण कहा जा सकता है। अँगरेजी के रिसर्च शब्द में जो पूर्वप्रत्यय या उपसर्ग 'रि' है, वह आत्यन्तिकता या सम्पूर्णता का ही द्योतक है। किसी तथ्य का अधिक से अधिक सूक्ष्मता के साथ अन्वेषण करने को 'रिसर्च' या 'डिसकवरी' कहते हैं। इस प्रकार अनुसंधान के अन्तर्गत किसी ऐसे सत्य के सम्यक् उद्घाटन का प्रयत्न भी समाविष्ट है, जिसकी ओर पहले किसी का ध्यान नहीं गया हो।

पहले जब लिखित ग्रंथों के रूप में ज्ञान बहुत अधिक सुलभ नहीं था तब अपने यहां और पाश्चात्य जगत् में भी प्रायः शास्त्रार्थ या वाद-प्रतिवाद के क्रम से ही अनुसंधान का काम किया जाता था। विद्यार्थियों को मौखिक तर्कों के द्वारा विद्वानों के सामने अपने तथ्य का प्रतिपादन करना पड़ता था। यूरोप में करीब १६वीं, १७वी, १८वीं शताब्दी तक कुछ अंशों में यह परम्परा चलती रही। अपने यहां यह शास्त्रार्थों का क्रम १९वीं शताब्दी तथा २०वीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल तक चलता रहा है। पंडितों के दो या तीन पक्ष आपस में विवाद करके किसी निर्णय पर पहुँचने का प्रयत्न करते थे। परन्तु उसमें यह देखा गया कि ज्ञान बहुत सीमित हो जाता था। तर्कों और तर्क-पद्धतियों में पुरानी लीक ही पीटी जाती थी। परिणाम की दृष्टि से भी इनका प्रयोग अत्यन्त सीमित और संकुचित था, क्योंकि इस प्रकार के सभी वाद-विवाद अन्त में केवल वाक्यों की शुद्धता और अशुद्धता पर जाकर समाप्त हो जाते थे। दोनों पक्षों की ओर से शास्त्रार्थ का अन्त 'अशुद्धं किं वक्तव्यम्' इसी परस्पराक्रान्त कोलाहल में होता था।

यूरोप में जब लोगों ने देखा कि इस परिपाटी से काम नहीं चलता है और जब लिखने के साथ-साथ मुद्रण-कला और वैज्ञानिक दृष्टि का विकास हुआ, तब यह आवश्यक समझा गया कि अनुसंधान लिखित प्रबन्ध के रूप में प्रस्तुत किया जाना चाहिए। उसी को 'थीसिस' कहा गया। जब विश्वविद्यालयों में अनुसंधान का कार्य आरंभ हुआ तो थीसिस या शोध-प्रबंध का महत्त्व और भी बढ़ गया। उसमें लिखित रूप में अपने पक्ष का स्पष्टीकरण और समर्थन करना पड़ता था। इस प्रकार वाद-विवाद के

क्रम ने लिखित शोध-प्रबन्ध का रूप ग्रहण किया। फिर तो यह विचार भी करना पड़ा कि शोध-प्रबन्ध का लिखित रूप कैसा हो, स्वाध्याय या विचारविनिमय द्वारा अर्जित ज्ञान का विवरण या रिपोर्ट किस रूप में प्रस्तुत की जाय। इस प्रकार का विवाद करते-करते शोध-प्रबन्ध लिखने की कला का भी विकास हुआ। इस तरह अनुसंधान और शोध-प्रबन्ध या थीसिस इन दोनों में घनिष्ठ संबंध जुड़ा।

शास्त्रार्थों और वाद-विवादों की उल्लिखित गतानुगतिकता की प्रतिक्रिया के रूप में शोध-प्रबंधों की परम्परा ने एक सिद्धान्त यह स्थापित किया कि अनुसंधान का विषय नया हो और उसका प्रतिपादन पहले से ही किसी अन्य के द्वारा नहीं किया जा चुका हो। किसी पूर्व सिद्ध बात को ही सामने रख कर पुराने तर्कों के ही द्वारा उसका प्रतिपादन और समर्थन इस सिद्धान्त के अनुसार निरर्थक माना गया। जो पहले ही सिद्ध किया जा चुका है उसको फिर क्या सिद्ध करना। 'सिद्धसाधने कुतः प्रयासः' सिद्ध करने के लिए तो कोई नया तथ्य, कोई नई सामग्री चाहिए।

अतः अनुसंधित्सु के सामने पहली और सबसे बड़ी समस्या आती है नयी सामग्री की। विद्यार्थी कौन सी सामग्री ले कि वह स्वयं अपने भीतर यह अनुभव कर सके और दूसरे को भी यह बता सके कि वह किसी ऐसे सत्य के अन्वेषण में लगा है जो पहले से स्पष्ट नहीं है। अतएव अनुसंधान के सम्बन्ध में पहला प्रश्न हमारे सामने आता है किसी नयी समस्या का। जब समस्या हमारे सामने खड़ी हो जाय तब समझना चाहिए कि हम अनुसंधान के उस द्वार पर आ पहुँचे जिसके भीतर प्रवेश पाने का हमें प्रयत्न करना है। अनुसंधान के विषय-निर्वाचन का प्रश्न इसी से सम्बन्धित है।

समस्या की उपलब्धि हो जाने के बाद अनुसंधित्सु को उसकी सीमा निर्धारित करनी पड़ती है। विषय का क्षेत्र यदि उचित रूप से सीमित नहीं किया गया, उसका दायरा यदि बहुत बिखरा हुआ और विस्तीर्ण छोड़ दिया गया तो कार्य कठिन हो जाता है और सफलता बहुत कुछ सन्दिग्ध हो जाती है। इसके विपरीत यदि सीमा का यथावत् निर्धारण कर लिया गया तो कार्य सुगम हो जाता है और अनुसंधायक अपनी समस्या को अधिक स्पष्टता के साथ देख सकता है। जैसे रोशनी का फोकस ठीक कर देने से उसका तेज बढ़ जाता है वैसे ही विषय को समुचित रूप से सीमित कर देने से उसके प्रभाव और प्रेषण बढ़ जाते हैं। उसमें एकाग्रता तथा किसी निश्चित विचार-बिन्दु की ओर केन्द्रीकरण के साधन और आधार सरलता से मिल जाते हैं। उदाहरणार्थ कालिदास के काव्य पर काम करने की अपेक्षा कालिदास के प्रबन्ध काव्य अथवा कालिदास की उपमाएँ अथवा कालिदास का प्रकृति-चित्रण—विषय के ऐसे पक्षों पर अधिक सुगमता से काम किया जा सकता है। हिन्दी गद्य की अपेक्षा हिन्दी का भारतेन्दुकालीन गद्य या द्विवेदीकालीन गद्य पर अधिक गहराई के साथ विचार किया जा सकता है। वस्तुतः किसी विषय के बहुतेरे पक्षों के लेने के बजाय केवल कुछ पक्षों को लेना अधिक वांछनीय होता है, क्योंकि वे अधिक आसानी से सँभाल में आ सकते हैं। यह स्मरण रखना चाहिए कि अनुसंधान का आदर्श है निर्वाचित विषय का अधिक से अधिक

गंभीरता, पूर्णता और सूक्ष्मता के साथ विवेचन। इस उद्देश्य की पूर्ति सीमा-निर्धारण के बिना असंभव है। परन्तु किसी विषय के सीमा-निर्धारण के अनेक तरीके हो सकते हैं। कहाँ पर किस प्रकार से सीमा-निर्धारण किया जाय, यह एक ऐसा पहलू है, जिस के लिए पर्याप्त अनुभव और विवेक की आवश्यकता होती है और जिसमें योग्य निर्देशक की सहायता से बहुत लाभ उठाया जा सकता है।

सीमा-निर्धारण के बाद अनुसंधित्सु को सामग्री के संग्रह-संचयन, संगृहीत सामग्री के निरीक्षण-परीक्षण और फिर उपलब्ध तथ्यों के संघटन के कार्य में संलग्न होना पड़ता है। तथ्यों का संघटन शोध-कार्य का बहुत महत्वपूर्ण अंग है और इसके लिए पर्याप्त प्रशिक्षण की अपेक्षा होती है। अनुसंधान की अवस्था में पहुँचने पर अनुसंधित्सु को अपने भीतर नीर-क्षीर-विवेक अथवा सूप-स्वभाव का विकास करके सार को ग्रहण करने और निस्सार या थोथे को उड़ा देने का प्रयास करना पड़ता है। फिर उसके बाद ही वह गृहीत तथ्यों को सुचारु रूप से व्यवस्थित कर सकता है।

अनुसंधान की चौथी अवस्था का सम्बन्ध अभिव्यक्ति के प्रश्न से है। अनुसंधान की उपलब्धियों को प्रस्तुत करने में सरसरी, अखबारी तरीकों, साहित्य के रागात्मक ढंगों तथा भावुकता, निराधार कल्पना और आलंकारिकता की सजावटों के माया-जाल से बहुत सावधानी के साथ अपनी रक्षा करनी पड़ती है। अपने कथन के एक-एक शब्द को, तथ्यों के प्रत्येक विवरण और विवेचन के प्रत्येक अंश को बार-बार तौलना पड़ता है। विषय और विवेचन के अनुसार अनुसंधान की अपनी एक खास भाषा, एक खास शैली होती है, जिस पर अनुसंधान की सफलता अधिक नहीं तो कम से कम पचास प्रतिशत निश्चय ही अवलंबित रहती है।

इन विविध अवस्थाओं से गुजरते हुए अनुसंधायक के मन में यह सहज उत्कंठा होती है कि वह किस प्रणाली से कार्य करे। इस विषय में तरह-तरह के सिद्धान्त हमारे सामने आते हैं। इस सम्बन्ध में अब तो कुछ पुस्तकें भी प्रकाशित हो गई हैं जिनमें नाना प्रकार की प्रणालियाँ बताई गई हैं। किन्तु सच पूछें तो अनुसंधान की कोई ऐसी स्थिर प्रणाली या प्रणालियाँ नहीं हैं जिनको सबके लिए और सभी प्रकार के विषयों के लिए प्रस्तुत किया जा सके। अनुसंधान के विषय, परिस्थिति, अनुसंधायक और उसके निर्देशक के अनुसार प्रणालियों में अगणित भेद संभव हैं। फिर भी, मोटे तौर पर अनुसंधान के दो स्वरूप बतलाए जा सकते हैं—एक तो वह जिसे प्रयोगात्मक कहा जाता है और दूसरा विशुद्ध। प्रयोगात्मक अथवा व्यावहारिक अनुसंधान का अर्थ यह है कि उसके निष्कर्ष का तुरन्त व्यावहारिक उपयोग कर सकें। जबकि विशुद्ध अनुसंधान से केवल जिज्ञासा की तृप्ति-मात्र होती है, चाहें उसका कोई व्यावहारिक प्रयोग हो सके अथवा नहीं। यहाँ यदि आप विश्लेषण करके देखें तो वस्तुतः इस वर्गीकरण का सम्बन्ध उद्देश्य विभेद है, प्रणाली अथवा कार्य पद्धति के मूलभूत तत्त्वों से नहीं। उदाहरण के लिए लंदन विश्व-विद्यालय के डा० फ्राइ के अनुसंधान को ले लीजिए। उन्होंने उच्चरित ध्वनियों के दोलनांक (ऐम्प्लिटयूट) आदि का मापन करके सिनेमा तथा व्याख्यान-भवनों के क्षेत्रफल से उनके संबंध को समझने की चेष्टा की है। टेलिफोन में कुछ व्यंजन हमें स्पष्ट

सुनाई देते हैं, कुछ नहीं और कुछ स्वर अन्य स्वरों की अपेक्षा उलझ से जाते हैं। टेलिफोन के ऐसे ध्वनिगत विकारों के कारणों पर भी डा० फ़ाइ ने विचार किया है। सिनेमा अथवा व्याख्यान-कक्ष सदृश भवनों के निर्माण में डा० फ़ाइ के अनुसंधान से लाभ उठाया जाय या टेलिफोन के सुधार में उनके निष्कर्ष उपयोगी सिद्ध हों तो उनका अनुसंधान निस्सन्देह प्रयोगात्मक तथा व्यावहारिक अनुसंधान के अन्तर्गत आ जायगा। अन्यथा उसे केवल जिज्ञासा की शान्ति के ज्ञान के साधन के रूप में विशुद्ध अनुसंधान के अन्तर्गत रखा जायगा।

इस प्रकार उपर्युक्त वर्गीकरण केवल उद्देश्यों की भिन्नता पर प्रकाश डालता है, अनुसंधान के विविध प्रकारों को प्रकट नहीं करता।

कुछ विद्वानों ने अनुसंधान के ये भेद बताये हैं :—

१—वर्णनात्मक अनुसंधान २—ऐतिहासिक अनुसंधान ३—पूरक अनुसंधान ४—दार्शनिक अनुसंधान ५—व्यावहारिक अनुसंधान ६—मनोवैज्ञानिक अनुसंधान ७—रचनात्मक अनुसंधान और ८—शैक्षणिक जिसको उन्होंने दूसरे शब्दों में पाठ्य-क्रम अनुसंधान बतलाया है।

यह वर्गीकरण भी एक दृष्टि से भ्रामक ही प्रतीत होता है, क्योंकि मूलभूत रूप में इतने भेद हों, ऐसी संभावना नहीं। ऐसे तो हम गिनाना चाहें तो दस-पाँच भेद और भी बढ़ा दे सकते हैं। मेरी राय में अनुसंधान के स्वरूप को समझने के लिए उसके तीन स्पष्ट और मूलभूत वर्ग कर लेना सुविधाजनक है। पहले भेद को हम शास्त्रीय कह सकते हैं। इसमें किसी विषय का विवेचन शास्त्रीय ढंग से किया जाता है। यहाँ 'शास्त्रीय' शब्द का अर्थ केवल भारतीय शास्त्रों तक सीमित न समझा जाय। जो निश्चित सिद्धान्त, मान्यताएँ, मानदंड तथा मूल्यांकन के आधार हमें परम्परा से मिले हैं, चाहे वह परम्परा पूर्वीय हो या पाश्चात्य, उनको सामने रख कर किसी विषय का विवेचन करना शास्त्रीय अनुसंधान है। इसे मान्यता-परक अनुसंधान भी कहा जा सकता है। दूसरे प्रकार के अनुसंधान वर्णनात्मक तथा प्रयोगात्मक अनुसंधान हैं। ये अवेक्षणों अथवा प्रयोगों पर आधारित रहते हैं और इनकी सामग्रियों को क्षेत्रीय निरीक्षण-परीक्षण के द्वारा अथवा प्रयोगशालाओं में विधिवत् जाँच लेने के बाद ही हम एक निश्चित रूप देते हैं। तीसरी कोटि में वे अनुसंधान आते हैं जिनको ऐतिहासिक अनुसंधान कहा जा सकता है। इनमें किसी विषय को लेकर उसके विकास-क्रम की खोज की जाती है और उसकी विकास परम्परा की जो कड़ियाँ अभी तक प्राप्त नहीं हो सकीं हैं उनको फिर जोड़ने की चेष्टा की जाती है।

अनुसंधान का एक अन्य महत्त्वपूर्ण पक्ष है—अनुसंधान की पात्रता। अनुसंधान की पात्रता के दो स्तर होते हैं। एक तो वह स्तर है जिसमें हम इस बात की जाँच करते हैं कि किसी विद्यार्थी में अनुसंधान की योग्यता है अथवा नहीं, और प्रारम्भ में हम उसमें योग्यता जगाने की ही कोशिश करते हैं। एम० ए० के स्तर पर हमारा यही प्रयत्न रहता है कि विद्यार्थी में अनुसंधान की योग्यता का विकास हो सके। एम० ए०

से कुछ ऊँचा स्तर है एम० लिट्० का। परन्तु उसमें भी उद्देश्य यही रहता है। एम० ए० अथवा एम० लिट्० में जो शोध प्रबन्ध रखे जाते हैं, वह इसी दृष्टि से रखे जाते हैं कि विद्यार्थियों को अनुसंधान की योग्यता प्राप्त हो सके। उसमें जो जाँच की जाती है, वह इसी दृष्टि से की जाती है कि विद्यार्थी में अनुसंधान की योग्यता का विकास हुआ अथवा नहीं। और यह योग्यता किस बात में है? यह योग्यता वस्तुत: इस बात में देखी जाती है कि वे किसी वास्तविक समस्या को अपने सामने रख सकते हैं अथवा नहीं, उसे यथावत् रूप में देख सकते हैं वा नहीं और उस समस्या के लिए सामग्री का संग्रह कर सकते हैं अथवा नहीं।

अनुसंधान की पात्रता के इस पहले स्तर में सफलता पाने के बाद उसके दूसरे स्तर की स्थिति आती है। यहाँ हम अनुसंधित्सु के भीतर वैज्ञानिक दृष्टि से विश्लेषण की योग्यता उत्पन्न करते हैं। विश्लेषण की वैज्ञानिकता अनुसंधान की आवश्यक शर्त है। यह वैज्ञानिकता क्या है, इसके बारे में विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न मत दिये हैं। यहाँ मैं इस वैज्ञानिकता की कुछ आधारभूत बातों की ओर आपका ध्यान आकृष्ट करूँगा।

विचार की सामान्य प्रणाली और वैज्ञानिक प्रणाली में पहला भेद इस बात का है कि वैज्ञानिक प्रणाली में हम ज्ञान को व्यवस्थित करके देखते हैं। बिखरा हुआ अव्यवस्थित ज्ञान वैज्ञानिक ज्ञान नहीं कहा जा सकता। वैज्ञानिक ज्ञान में एक व्यवस्था, एक सुसंबद्धता होनी चाहिए। और इसीलिए उसमें नियमन और वर्गीकरण का महत्व हो जाता है। दूसरी आवश्यक बात यह है कि वैज्ञानिक ज्ञान पर्यवेक्षण और प्रयोग के आधार पर खड़ा हो। तीसरी बात यह है कि वैज्ञानिक ढंग से विचार करते समय हमें सत्य का व्यक्तिनिष्ठ स्वरूप नहीं ग्रहण करना चाहिए। व्यक्ति-निरपेक्ष और वस्तुनिष्ठ ज्ञान को ही विज्ञान कहा जाता है। साहित्य के विद्यार्थी प्राय: व्यक्ति-सापेक्ष ज्ञान में ही आनन्द लेते हैं। हमारे भाव हमारे भीतर की अनुभूतियाँ और सुख-दुख की प्रवृत्तियाँ इस वैयक्तिक सत्य का रस देती हैं। विज्ञान के क्षेत्र में यह संभव नहीं है। किसी विषय पर, अथवा जीवन के किसी पक्ष पर व्यक्ति-सापेक्ष दृष्टि से अपनी संवेदनाओं के सहित जब हम अपनी दृष्टि डालते हैं तो उसके कई रूप हमारे सामने खड़े हो जाते हैं। जितनी दृष्टियाँ होती हैं उतने ही रंग-रूप हमारे सम्मुख आ जाते हैं। हमारी कल्पनाएँ अत्यन्त तीव्र और रागात्मक हो जाती हैं। और जितने व्यक्ति होते हैं, सत्य के उतने ही स्वरूप विषय-वस्तुओं के विविध रंग-रूपों में सामने आ जाते हैं। इसके विपरीत विज्ञान के क्षेत्र में चाहे मैं विचार करूँ, चाहे आप विचार करें, चाहे और कोई विचार करे, सब एक ही नतीजे पर पहुँचेंगे। यदि एक अनुसंधायक के लिए पानी हाइड्रोजन और ओक्सीजन इन दो तत्वों का समन्वय है तो दूसरे अनुसंधित्सु को भी उसका विश्लेषण इसी रूप में प्राप्त होगा।

विज्ञान का चौथा लक्षण यह है कि उसके निष्कर्ष कभी अन्तिम नहीं माने जाते। यदि और सामग्री और तथ्य के आधार हमें प्राप्त हों तो संभव है कि हम ज्ञान के क्षेत्र में और आगे बढ़ सकें। भविष्य के विषय में प्रगाढ़ विश्वास लेकर वैज्ञानिक अपने कार्य में प्रवृत्त होता है। अतीत के प्रति अन्ध श्रद्धा विज्ञान को कभी स्वीकार नहीं है। वह

पूर्वार्जित ज्ञान का परीक्षण और संचयन करते हुए उसके अग्रिम विकास के लिए सतत प्रयत्नशील रहता है। इन्हीं कुछ आधारभूत बातों से वैज्ञानिक दृष्टि की रचना होती है और इनके आधार पर प्राप्त निष्कर्ष निश्चय ही प्रामाणिक होते हैं।

प्रामाणिकता के लिए अनुसंधान में हम कभी-कभी ऐसी प्रवृत्तियों में भी फँस जाते हैं जो वैज्ञानिक दृष्टि से अनुचित कही जायेंगी। स्वतः असिद्ध या अप्रामाणिक उद्धारणों का अवलम्बन इसी बात का उदाहरण है। कुछ विद्यार्थी दुनियाँ-भर के उद्धरण बटोर लेते हैं और कुछ ऐसे लोगों के उद्धरण भी देने लगते हैं जिनका ज्ञान बहुत कम लोगों को होगा। ऐसे उद्धरण-प्रिय अनुसंधित्सु किसी भी ऐसी कृति को नहीं छोड़ते जो कहीं, किसी प्रकार उन्हें दिख जाय और उसका तनिक भी संबंध उनके कार्य से हो। परन्तु अप्रामाणिक पुस्तकों और लेखकों का उल्लेख प्रामाणिकता में योग नहीं देता। यों आवश्यकतानुसार उद्धरण देना बुरा नहीं है। उद्धरण बीच में भी दिए जाते हैं, निबन्ध के नीचे पाद-टिप्पणियों में भी दिये जाते हैं और निबन्ध के अन्त में भी दिये जाते हैं। परन्तु जो कथन अभी स्वतः साध्य हों अथवा जो लेखक अभी स्वतः प्रमाण रूप में गृहीत नहीं हुए हों उनको प्रमाण के रूप में उद्धृत करके कोई विशेष प्रभाव नहीं उत्पन्न किया जा सकता। प्रमाण देने में उद्देश्य होता है कि हमने जो अनुसंधान किया है और जिस बात की खोज की है वह दूसरे लोगों के द्वारा भी पुष्ट होती है, इसी दृष्टि से प्रमाण दिये जा सकते हैं, यह दिखाने के लिए नहीं कि हमने क्या-क्या पढ़ा है।

वस्तुतः शोध-प्रबन्धों में देखा यह जाता है कि विद्यार्थी ने स्वयं क्या काम किया है। यदि उसके निबन्ध का संबंध प्रयोगशाला में किए हुए कार्य से है तो उसकी सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि उसके निष्कर्ष उसके स्वयंकृत प्रयोगों पर कहाँ तक निर्भर है। और यदि उसका निबन्ध तथ्यपरक है तो इस बात का विचार किया जाता है कि उसमें अनुसंधित्सु की अपनी स्वतंत्र देन क्या है।

न्यायशास्त्र में अनुमान को भी प्रमाण का एक साधन माना गया है, परन्तु अनुमान के विषय में और सावधानी से काम लेना पड़ता है। अनुमान की परिपाटी में जाने पर उसके साधनों और आधारों के ठोसपन की जाँच कर लेनी चाहिए, नहीं तो अच्छा है कि कोरे अनुमान के द्वारा हम किसी सत्य का पोषण न करें, प्रयोग और अवेक्षण इन्हीं दोनों को अपना प्रधान साधन बनाएँ। अवेक्षण की अनेक पद्धतियाँ हैं। इनमें तुलनात्मक पद्धति भी एक उपयोगी पद्धति है। तथ्यों का संकलन, उनका वर्गीकरण और इस वर्गीकरण के क्रम में बीच-बीच में जो तुलनीय हो उनकी आवश्यक तुलनाएँ : ये तुलनात्मक पद्धति की प्रमुख विशेषताएँ हैं।

अनुसंधान के विषय में एक और प्रश्न हमारे सामने खड़ा होता है पूर्णता और अपूर्णता का। मैं कह चुका हूँ कि अनुसंधान की वैज्ञानिक दृष्टि का ही यह तकाजा है कि अनुसंधायक इस बात में कट्टरता न प्रदर्शित करे कि जो कुछ वह कह रहा है बस वही अन्तिम और परिपूर्ण सत्य है। वह बराबर इस बात का विश्वास करे कि फिर आगे भी उस विषय को बढ़ाया जा सकता है। और अधिक विचार, अधिक साधना करके वह स्वयं भी उपलब्ध ज्ञान की परिधि को बढ़ा सकता है तथा दूसरे भी उसके विषय के कई पहलुओं को लेकर उसे

आगे बढ़ा सकते हैं। इसलिए अनुसंधान की पूर्णता केवल इसी अर्थ में समझी जा सकती है कि प्रस्तुत अनुसंधान का स्तर ऊँचा हो और स्तर की ऊँचाई की नाप का एकमात्र पैमाना यह है कि कोई अनुसंधायक अपनी चेष्टाओं द्वारा ज्ञान की सीमा को कहाँ तक बढ़ा सका और फिर उसमें ऐसे क्या सूत्र उसने जोड़े जिनको लेकर वह स्वयं अथवा बाद के समय दूसरे सहकर्मी उसके ज्ञान के विविध पक्षों को आगे बढ़ा सकें। अधिकांश विश्वविद्यालयों में शोध-प्रबन्ध की जाँच के जो मानदंड रखे गये हैं, उनका सार यही है कि कोई शोध-प्रबन्ध अपने विषय के ज्ञान की दिशा में और विशिष्ट योगदान करता है या नहीं, ज्ञान को कुछ भी आगे बढ़ाता है या नहीं। और यह ज्ञान कैसे बढ़ता है, इसकी जाँच दो बातों से करनी पड़ती है। या तो नये तथ्यों का अन्वेषण किया गया हो या अनुसंधायक ने अपनी स्वतन्त्र समालोचना-शक्ति का परिचय दिया हो। अनुसंधान की सफलता का एक आधार नये तथ्य की उपलब्धि के बजाय किसी ज्ञात तथ्य की अभिनव व्याख्या को भी प्राय: स्वीकार किया जाता है। अनुसंधित्सु की समालोचना-शक्ति और विवेक-बुद्धि के ये दो मुख्य प्रमाण हैं। इनमें से कम से कम एक का परिचय उसकी कृति में अवश्य होना चाहिए। इसके अतिरिक्त प्रबन्ध की रूप-सज्जा, उसकी साहित्यिक परिवेश और उसकी प्रस्तुति की शैली भी एक अत्यन्त आवश्यक अंग है।

अनुसंधान में जहाँ तक संभव हो, कटुता से बचने का प्रयत्न करना चाहिए। यह कटुता तथ्य-सम्बन्धी भी हो सकती है और केवल अभिव्यक्ति-संबंधी भी। इन दोनों प्रकार की कटुताओं से बचकर संयत भाषा और संतुलित विचारों को ही शोध-प्रबन्ध में स्थान मिलना चाहिये। कहा जा सकता है कि अनुसंधायक तो सत्य का अन्वेषण करते हैं, उन्हें इस बात की क्या परवाह कि उनकी बात किसी अन्य को प्रिय लगती है या अप्रिय। शोध-ग्रंथों को प्रस्तुत करने में भी यदि यही देखा जाय कि लेखक की बात लोगों को प्रिय लगे तब तो उपन्यास, कविता तथा शोध-प्रबन्ध में कोई भेद ही नहीं रहा। मैं मानता हूँ कि शोधकर्त्ता लोकप्रियता के लिये लालायित नहीं रहता, वह निर्विकल्प रूप से तथ्य का उद्घाटन करता है। किन्तु इसका अर्थ यह भी नहीं होना चाहिए कि लोगों को व्यर्थ ही अपने विरुद्ध खड़ा कर लिया जाय और अपने से भिन्न मत वालों को अपना शत्रु बना लिया जाय। हमारे यहाँ का आदर्श तो यह है कि सत्य भी कहे और प्रिय भी कहे। सत्य और प्रिय में विरोध नहीं होना चाहिए। जहाँ विरोध हो, वहाँ सँभल जाना चाहिए, वरन् यहाँ तक कहा गया है कि वहाँ मौन हो जाना चाहिए। यह ठीक है कि कभी-कभी अप्रिय सत्य का भी उद्घाटन करना पड़ता है। शोध-प्रबन्ध के लेखक को भी उससे डरना नहीं चाहिए। परन्तु ऐसी स्थिति में उससे कम से कम इस बात का तकाजा किया जा सकता है कि वह जिस अप्रिय सत्य का उद्घाटन कर रहा है वह पुष्ट आधारों पर खड़ा हो और उसकी अभिव्यक्ति किसी अंश में भी अशिष्ट नहीं हो। प्रामाणिकता और दृढ़ता का अर्थ अशिष्टता या दुराग्रह कदापि नहीं हो सकता।

एक विषय और है जिसकी मीमांसा अनुसंधान में की जानी चाहिए। यह विषय क्षेत्रीय कार्य से सम्बद्ध है। अनुसंधान के लिए प्राय: क्षेत्रीय कार्य का भी आधार ग्रहण करना पड़ता है। जैसे समाजविज्ञान, भाषाविज्ञान अथवा लोक साहित्य में क्षेत्रीय कार्य करना पड़ता

है। क्षेत्रीय कार्य के लिए भी कुछ आवश्यकताएँ हैं। इसमें देखना पड़ता है कि कार्यकर्ता में क्षेत्रीय कार्य करने के लिए क्या योग्यता है। योग्यता देख चुकने पर यह भी विचार करना पड़ता है कि वह क्या अधिकार लेकर जायगा। विद्यार्थी होने के अतिरिक्त क्षेत्रीय कार्यकर्ता के पास कुछ अधिकार होने चाहिए, ये अधिकार चाहे किसी संस्था की ओर से प्राप्त हों चाहे सरकार की ओर से। इसके अतिरिक्त क्षेत्रीय कार्य में द्रव्य की भी आवश्यकता पड़ती है। बिना द्रव्य के क्षेत्रीय कार्य करना कठिन होता है। पैसा चाहे अपना हो चाहे सरकार का, चाहे किसी संस्था का, उसकी जरूरत तो पड़ती ही है। भाषा, लोकसाहित्य, अर्थशास्त्र, अथवा समाजशास्त्र-सम्बन्धी विषयों पर अनुसंधान करनेवाले क्षेत्रीय कार्यकर्ता को जनता का समय और सहयोग लेना पड़ता है। इस कार्य में सदा अनुनय-विनय करने अथवा परोपकार की प्रेरणा देने से ही काम नहीं चलता। क्षेत्रीय कार्यकर्ता को जिन लोगों से सम्बन्ध स्थापित करना पड़ता है उन लोगों के समय का भी कुछ मोल होता है। वे काम-काज में लगे हुए होते हैं। संभव है, अपना समय यों ही नष्ट करना उन्हें नहीं रुचे। एकाध बार कोई एक-दो घण्टे दे सकता है, पर रोज साथ बैठने से और दुनियाँ भर की बातें पूछने से प्रत्येक व्यक्ति तंग आ जायगा। जिसने भी क्षेत्रीय कार्यकर्त्ता को एक दिन का समय दे दिया, उसकी यदि वह कोई बैठा-निठल्ला नहीं हुआ तो, उस दिन की रोजी गई। अतः उसके लिए पैसे का प्रबन्ध करना आवश्यक हो जाता है।

क्षेत्रीय कार्य की एक दूसरी समस्या है—सहकारियों और केन्द्रों का चुनाव। सहकारी उत्साही, योग्य तथा कई होने चाहिए। केन्द्र चुनने में गड़बड़ी हो गई तो काम ठिकाने से आगे नहीं बढ़ता। कहाँ-कहाँ से किन-किन लोगों से सामग्री संगृहीत की जाय, इस विषय में भी विचार करना पड़ता है। कैसे लोगों का साक्ष्य लें, यह विषय के अनुसार निश्चित करना पड़ता है। विषय के अनुसार साक्ष्य की प्रणालियाँ भी बदल जाती हैं। इसके बाद लोगों से पूछने के लिए प्रश्नावली तैयार करनी होती है। इन्हीं प्रश्नों पर क्षेत्रीय कार्य की सफलता निर्भर है। लेकिन इन प्रश्नों का निश्चित सिद्धान्त नहीं बताया जा सकता। प्रश्नावली का प्रारूप इस बात पर निर्भर करेगा कि किस प्रयोजन और उद्देश्य से हम अनुसंधान कर रहे हैं। यदि अभीष्ट उद्देश्य के अनुसार प्रश्नावली तैयार हुई तब तो सफलता निश्चित है, अन्यथा यदि प्रश्नावली उद्देश्य से असम्बद्ध और बिखरी हुई तब प्रयास निष्फल जाता है। इसलिए प्रश्नावली तैयार करने में बहुत सोचना-विचारना पड़ता है।

वस्तुतः अनुसंधान के लिए जो क्षेत्रीय कार्य किया जाता है उसकी दीक्षा किसी अच्छे गुरु से ले लेनी चाहिए। जिसको स्वयं क्षेत्रीय कार्य का कुछ अनुभव हो उसके साथ-साथ काम करके हम इस दिशा में सफलता प्राप्त कर सकते हैं। पहले के क्षेत्रीय कार्यों के प्रकाशित प्रतिवेदनों के अध्ययन से हम अपने अनुभव को बढ़ा सकते हैं।

सच पूछिए तो अनुसंधान का विषय ही ऐसा है जिसमें गुरु-शिष्य का संबंध बहुत ही आवश्यक हो जाता है। इसीलिए विश्वविद्यालयों में शोध-प्रबन्ध के लिए एक निर्देशक की आवश्यकता नियमतः स्थिर कर दी गई है। परन्तु निर्देशक और अनुसंधित्सु यदि एक स्थान में न हों तो उनमें सम्पर्क नहीं रह पाता। यह कहने में अतिशयोक्ति नहीं है कि

कुछ परीक्षा-परक विश्वविद्यालयों में उनकी भेंट कभी-कभी तो केवल दो ही बार होती है— पहली निर्देशक की स्वीकृति के समय-निर्देशक के हस्ताक्षर कराने के लिए और दूसरी शोध-प्रबन्ध तैयार हो जाने के बाद उसे प्रस्तुत करने के लिए। फिर भी अनुसंधान तो होते ही रहते हैं, उपाधियाँ भी मिला करती हैं, लेकिन ऐसी स्थिति में अनुसंधान का स्तर क्या होगा, इसकी कल्पना सहज ही की जा सकती है। अपने हिन्दी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ में हमने इसीलिए निर्देशकों और अनुसंधित्सुओं के बीच निरन्तर सम्पर्क की व्यवस्था रखी है। वास्तव में अनुसंधान का स्तर तभी ऊपर उठ सकता है जब गुरु-शिष्य दोनों मिलकर किसी सत्य के अन्वेषण में लगें। स्वाध्याय और पारस्परिक विचार-विनिमय अनुसंधान के नितान्त आवश्यक साधन हैं।

डा० बाबूराम सक्सेना

वैध भाषा और वास्तविक भाषा*

आज के भाषण का विषय 'स्पीच फ़ार्मल एण्ड रीयल' (Speech formal and Real) है जिसका अनुवाद अभी संचालक जी ने बताया 'औपचारिक भाषा और वास्तविक भाषा' अथवा 'वैध भाषा और वास्तविक भाषा'। यह इसका शीर्षक हो सकता है। वैध भाषा क्या है? विधि क्या है भाषा के सम्बन्ध में? भाषा बोली जाती है, लिखी बाद को जाती है। लिखना गौण है, बोलना प्रमुख है। भाषा का व्याकरण बाद को बनता है, पहले भाषा बोली जाती है। व्याकरण अधिकतर तब बनता है जब भाषा अन्य भाषाओं के सम्पर्क में आती है अथवा भाषा में भेद उत्पन्न हो जाता है। अगर भाषा का स्वरूप सब बोलने वालों में एक ही रहे अथवा सब बोलने वाले एक ही रूप से भाषा को बोलें, कोई भेद नहीं हो तो भाषा के व्याकरण की कोई आवश्यकता नहीं है। पाणिनि ने जब अष्टाध्यायी बनायी होगी तो उस समय भाषा-भेद उत्पन्न हो गया होगा। नहीं तो तरह तरह के रूप वैकल्पिक रूप जो हमें मिलते हैं, वे अष्टाध्यायी अथवा उसके भाष्यों में नहीं मिलते। क्यों भिन्न हो गये थे, यह दूसरा कारण है। भाषा क्यों परिवर्तनशील है, यह एक दूसरा ही विषय है। लेकिन इतना मानकर ही चलना पड़ेगा कि भाषा का व्याकरण तब बनता है जब भाषा बहुत दिनों तक चल लेती है और उसमें किसी न किसी कारण से भेद उत्पन्न हो जाता है। तब वैध भाषा क्या है? क्या वैध भाषा वह है जो व्याकरण के पन्नों में दर्ज रहती है। क्या कामता प्रसाद गुरु ने जो भाषा बता दी वही ठीक हिन्दी भाषा अथवा खड़ी बोली है। क्या यह बात है? अथवा वह खड़ी बोली है जो मुजफ्फर नगर बिजनौर और मेरठ के व्यक्ति बोलते हैं। यह हमारे सोचने का प्रश्न है। कौन सी है? कामताप्रसाद गुरु ने अथवा अन्य किसी प्रसिद्ध व्याकरणकार ने जो भाषा लिख दी क्या वह वैध भाषा है? अथवा जो उस भाषा को मातृभाषा के रूप में बोलने वाले लोग हैं उनकी भाषा वैध भाषा है? यह समस्या आपके सामने है। इंगलैंड में विशेष कर लन्दन में अंग्रेजी परिनिष्ठित अंग्रेजी, 'स्टैण्डर्ड इंगलिश'—वह समझी जाती है जो कि राजदरबार के लोग बोलते हैं। 'किंग्ज़ इंगलिश' या अब कहना चाहिए 'क्वींज़ इंगलिश'। महारानी की जो भाषा है अथवा जो महाराज की भाषा थी, वह स्टैण्डर्ड इंगलिश, वह परिनिष्ठित अंग्रेजी समझी जाती है। तो क्या हमारे देश में जो भाषा पुराने जमाने में राज-

---

* दिनांक १३ नवम्बर १४ को विद्यापीठ द्वारा आयोजित डा० बाबूराम सक्सेना का विशिष्ट व्याख्यान।

दरबारों में चलती थी वह भाषा परिनिष्ठित थी, वह वैध थी ? इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। यह हो सकता है कि मुगल जमाने में यहाँ राजदरबारों में जो भाषा बोली जाती हो वह किसी हद तक, किसी सीमा तक, परिनिष्ठित रही हो; लेकिन हमारे यहाँ राजदरबारों को इतना महत्व नहीं दिया गया। हमारे यहाँ तो गुरुकुलों में और मुनियों और ऋषियों में अर्थात् उन लोगों के परिवारों में, उनके गोत्रों में जो भाषा बोली जाती थी, वही भाषा परिनिष्ठित मानी जाती थी और उन्हीं ने एक स्टैन्डर्ड, एक परिनिष्ठित रूप, भाषा को दिया था। इसका प्रमाण मैं एक बात से दे सकता हूँ और वह है कि संस्कृत में लिंग जैसे हिन्दी में कठिन है वैसे संस्कृत में भी कठिन हैं; और बहुत से नियम देकर व्याकरण अंत में कह देता है कि "लिंग शिष्टप्रयोगात्" अर्थात् लिंग का निर्धारिण शिष्ट जनों की भाषा से, शिष्ट जनों के प्रयोग से होना चाहिये। अगर शिष्टजन शब्दों को पुंलिग में बोलते हैं तो उसको समझ लेना चाहिए कि वह पुंलिग शब्द है। तो शब्दों के प्रयोग से भाषा का परिनिष्ठित रूप निर्धारित होता है।

अब यह परिनिष्ठित रूप क्या हमेशा तर्कसंगत है, 'लॉजिकल' है; अथवा बुद्धि संगत है, रेशनल है ? ये सब प्रश्न हमारे सामने उपस्थित हैं। इसके विषय में तुरन्त ही कहना पड़ेगा कि भाषा का परिनिष्ठित रूप न तर्कसंगत समझना चाहिए और न बुद्धि-संगत समझना चाहिए। 'इज़ लैंग्यूएज रेशनल ऑर इज़ लैंग्यूएज लॉजिकल'? भाषा न तो रेशनल है, न लॉजिकल है। कैसे ! अब आप देखिए। हम हिन्दी में दो लिंगों का व्यवहार करते हैं, पुंलिग का और स्त्रीलिंग का। और यहाँ तक उसका व्यवहार करते हैं कि जो अचेतन पदार्थ हैं उनके द्योतक शब्दों में भी हम पुंलिग और स्त्रीलिंग लगा देते हैं। 'सड़क चलती है'। 'रास्ता चलता है'। अब यहाँ पर 'सड़क' क्यों 'चलती है' स्त्रीलिंग है, और 'रास्ता' क्यों 'चलता' है, पुंलिग है ? इसका कोई तर्क समझ में नहीं आता। क्या कारण है ! आप कहेंगे कि यह तो हिन्दी भाषा है। अपभ्रंशों में इसकी गिनती है। हमारी जो असली भाषा थी, जो वेदों के समय से चली आ रही है, अथवा जिसको परमेश्वर ने बनाया है, उसमें तो वह तर्क संगत है। उसकी ओर भी जरा ध्यान दीजिए। उसमें आपके पास शब्द हैं, कुछ पुंलिग में, कुछ स्त्रीलिंग में और कुछ नपुंसक लिंग में। लेकिन ऐसा नहीं है कि जितने पुरुष के द्योतक शब्द हों वे सब पुंलिग में रखे गए हों, और स्त्री वाचक सारे शब्द स्त्रीलिंग में रखे गए हों, और अचेतन पदार्थों के वाचक जितने शब्द हों वे सब नपुंसकलिंग में रखे गए हों। ऐसा नहीं है, अगर ऐसा होता तो हम कहते कि तर्क-संगत बात है। ऐसा नहीं; आप देखिए कि स्त्री वाचक तीन शब्द मैं आपके सम्मुख उपस्थित करता हूँ। 'स्त्री' शब्द स्वयं, 'दारा' शब्द और कलत्र शब्द। अब 'स्त्री' शब्द स्त्रीलिंग में है, लेकिन 'दारा' शब्द जो है स्त्री वाचक ('दारा' माने स्त्री) वह पुंलिग में है और कलत्रम् शब्द नपुंसकलिंग में। अब स्त्रीवाचक तीन शब्द हैं, एक पुंलिग में, एक स्त्रीलिंग में और एक नपुंसकलिंग में। तीन अलग अलग शब्द एक ही अर्थ के द्योतक, लेकिन तीन भिन्न-भिन्न लिंगों में हैं, क्या इसमें कोई तर्क है ? अगर तर्क ढूँढ़ने लगेंगे तो हम लोग संस्कृत वाले कुछ न कुछ तर्क बता देंगे, ऐसा नहीं है कि हम लोग बिल्कुल तर्क-हीन हैं। तर्क बता देना कोई मुश्किल नहीं है लेकिन तर्क भी दो

तरह के होते हैं। एक तर्क केवल बात के लिए होते हैं, एक तर्क वह जो वास्तविक हैं और अन्दर हृदय में प्रविष्ट कर जायें। तो क्या कोई ऐसा तर्क है? आप सोचेंगे कि जो उदाहरण मैंने दिया है 'स्त्री' है, 'महिला' है, 'रमणी' है। क्योंकि स्त्रीलिंग में बहुत से शब्द हैं, लेकिन एक पुंलिंग में भी शब्द रख दिया जाय इसलिए कि घर का इन्तजाम स्त्री के जुम्मे होता है, वहाँ वह मालिक होती है, इसलिए 'दारा' शब्द रख दिया। अथवा कुछ लोग कहते हैं कि 'दारा' शब्द का अर्थ है "दारयन्ति भ्रा तृन् इति दारा:" क्योंकि भाई भाई में झगड़ा करा देती है औरतें इसलिए दारा शब्द रख दिया, यह भी कहते हैं। यह कारण हो या घर का प्रबन्ध मैं तो यही समझता हूँ कि घर का प्रबन्ध करती थी स्त्री और उसको पूर्ण स्वतन्त्रता थी; घर का जैसा चाहे प्रबन्ध करे, उसमें पुरुष दखल नहीं देता था इसलिए वहाँ पर उसका पुरुष का स्थान है इसलिए 'दारा'। फिर 'कलत्रम्' शब्द नपुंसकलिंग में क्यों रखा। इसके विषय में कहते हैं कि आर्य सभ्यता में यह चलन था कि जैसे घर से और सामान दिया जाता है, रथ दिये गये, घोड़े दिए गये, गाय दी गई, इसी तरह लड़की भी दी जाती थी, यह था कन्यादान, जैसे और सामान दिया जाता था वैसे कन्या भी दे दी जाती थी। तो सामान की तरह कलत्र शब्द भी अचेतन पदार्थ की तरह कलत्र शब्द भी नपुंसकलिंग में रख दिया; मान लिया। लेकिन यह तर्क जो मैंने दिया आपके सामने वह बुद्धि वाला तर्क है, हृदय वाला तर्क नहीं है। अन्दर नहीं घुसता।

इसी तरह से जल-वाचक शब्द हमारे पास हैं। अब जल वाचक शब्दों में बहुत से तो नपुसंकलिंग के हैं। अचेतन पदार्थ है, होना भी चाहिए। लेकिन एक शब्द स्त्रीलिंग में है जो संध्या करते समय हम प्रातः और सायं 'आपोभवन्तु पीतये' कहते हैं। 'आप: स्त्रीलिंग' में है। अब यह जल-वाचक शब्द स्त्रीलिंग में क्यों है? अचेतन पदार्थ अचेतन लिंग में होना चाहिए था। अत: इसका भी लोग इस प्रकार समाधान कर देते हैं कि थके माँदे हम आते हैं जल हमको शान्ति देता है; स्त्री का काम है शान्ति देना, इसलिये स्त्री वाचक शब्द है। लेकिन यह समाधान भी वही बुद्धि का समाधान है, हृदय का समाधान नहीं। अन्दर नहीं घुसता। ऐसे ही संस्कृत में एक ही अर्थ के और भी शब्द हैं। जैसे देह वाचक शब्द 'शरीर' है नपुंसकलिंग में, 'देह' है पुंलिग में, 'तनु' है स्त्रीलिंग में। तीन शब्द हैं भिन्न भिन्न लिंगों में है। अचेतन पदार्थों के द्योतक हैं। अथवा तट शब्द हैं पुंलिग में 'तट:', 'तटम्' नपुंसक में और 'तटीय' स्त्री में। तीनों लिंगों में अलग अलग शब्द हैं।

इस सब से ऐसा लगता है कि पुरानी से पुरानी बुद्धि और तर्क पर निर्धारित भाषा संस्कृत—और इससे ज्यादा बुद्धि पर निर्धारित भाषा की हम कल्पना नहीं करते—उस भाषा में भी जो मूल है वह न तर्क है, न बुद्धि है, वह है व्यवहार। व्यवहार में जैसा बोलते हैं उसी हिसाब से भाषा बनती है। उसको व्यवहार कह लीजिए आप, उसको उपचार कह लीजिए आप, उसको कन्वेन्शन कह लीजिए आप तो वह भाषा जो व्यवहार में आती है उसको 'कन्वेन्शनल' कहते हैं। कन्वेन्शन कैसे बनता है मैंने आपसे कहा कन्वेन्शन आदान प्रदान से बनता है और उस सम्प्रदाय में भी जो शिष्ट समाज है उसका बोलबाला है। उसका जो कन्वेन्शन है, उसका जो बोलना है, उसका जो भाषण है, उसका जो लहजा

है, उसका जो स्वराघात है, बलाघात है, ऐक्सेंट है, टोन है, वही प्रामाणिक माना जाता है। उसी को व्याकरणकार अपनी व्याकरण में लिख देता है। यह नहीं है कि व्याकरणकार ने, (पाणिनि मुनि ने) अपने आप भाषा का ढांचा बनाया हो। ऐसा समझना गलती होगी। पाणिनि मुनि ने भाषा का जो ढाँचा अपनी अष्टाध्यायी में दिया वह तत्कालीन शिष्ट समाज की भाषा थी। ऋग् वेद की भाषा (छान्दसी) से भिन्न हो गई थी और छाँन्दस भाषा के लिए उन्होंने बहुत से सूत्र अलग दिए। लेकिन जो भाषा थी अर्थात् लौकिक भाषा, वह बहुत भिन्न जा पड़ी थी। वैदिक भाषा में और लौकिकी में भी भिन्न भिन्न स्तर के शब्द आ गये थे। पतंजलि ने अपने महाभाष्य में 'गो' शब्द का उल्लेख करते हुए बहुत से शब्द ऐसे गिनाये जो गाय के अर्थ में प्रयोग में आते हैं। उन्होंने कहा—'के के अपभ्रंश:' यह अपभ्रंश शब्द हैं—कौन ? एक शब्द उन्होंने कहा परिनिष्ठित है, स्टैंडर्ड है, और बाकी को उन्होंने कहा कि ये अपभ्रंश हैं। कोई भी व्याकरणकार स्टैंडर्ड भाषा को पकड़ लेता है उसका यह एक स्वरूप सामने आ जाता है। जिस तरह से कि एक इंजीनियर के सामने इमारत का स्वरूप आ जाता है, उसी तरह से उसके सामने उसके दिव्यचक्षुओं के सामने भाषा जो विशिष्ट समाज द्वारा बोली जाती है उसका यह एक रूप उसके सामने आ जाता है। उस रूप को वह अंकित कर देता है, और जितना ही सुव्यवस्थित ढंग से वह उस रूप को अंकित करता है उसी के अनुसार उसके व्याकरण के विषय में कहा जाता है, कि यह परिपूर्ण व्याकरण है, सम्पूर्ण व्याकरण है; और जितना ही कम कर पाते हैं, उतना ही कहते हैं कि अपूर्ण व्याकरण है। यह व्याकरण अच्छा नहीं है। संस्कृत के विषय में हम कह सकते हैं कि संस्कृत की लोक भाषा का जो व्याकरण पाणिनि मुनि ने बनाया वह एक परिपूर्ण सम्पूर्ण व्याकरण है। वह तत्कालीन संस्कृत भाषा के व्यवहार रूप से शिष्ट समाज में प्रचलित व्यावहारिक रूप को प्रदर्शित करता है। उस रूप में अंतर पड़ता गया और वह अंतर हमको कात्यायन के वार्तिक और पतंजलि के महाभाष्य में मिलता है। आगे भी अंतर पड़ता गया, लेकिन आगे जो अंतर पड़ा उसको उतना स्थान नहीं मिला जितना कि इन दो मुनियों को व्याकरण में स्थान मिला है। इस व्यावहारिक रूप में भी आप देखेंगे कि तर्क नहीं है और बुद्धि की बहुत गुंजाइश नहीं है। पतंजलि ने उदाहरण दिया है "हस्तं कुरु पादं कुरु" हाथ करो पैर करो। यह अनुवाद हुआ हिन्दी में। मालिश करते समय जो मालिक मालिश करा रहा है वह मालिश करने वाले से कहता है 'हस्तंकुरु', उसके थोड़ी देर बाद कहता है 'पादंकुरु' मालिश करवा रहे हैं। पैर दबवा रहे हैं, शरीर दबवा रहे हैं, थके हैं, तो अगर आज हम कहें अपने नौकर से कि हाथ करो, पैर करो, वह क्या समझ पायेगा। हम आज कहेंगे 'हाथ दबाओ'। 'अब हाथ लो', 'अब पैर लो'। लेकिन उस समय कहते थे 'हस्तंकुरु पादंकुरु'। अब यह व्यवहार की बात है। कुछ धातुएँ ऐसी हैं जो बहुत प्रयोग में आती हैं और बड़ा बवंडर खड़ा करती हैं।

अब हिन्दी के उदाहरण में आपके सामने देता हूँ, जैसे 'बनाना' है। अब आपके सामने रूप आता है 'रोटी बनाना'। 'रोटी बनाना' यह क्रिया है जिसका कि विश्लेषण आप करें तो वह विश्लेषण एक दूसरी जगह जो 'बनाना' इस्तेमाल होगा उससे बहुत भिन्न है। 'रोटी बनाने' में आप आटा सानते हैं, माड़ते हैं, माड़कर उसको हाथ से पोते

हैं या पटे बेलन से बेलते हैं फिर उसको तवे पर रखते हैं तवे पर रखकर अंगारों पर सेकते हैं, और आपकी रोटी तैयार हो जाती है। तो आप कह सकते हैं कि 'रोटी बनाना'। शब्द का यह अर्थ है। अब इसकी तुलना आप कीजिए 'जूते बनाने' से। मोची लोग कहते हैं 'जूते बनाना'। वही क्रिया 'बनाना'। अब जूता 'बनाता' है मोची और घर में मालिकन रसोई बनाती या रोटी बनाती। क्या दोनों एक तरह के काम हैं ? क्या वही क्रिया होती है उसमें ? क्या आटा सानता है मोची, क्या तवे पर रखता है या अंगारों पर रखता है अपना चमड़ा ? नहीं रखता, पर 'बनाना' शब्द हमने वहाँ इस्तेमाल किया। इसी तरह से 'काम बनाना' है। 'रोटी बनाना' 'जूते बनाना', उसमें तो एक स्पष्ट चीज हमारे सामने होती है, मेटीरियल है, कुछ सामग्री है उसके द्वारा हमने एक क्रिया सम्पन्न की, एक काम सम्पादित किया, अब काम बनाना में कोई कांक्रीट चीज, कोई भौतिक पदार्थ, हमारे सामने नहीं है; और हम कहते हैं 'उसने अपना काम बना लिया' अर्थात् उसने अपना प्रयोजन सिद्ध कर लिया। यह अभिप्राय है काम बनाने का। अब उसमें कोई चीज हमारे सामने नहीं है, केवल क्रिया है हमारे सामने। आप कह सकते हैं कि यहाँ 'बनाना' शब्द का अर्थ यह है कि प्रयोजन को सिद्ध करना या अपनी क्रिया को सम्पूर्ण करना। मान लिया। मोची ने जूता बनाकर ऐसा कर लिया। वह पहनने लायक हो गया और देवी जी ने रोटी ऐसी बनाली कि खाने लायक हो गई। आपको एक हजार रुपये चाहिये और आपने किसी को बनाकर एक हजार रुपया ले लिया और अपना काम बना लिया। आपका काम सिद्ध हो गया। यह 'बनाना' शब्द का अर्थ है। इधर तो मैं नहीं कह सकता लेकिन पूर्वी उत्तर प्रदेश में जब हजामत करते हैं, तब हम कहते हैं 'बाल बनवा' रहे हैं। तो कटवाने के स्थान पर कहते हैं बाल बनवा रहे हैं। अब यहाँ क्या कोई कार्य सिद्ध करते हैं ? वहाँ पर हम रोटी बना रहे थे, जूता बना रहे थे तो वहाँ पर हमने एक चीज सिद्ध की, कुछ सामग्री हमको मिली। एक चीज बनाई, सम्पूर्ण की, सिद्ध की, सम्पादित की। अब यहाँ पर हम बाल काट कर अलग कर फेंक रहे हैं, चाहे छुरे से हो चाहे कैंची से; उनको बना तो नहीं रहे हैं, उनको सम्पादित नहीं कर रहे हैं। सम्पादित करना इतना है कि अपनी शकल बेहतर बना रहे हैं। हजामत करके या बाल बनवा कर अपनी शकल दुरुस्त कर रहे हैं। हम कहते हैं 'हम बाल बनवा', रहे हैं अब देखिए यहाँ पर 'बनवाने' शब्द का अर्थ, 'बनाना' क्रिया का अर्थ क्या है ! हम नहीं कह सकते ? यही कहेंगे कि मुहावरा ऐसा है। और मुहावरा क्या है ? केवल शिष्ट समाज द्वारा प्रयोग, और कुछ नहीं। अब हमें बताइये, समझाने की कोशिश कीजिए या स्वयं समझने की कोशिश कीजिए कि क्या यहाँ पर कोई तर्क है, कोई बुद्धि है ? केवल एक कनवेन्शन है शिष्ट समाज का।

इसी तरह से मैं आपको दो एक और उदाहरण देता हूँ। हिन्दी में हम लोग लिंग के विषय में बहुत सावधान रहते हैं। और जरा किसी ने गलती की बस उछल कर उस गलती को पकड़ लेते हैं। आजकल जब हमारी हिन्दी भाषा सार्वजनिक हो रही है, हमारे बंगाली भाई खासतौर से इसके शिकार होते हैं क्योंकि उनकी बोलचाल में लिंग का बड़ा गड़बड़ होता है, वह उनकी भाषा में ऐसा

है नहीं कि अचेतन पदार्थ स्त्रीलिंग हो या पुंलिंग। लेकिन क्या हम स्वयं सावधान रहते हैं। इसके विषय में क्या हम बोलते समय बिल्कुल वैशिष्ट्य से अपनी संज्ञाओं को लिंग देते हैं। मैं आप के सामने उदाहरण रखता हूँ 'कौआ उड़ता है', 'कौआ आया'। तो क्या सब कउए पुंलिंग में ही हैं, क्या सब पुरुष हैं? आप सोचिए जितने कउए आते हैं घर में, क्या सब पुरुष हैं, उनमें स्त्री कोई नहीं है, कउई कोई नहीं है क्या? जरूर होगी। कउआ और कउई दोनों मिलकर जनन करते हैं अपनी जाति का, और यह नहीं है कि हमेशा पुरुष ही घर में आवे चावल और दाल खाने के लिए या दही खाजाने के लिये; स्त्रियाँ भी आती हैं। लेकिन हम कभी इसकी परवाह नहीं करते कि हम कहें कि 'कउई' आई। कउआ ही हमेशा आता है। इसी तरह से 'तोता उड़ता' है, 'तोती उड़ती है' यह हम कभी नहीं कहेंगे। 'साँप जाता है' 'साँपिन' को कभी नहीं हम लोग कहते। जब दो को एक साथ देख लें तो भले ही कहें कि एक साँपिन है एक साँप है, एक नाग है एक नागिन है लेकिन अक्सर हम साँप ही कहते हैं। छोड़ दीजिए इन शब्दों को, दूसरे शब्द हैं, जिनकी ओर मैं आप का ध्यान दिलाता हूँ। 'चींटा' है और 'चींटी' है। क्या एक ही जाति के ये दोनों प्राणी हैं। चींटा एक काला काला बड़ा सा होता है और चींटी एक छोटी सी होती है और कई रंग की होती है अलग-अलग। एक लाल चींटी बहुत छोटी-छोटी होती है। उनमें जातिगत कोई सम्पर्क नहीं। चींटा एक दूसरी जाति का प्राणी है और चींटी एक दूसरी जाति की प्राणी। पर हम ने किया क्या, एक को पुंलिग में रखा और दूसरे को स्त्रीलिंग में रखा। बिल्कुल गलत बात है। वह एक दूसरी जाति है और वह एक दूसरी। कारण कुछ नहीं। कारण केवल इतना कि ऐसा हमारी भाषा में संप्रदाय है, परंपरा चली आई है कि बड़ी चीज को हम पुंलिंग में रख देते हैं और छोटी चीज को स्त्रीलिंग में रख देते हैं। 'छुरा' और 'छुरी', छुरा जरा बड़ा होता है, छुरी जरा छोटी होती है। यही कारण है कि वह छोटी चींटी छोटी होती है चींटे से, इसलिए चींटे को हम पुंलिंग में रख देते हैं और चींटी को हम स्त्रीलिंग में रख लेते हैं; लेकिन वह चींटी चींटा की पत्नी नहीं इतना निश्चित समझना चाहिए, धर्मपत्नी? धर्मपत्नी तो क्या रखैल भी नहीं। अब इसमें आप देखिए कि इसमें कोई तर्क है? कोई तर्क नहीं दिखाई देता। बल्कि यही एक सामान्य तर्क, दे सकते हैं वह यह कि पुंलिंग वाचक जितने शब्द हैं वे शक्ति और उत्कर्ष के द्योतक हैं; स्त्रीलिंग वाचक जितने शब्द हैं, वे एक हीनता के द्योतक हैं।

फिर आप देखिए कि विभक्तियों के विषय में बड़ा झंझट है। संस्कृत में जिसका भी स्मरण करते हैं उसको हम कर्म कारक में रखते हैं, द्वितीया में रखते हैं, 'बालकःपाठं स्मरति' अर्थात् बालक पाठ स्मरण करता है। अब 'पाठं' हमने द्वितीया में रखा, कर्म कारक में उसको किया; लेकिन हमेशा नहीं करते। 'स्मृ' धातु के साथ कर्म कारक 'पाठ' तो हमने लगाया। उत्तर रामचरित में आया 'स्मरति देव्याः' एक गज कलभ है, हाथी का बच्चा है, और रामचन्द्र उसको वहीं पर उपस्थित देखते हैं जहाँ कि पहले सीता बैठा करती थीं। तब रामचन्द्र कहते हैं कि वह वहाँ पर इसलिए बैठा है। यहाँ पर इसलिए आया है कि 'देव्या स्मरति'। अब 'देव्याः' में हमने षष्टी लगाई। कर्म,

द्वितीया लगानी चाहिए थी। स्मृ धातु के साथ द्वितीया लगाते हैं, लेकिन हमने षष्ठी लगाई। लेकिन वहाँ तर्क ने इस तरह समाधान कर दिया कि जब किसी की स्मृति दुःख के साथ की जाती है तो वहाँ पर षष्ठी लगा देते हैं। 'तेषां कर्मणि षष्ठी' यह एक नियम दे दिया पाणिनि ने। और विद्यार्थी पर जब मार पड़ी हो और दुःख के साथ पाठ का अध्ययन करता हो तब फिर वहाँ क्यों नहीं लगाते। मार पड़ती है तभी तो विद्यार्थी पाठ का स्मरण करता है। वहाँ नहीं लगाते। एक प्रयोग चल पड़ा था इस समाज में षष्ठी का। उस प्रयोग का समाधान कर दिया व्याकरणकार ने, बस इतना ही समझिए। इससे अधिक और कुछ नहीं है। संस्कृति में जब हम बोलते हैं किसी से, तो सम्बोधित पुरुष को या जन को हम द्वितीया में रखते हैं 'तं वदति' या 'कथ्' धातु में 'तस्मै कथयति' उससे कहता है द्वितीया या चतुर्थी। द्वितीया या चतुर्थी का आदान प्रदान अक्सर मिलता है। लेकिन हिन्दी में 'मैंने तुमसे कहा' 'उसने मुझसे कहा' यहाँ 'से' लगाते हैं—'से' जो करण और अपादान का वाचक है। कैसे कहने लगे यह आप। कैसे यह अन्तर पड़ गया। यह दूसरा विषय है। लेकिन अगर उसी परंपरा में हम चले आ रहे हैं, संस्कृत की परंपरा में, तो यह कैसे हो गया कि हम अब तृतीया या पंचमी का जो रूप है वह हम प्रयुक्त करने लगे जो रूप द्वितीया चतुर्थी का था। आप कहेंगे, चतुर्थी का रूप अब नहीं चलता। तब भी बहुत कम चलता था। कथ् धातु के ही अर्थ में चलता था और कथा में भी बहुधा लोग द्वितीया लगा देते थे। बिल्कुल नहीं भूल गए। बरेली की तरफ़ जाइए तो आप देखिएगा कि वहाँ जैसे हम कहते हैं 'हम से कहा,' इसका प्रयोग जो मैंने वहाँ सुना है 'हमारे लिए कहा।' 'मुझसे कहा', 'हम से कहा', 'तो हमसे कहा', 'से' न कहके 'के लिए' प्रयोग सुनाई पड़ा, अब वहाँ 'के लिए' चतुर्थी का प्रयोग है। अब यह चतुर्थी का प्रयोग बरेली में भी मिलता है। इस तरह से आप देखेंगे भाषा के विषय में जो कोई भी अंग आप लें उस अंग में आप को दिखाई पड़ेगा कि भाषा में। वैध एक चीज है, तर्क सम्मत एक चीज है, और निकलती दूसरी चीज है।

दो एक और उदाहरण मैं देता हूँ। संयुक्त क्रियाएँ हिन्दी की हैं। उनको आप अगर लीजिए, तो संयुक्त क्रियाओं में जितना कुतर्क मिलता है या तर्क हीनता मिलती है, उतनी तर्क हीनता और कहीं नहीं मिलती। उदाहरण लीजिए शर्मा जी का। हम इन्तजार कर रहे हों और हम कहीं बहुत उत्सुक हों और वे कहीं दूर से दिखाई पड़ जाएँ हम कहेंगे 'शर्मा जी आ गए।' अब जरा 'आ गए' शब्द को आप देखिए। 'आगए' का क्या अर्थ है। 'आगए' का वास्तविक अर्थात् भाषा विचार के अनुसार हम लें, तो 'आ' अर्थात् आकर, 'गए' चले गए। शर्मा जी क्या यहाँ आए कमरे में और चले गए। नहीं, वे बैठे हैं कुर्सी पर। शर्मा जी आगए, है कोई तर्क इसमें। या किसी से कहे जरा आजाओ।' अब 'जरा आजाओ' जो हमने कहा तो क्या इसमें कहा कि वह आवे भी और तुरन्त ही चला जाय। क्या तर्क है? या जब बहुत बेतकल्लुफी हो और किसी का इंतजार कर रहे हों, नहीं आ रहा हो, थोड़ी देर करके आवे तो हम कहते हैं कि 'आखिर आ मरे न तुम।' 'आखिर आ मरे' तो क्या वह आया और वहीं पर ढेर होगया। ढेर तो नहीं हो गया। क्या अर्थ है अब वहाँ? या हमने यह कहा कि 'दवात

गिर पड़ी' या 'गिर गई।' 'गिर पड़ी' 'गिर गई।' 'पड़ी' से तो हम समझ सकते हैं कि गिरी और वहीं पड़ी रह गई; लेकिन 'गिर गई' में क्या गिरी और चलदी दवात वहाँ से। तो संयुक्त क्रियाओं का जब आप विश्लेषण करेंगे तो आप देखेंगे कि इनमें, संयुक्त क्रियाओं के मुहावरों में जितनी तर्कहीनता है उतनी अन्यत्र शायद ही आप को मिले। एक बहुत मशहूर किताब है अँग्रेजी में 'मीनिंग आफ मीनिंग' (Meaning of Meaning) वह दर्शन की भी किताब है और भाषा-विज्ञान की भी। उसमें उन्होंने देखा कि वह साउथ ईस्ट (South East) अर्थात् हमारे निकट जो पूर्व दक्षिण के देश हैं उसमें इसी तरह के संयुक्त क्रियाओं के, प्रयोग हैं जैसे हमारे प्रयोग हैं। और मीनिंग आफ मीनिंग के कर्ताओं को, ग्रन्थकारों को, बड़ा आश्चर्य हुआ, कि यह बड़ी अजीब भाषा है जिसमें एक क्रिया एक धातु का प्रयोग वह करते हैं और उसके साथ साथ उसके विप्रच्छेद में, 'कण्ट्रेडिक्शन' (Contradiction) में जो धातु है उसका प्रयोग करते हैं। यह अजीब बात उनको वहाँ दिखाई दी। वह अजीब बात आपको यहाँ भारतवर्ष में दिखाई देती है। 'आना' और 'जाना' या 'गिरना' और जाना ये क्रियाएँ यहाँ भी है, मैंने आपके सामने उदाहरण दिया।

इस तरह से मेरा कहना है कि भाषा वैध जो बनती है उसमें स्वयं कोई तर्क नहीं, कोई बुद्धि पर आश्रित चीज नहीं है, वह एक परम्परा से बन गयी है। और यह परम्परा से बनी हुई भाषा जितनी शिष्ट समाज की होती है, वह वैध मानी जाती है; और अन्य वर्गों की जो भाषा है, वह अवैध अथवा अशुद्ध मानी जाती है। ऐसा चला आया है, और यह पुरातन से चला आया है। आज से नहीं। एक जमाना था जब अपने देश में संस्कृत शिष्ट समाज की बोलचाल की भाषा थी। धीरे धीरे वह स्थिति समाप्त हुई और प्राकृतें आईं उसके स्थान पर। संस्कृत में 'स्त्री' शब्द है स्त्री 'स' से बोलते हैं। इसे आज कल संस्कृत वाले भी 'इस्त्री' कहते है 'इस्त्री' उसका उच्चारण नहीं है, उसको 'स्त्री' कहना चाहिए। 'स्त' से उसको आरम्भ करनी चाहिए। लेकिन आरम्भ में 'स्त' बोलना संयुक्त अक्षर में शायद हमारे यहाँ बड़ा कठिन मालूम पड़ा। बहुत पहले बहुत पहले, मैं इसलिए कहता हूँ कि 'स्त्री' संस्कृत शब्द का पालि में रूप मिलता है 'इत्थी'। वह 'इत्थी' जो पालि में मिलता है, इत्थी कभी नहीं हो सकता था जब तक कि 'इस्त्री' इसका उच्चारण संस्कृत के जमाने में भी न रहा हो। 'इस्त्री' इसका उच्चारण संस्कृत के जमाने में बोलचाल में भी रहा होगा। 'स्त्री' से 'इत्थी' शब्द निकल नहीं सकता था। 'स्त्री' शब्द से 'थी' निकलता। यदि 'थी' न निकल कर हमको 'इत्थी' पालि में मिलता है तो इससे निश्चय है कि 'इस्त्री' उच्चारण ही 'स्त्री' के साथ उस समय चलता था। अब बहुत दिनों तक प्राकृतें बोलचाल की भाषाएँ रहीं और फिर प्राकृतें ही साधु भाषाएँ हो गईं अर्थात् शिष्ट समाज की भाषाएँ हो गईं, और उनमें साहित्य बनने लगा और बोलचाल में भी आने लगी। महाराष्ट्री प्राकृत आई, शौरसैनी प्राकृत आई, बहुत सी प्राकृतें आईं। और उसके बाद अपभ्रंश आई। अपभ्रंशों के बाद आई, आजकल की आधुनिक भाषाएँ। यह भाषा का प्रवाह निरन्तर चलता आया है।

परिवर्तनशील है भाषा जैसे कि जगती के सब चीज जगत् हैं। 'जगत्यां जगत्' हम ईशोपनिषद् में पहले ही पढ़ते हैं। तो इस जगती में सब चीज जगत् है। तो भाषा भी जगत् है, चलती हुई है, और वह परिवर्तित होती रहती है। जब शिष्ट समाज अथवा यह कह लीजिए कि बहुमत एक विशेष भाषा का ही हो जाता है, तो पुरानी भाषा उठाकर रख दी जाती है, बस्ते में बाँध दी जाती है और वह बहुमत ही शिष्ट समाज की भाषा, उस समय की शिष्ट समाज की भाषा हो जाती है। यही क्रम जब से भाषा चली है, चला आ रहा और जब तक भाषा चलेगी, तब तक चलता रहेगा। कब यह क्रम, कब एक भाषा समाप्त हो जायेगी और दूसरी भाषा उसके स्थान में आ जायेगी। यह कब होगा, इसको कोई नहीं कह सकता। हम लोग नहीं कह सकते, कि अब जो आज हम स्टैन्डर्ड हिन्दी बोल रहे हैं, यह कितने सौ वर्ष तक चल पायेगी। यह नहीं कह सकते, निर्धारित नहीं कर सकते। कौन कह सकता था कि चासर की जो अँग्रेजी है वह शेक्सपीयर के समय में बदल जायेगी। शेक्सपीयर की जो अँग्रेजी है वह चासर से बहुत भिन्न है और शेक्सपीयर से आगे चलकर आप बर्नार्डशा की अँग्रेजी लीजिए तो जमीन आसमान का फरक है। और बर्नार्डशा की जो अँग्रेजी है वह इधर की अँग्रेजी के उपन्यास आप पढ़िये नाटक पढ़िये, तो आपको और भी भिन्न होती हुई दिखाई देगी।

भाषा बराबर, परिवर्तनशील है। और इसमें जैसा मैंने आपको कहा परिवर्तन स्वीकार करने पड़ते हैं। स्वीकार अनायास ही होते हैं, कुछ अपने आप स्वीकार हो जाते हैं, कुछ निकल जाते हैं। परिवर्तन हो जाते हैं, और इस तरह से इसकी गति चलती रहती है। इस विषय पर आप ध्यान दीजिए यह केन्द्र है भाषा विज्ञान पढ़ने का इसलिये मैं यहाँ के विद्यार्थियों से निवेदन करूँगा, कि जैसे बनस्पति शास्त्र का विद्यार्थी हमेशा वनस्पतियों पर निगाहें रखता है, प्राणि शास्त्र का विद्यार्थी प्राणियों पर निगाह रखते हैं, उसी तरह से भाषा विज्ञान के विद्यार्थी को हर समय भाषा पर ध्यान रखना चाहिये, कौन क्या बोला, मैं क्या बोला। कौन आवाज मेरे कान में पड़ी? क्या रूप है इसका? जब तक आप ऐसा नहीं रखेंगे तब तक आप भाषा विज्ञान का ठीक अध्ययन नहीं कर पायेंगे। १९२७ में जब मैंने प्रो० टर्नर के चरणों में बैठकर आरम्भ किया था, तो उन्होंने कहा था कि एक नोट बुक जेब में रखा करो और उस नोट बुक में जो कुछ सुनाई पड़े, जो भी विलक्षण चीज सुनाई पड़े तुरन्त लिखदो, यही करना चाहिए। अब आप देखिए आज आप देखेंगे बहुत सी ऐसी चीजें हैं जो विलक्षण हैं। एक तरह की भाषा हम बोलते हैं, लेकिन स्टेशन पर आप चले जाइये, और आप जरा देखिये, जो स्टेशनों पर स्टाल लगाकर रखते हैं और इस कोने से उस कोने तक बोलते चलते हैं चाय वाले, समोसे वाले, मिठाई वाले, पूरी वाले ये क्या बोलते हैं? इस पर यदि आप जरा ध्यान दीजिये। वेन्डर और स्टाल पर की भाषा पर तो आपको विलक्षण शब्द सुनाई पड़ेंगे, बहुत विलक्षण। या वहां भी आप जरा देखिए, लिंग के विषय में विचार कीजिये। इलाहाबाद स्टेशन पर आप देखेंगे कुली जोर से चिल्ला कर कहता है 'अरे जौनपुर आ गई'। अब जौनपुर पुंलिंग का शब्द शहर का नाम है। 'जौनपुर आगई' का क्या अर्थ है अर्थात् जौनपुर से जो गाड़ी आने वाली थी वह आगई। अब 'जौनपुर आ गई' वह कह रहा है। फैजाबाद गई अर्थात्

फैजाबाद जाने वाली गाड़ी गई। वह कहता है 'फैजाबाद गई' 'जौनपुर आई' इसका क्या कारण है कारण तो वही प्रयत्न लाघव है। वही कम से कम मेहनत करके हम अपना प्रयोजन सिद्ध करना चाहते हैं और कुछ नहीं। मौलिक कारण भी वही है भाषा के परिवर्तन का। मौलिक जो बुनयादी कारण है उसका, यह कि मनुष्य की यह एक प्रवृत्ति है कि कम से कम मेहनत करके कम से कम परिश्रम करके अधिक से अधिक वह अपना लाभ उठाए, अपना काम निकाल सके। यह है प्रवृत्ति। पहला तो मौलिक कारण है 'ईज' (ease) का प्रयत्नलाघव का और उसी के उपचार स्वरूप अपनी बोली का प्रभाव परिनिष्ठित रूप पर पड़ता है। आप भोजपुरी बोलने वाले हैं भोजपुरी बोलने में आपको सुविधा होती है। भोजपुरी बोलने वाले चाहते हैं कि उसे परिनिष्ठित हिन्दी पर लागू कर दें। बहुत से आपके प्रयोग उत्तर पुस्तकों में काट दिये जाते हैं, आप ठीक हो जाते हैं या उकसा करके मजाक में बनाकर आपको आदमी वह रूप हटा देता है। बहुत से इसी तरह से पंजाबी के रूप हैं जो 'हमने करना है' 'हमको करना है।' 'कहना है' तो 'हमने करना है' पंजाबी बोलता है। और स्टैण्डर्ड हिन्दी वाला उसकी हँसी उड़ाता है। धीरे धीरे वह हमको करना है कहने लगता है। नहीं कहता है तो हँसी उड़वाता रहता है। तो वह यानी बोलियों का प्रभाव अर्थात् अपनी मातृभाषा का प्रभाव। लेकिन वह भी उपचार स्वरूप से। केवल इसलिए क्योंकि परिश्रम का बचत, प्रयत्न का लाघव वही एक कारण है। हम अपने दिमाग पर बोझ नहीं डालना चाहते, दबाव नहीं डालना चाहते कि हम कई रूप याद रक्खें। स्टैण्डर्ड में जो हमारा नहीं हैं विस्मृत हो जाता है। जो हमारा है वह याद है, उसे स्टैण्डर्ड के स्थान पर रख देते हैं। तो आप इन तरकारी बेचने वाले, फल बेचते वाले इन लोगों को, जो जोर जोर से चिल्ला के अपनी चीजों को कहते हैं, या स्टेशन पर जो लोग बोलते हैं, इनकी भाषा का आप अध्ययन कीजिए तो बहुत सामग्री आपको ऐसी मिलेगी जो परिनिष्ठित हिन्दी से बहुत दूर है।

इसी तरह से रोज़ बोलचाल में हम देखते हैं। जैसे जानकी शब्द है। अब घर में 'जानकी आई' और 'जानकी आया' दोनों प्रयोग होते हैं। क्योंकि एक लड़के का नाम है जानकी प्रसाद है तो कोई नहीं कहता कि जानकी प्रसाद आया, कहेगा 'जानकी' आया, और लड़की है जिसका नाम है जानकी देवी, तब 'जानकी आई' ठीक है। जानकी, इसके दो अर्थ हैं। अगर आपके घर में लड़का है जानकी प्रसाद, तो 'जानकी आया' और अगर लड़की है जानकी देवी, तो 'जानकी आई'। इसी तरह से चन्द्र प्रकाश आपका लड़का है तो आप चन्दर आया या चन्द्र आया कहेंगे इन्दु आया चन्द्र आया जो कुछ नाम हो। अब अगर लड़की का चन्द्र मुखी नाम है तब भी आप कहेंगे चन्दर आई चन्दर सुसराल से आज ही आई। अब आप पूछेंगे कि चन्दर चन्द्रमा वह तो पुंलिंग में है, चन्द्रमा को कहीं हम लोग स्त्रीलिंग में नहीं बोलते। लेकिन अंग्रेज तो बोलते हैं शी (She)। हम लोग तो उसको शी नहीं बोलते, लेकिन व्यवहार में है। तो मैंने आपसे निवेदन किया कि प्रयत्न-लाघव के कारण हमें जितना पूरा बोलना चाहिए बोलते नहीं और इससे परिवर्तन हो जाता है।

हमारी बोलचाल की भाषा है। जो कि रीयल वास्तविक भाषा है और व्याकरण में लिखी हुई है वह यह आवश्यक नहीं है कि वह वास्तविक भाषा हो। हो सकती है, बहुत अंशों में हो सकती है। लेकिन ५ प्रतिशत, १० प्रतिशत, १५ प्रतिशत। यह नहीं कि वह वास्तविक भाषा न हो। तो वास्तविक भाषा और वैध अथवा व्याकरणात्मक जो भाषा है, व्याकरणसंगत जो भाषा है उसमें अन्तर है। और यह जो हमारी व्यवहारिक भाषा है, वह इतना अपने में बल ग्रहण कर लेती है कि वह पुराने रूप को हटा सके तब पुराना रूप हट जाता है। हिन्दी में 'हमने किया'। यह 'किया' का प्रयोग पुराने 'कृत' से चला आ रहा है; लेकिन बोलचाल में 'हमने करा' 'करा' रूप चल पड़ा है। अब वह 'करा' चलने देंगे व्याकरण के पंडित अथवा भाषा को परिष्कृत करने वाले हैं नहीं कह सकता आज। लेकिन आज यह भले ही 'करा' रूप न चलने दें, किया ही रक्खें। लेकिन १० वर्ष में, २० वर्ष में, २५ वर्ष में, वह 'करा' आकर ही रहेगा; उसे कोई रोक नहीं सकता। तब व्यवहार में जो रूप है, वह वास्तविक रूप है। वह जब इतनी शक्ति ग्रहण कर लेता है, इतनी वास्तविकता ले लेता है, वह ग्रहण कर लेता है कि वह परास्त कर सके कनवेन्शनल (Conventional) रूप को फार्मल (Formal) रूप को, वैध रूप को, व्याकरणात्मक रूप को व्याकरणसंगत रूप को,—तब यह रूप आ जाता है और इसी तरह से भाषा बदलती रहती है।

मैंने समय आपका काफी ले लिया, लेकिन विषय ऐसा था कि जिसमें कुछ कहना था और इसलिए आवश्यक हुआ कि कुछ न कुछ कहा जाय। मेरे व्याख्यान का यहतात्पर्य मत समझें कि भाषा तो एक बड़ी अजीब सी चीज है, जिसमें न कोई नियम है न इसके कोई सिद्धान्त हैं। ऐसा मत समझ लीजिए। ऐसी बात नहीं है। भाषा में बड़े मौलिक सिद्धान्त हैं। इसकी स्थिति में इसकी गति में, दोनों में बड़े मौलिक सिद्धान्त हैं। उनका अध्ययनभाषा-विज्ञान करता है। हमेशा भाषा का एक नार्म (Norm) होता है एक व्यवस्थित स्थिति हरएक भाषा की रहती है एक विशेष समय में। और वह समय उस भाषा की शक्ति पर निर्भर है, साहित्यिक शक्ति पर। इसके शिष्ट समाज की प्रभुता पर कि वह नार्म कितने दिनों रहे। और जैसे ही वह कम होता है, वह शक्ति कम होती है वैसे ही वह नार्म गड़बड़ाता है। एक नार्म और उसके साथ एक विशृंखल होने की परम्परा, यह दोनों साथ-साथ चलते हैं। और यह हैं सत्य के नियम अर्थात् कुछ संसार में स्टेटिक (Static) चीज है और कुछ डाइनेमिक (Dynamic) चीज़ें हैं, कुछ स्थिति उपस्थित करने वाली हैं और कुछ गति उपस्थित करने वाली हैं। भाषा के विषय में भी कुछ अंश स्थिति उपस्थित करने वाला है, कुछ गति उपस्थित करने वाला है। कौन अंश स्थिति वाला है, कौन गति वाला है—यह प्रत्येक समय प्रत्येक समाज निर्धारित करता है और वही समाज उस नार्म को देता है और उस नार्म के अनुसार उस समय की भाषा चलती है। मत समझिये कि भाषा कोई बड़ी विशृंखल चीज है या ऐसी अटपटी चीज है जिसमें कोई सिद्धान्त नहीं अगर यह अर्थ आप मेरे व्याख्यान का लगाएँगे तो मेरा ३५ वर्ष का परिश्रम निष्फल होगा।

शान्ति आँकड़ियाकर

मध्यकालीन गुजराती वाङ्मय का मोताचरी परिचय

१—गौर्जर अपभ्रंश

बृहद गुजरात में वर्तमान में जो भाषा बोली जाती है वह 'गुजराती' के नाम से भारत भर में प्रसिद्ध है। गुजराती करीब डेढ़ करोड़ लोगों की एक अत्यन्त विकसित एवम् प्रतिभाशाली गिरा है। गुजराती की अर्वाचीन कविता भारत की अन्य भाषाओं की कविताओं से बहुत ही ऊँचे प्रकार की होती है। कहानी क्षेत्र में भी गुजराती भाषा को विश्व-प्रसिद्धि प्राप्त हुई है।* ऐसी महान् भाषा की उत्पत्ति और पारम्परिक प्रगति का इतिहास रोचक और रसप्रद है। गुजराती भाषा को सर्वप्रथम 'गुजराती' नाम देने का श्रेय कवि शिरोमणि प्रेमानन्द [१६३६-१७२४] को है। प्रतिभासम्पन्न महाकवि प्रेमानंद ने १७२० के इर्द गिर्द अपनी महान् कृति 'दशम स्कंध' की रचना की थी। उसी दशम स्कंध में ही सर्वप्रथम 'गुजराती' शब्द का प्रयोग और उपयोग हत्थे चढ़ता है। प्रेमानंद से पूर्व के प्राचीन साहित्य में कहीं भी 'गुजराती' शब्द का प्रयोग और उपयोग दृष्टव्य नहीं होता है। हाँ, 'गुजरात' अथवा 'गूर्जर देस' के प्रयोग ईसा की ग्यारहवीं शताब्दी से जरूर उपयोग में आ रहे थे।

हज़ारों वर्ष पूर्व आर्यावर्त को अपना कायमी निवास स्थान बनाने के हेतु बाहर से अनेक प्रजाएँ भारत में आई थीं। उनमें एक प्रजा शक भी थी। उसी शक से एक वर्ग अलग होकर गूर्जर नाम से प्रसिद्ध हुआ था। उन गूर्जरों की राजनगरी भिन्नमाल अथवा श्रीमाल थी। सन् ९५३ के आसपास गूर्जर राजा ने श्रीमाल को छोड़ा; और मूलराज सोलंकी ने गुजरात में अणहिलवाड़ पाटण को अपनी राजनगरी बनाया।* सोलंकी युग के राजा मूलराज, चामुंड, दुर्लभराज, भीम, कर्ण, सिद्धराज, कुमारपाल ने गुजरात पर करीब तीन सौ वर्ष तक राज किया। सोलंकी युग के दरमिआन गुजरात सुखी और समृद्ध बना; और विद्या तथा ज्ञान एवम् कला और संस्कृति के तीर्थस्थल जैसे पाहण के गौरव तथा कीर्ति से एवम् समग्र गुजरात के विकास और उत्कर्ष से आकर्षित होकर बाहर के अनेक लोग भी गुजरात में आकर स्थिर होने लगे। शक प्रजा से अलग हुए वर्ग 'गूर्जर' की पुरानी मातृभाषा गौर्जर अपभ्रंश थी। उस समय भारत के अन्य प्रदेशों में जो अनेक अपभ्रंश भाषाएँ बोली जाती थीं उनकी तुलना में गौर्जर अपभ्रंश के बोलचाल एवम्

लिखावट के स्वरूपों के गुण-लक्षण कई प्रकार से भिन्न थे। इसीलिए वह "गौर्जर अपभ्रंश' के नाम से प्रसिद्ध थी। गुजराती के मूर्धन्य विद्वान् प्रोफेसर विष्णुप्रसाद त्रिवेदी जी गौर्जर अपभ्रंश का समय सन् ९०० से १२५० तक मानते हैं।* तत्पश्चात् के चार सौ वर्ष (१२५०-१६५०) प्राचीन अथवा मध्यकालीन गुजराती के माने जाते हैं। गौर्जर अपभ्रंश की उत्पत्ति शौरसेनी प्राकृत से हुई थी यह कहने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। ईसा की तेरहवीं शताब्दी के आसपास गुजरात, मारवाड़ और राजस्थान में एक ही भाषा बोली जाती थी। डा० टेसिटरी गौर्जर अपभ्रंश को (Old Western Rajasthani) मानते हैं। पन्द्रहवीं शताब्दी के महान भक्त कवि नरसिंह मेहता अपनी 'गोविन्द गमन' नामक रचना में अपनी भाषा को 'प्राकृत' कहते हैं और 'सुरत संग्राम' नामक कृति में वही लेखक अपनी भाषा को 'अपभ्रंश' कहते हैं। नरसिंह के समकालीन कवि भालण अपनी रचना 'कादंबरी' में अपनी भाषा को 'अपभ्रंश' कहते हैं। स्वयं महाकवि प्रेमानंद भी अपनी कृति 'नलाख्यान' में अपनी भाषा को एक स्थल में 'अपभ्रंश' तो दूसरे स्थल में 'गुर्जर अपभ्रंश' बताया है। जैसा कि मैं आगे लिख चुका हूँ, उन्होंने 'गुजराती' शब्द का सर्व प्रथम उपयोग 'दशम स्कंध' में ही किया।

आठ सौ हजार वर्ष पूर्व के उनके पूर्वजों की अपभ्रंश भाषा को, वर्तमान के शिक्षित गुजराती भी, परभाषा ही मान लेते हैं, और बात भी ठीक है; क्योंकि जब तक हम विशेष अभ्यास के द्वारा उस भाषा का परिचय प्राप्त न कर लें तब तक वह एक पराई भाषा ही दृष्टिगोचर हुआ करती है। यह स्वाभाविक भी है। क्योंकि, भला, 'पुणु' तथा 'नरिंदि'; 'पुनः' एवम् 'नरेन्द्रेण' के; 'जई' तथा 'जाहि'; 'जो' (हिन्दी : देखो) एवम् 'जा' (हिन्दी : जाओ) के; और 'हिअयट्ठीउ' तथा 'रोसु'; 'हृदय' एवम् 'रोष' के अपभ्रंशीय रूपान्तर है यह कैसे पता चले? जब तक हम उस भाषा से अपरिचित होते हैं तब तक वह अपनी भाषा होते हुए भी एक पराई भाषा भासित होती है। पर जैसे ही उससे परिचय हो जाता है, हमारी सारी निरसता गायब हो जाती है और उस अद्रष्टा भाषा के रसप्रद साहित्य का अन्वेषण करने के लिये हम प्रयुक्त हो जाते हैं।

ईसा की बारहवीं शताब्दी के दरमिआन उस भाषा के तत्कालीन संग्राहकों में जैसे संस्कृत तथा प्राकृत के कवि आचार्य हेमचन्द एवम् सोमप्रभ के नाम अत्यन्त प्रसिद्ध हैं, ठीक वैसे ही इन विद्वानों के पुरोगामी कवि धनपाल तो स्वयं अपभ्रंश की एक स्वतन्त्र धर्म कथा के सर्जक हैं। अर्थात् उन्होंने अपभ्रंश में ही धर्मकथा लिखी है। लगभग ईसा की दसवीं शताब्दी में आबू के आसपास के प्रदेश में धनपाल का जन्म हुआ था। जाति से वह वणिक थे। वह अपने को 'सरस्वती संभव' कहलाता है। उनकी सुन्दर, कुतूहल प्रिय साहित्यिक अंशों से भरपूर 'भविस्सन्त कहा' सचमुच उनकी 'सरस्वती संभव' उक्ति को सार्थक करती है। अपभ्रंश के और कवि स्वयंभूदेव, धवल, पुष्पदंत, योगीन्द्र आदि ने भी अलग-अलग समय में गणनापात्र धर्म विषयक काव्यों की रचनाएँ की थीं।

गुजराती वाङ्मय अपभ्रंश का बहुत ही ऋणी है क्योंकि अपभ्रंश ने गुजराती को कड़वाबद्ध काव्यशैली प्रदान की; छप्पय, दुहे, चौपाई आदि छंद दिये; आख्यानशैली के रूढ़िप्रकार का दान दिया; अपने अलंकार दिये; एवम् गद्य का एक प्रकार भी दिया।

२—पुरानी गुजराती

अपभ्रंश के बाद, अपभ्रंश से, उसकी तथा अन्य की प्रेरणा लेकर उसका तथा अन्य का असर लेकर क्रमश: विकसित हुई भाषा का नाम ठहरा गुजराती। गुजराती का अपभ्रंश से जो स्वरूप-भेद हुआ, और आगे जाकर जो भेद सिद्ध हुआ वह मुख्यत: निम्न कारणों पर अवलंबित था*—

१. अपभ्रंश संस्कृत की भाँति समस्त रूप की (सिन्थैटिक) थी पर पुरानी गुजराती व्यस्त (एनेलिटिक) बनी;

२. अपभ्रंश में संस्कृत शब्दों का स्वरूप बदल जाता था। अब वह प्राचीन गुजराती मूल रूप में अर्थात् तत्सम शब्दों के रूप में उपयोग में आने लगे; जैसा कि—

संस्कृत शब्द : मनोरथ।
अपभ्रंश में : मणोरह। फिर,
प्राचीन गुजराती में : मनोरथ।

३. प्रथमा एक वचन का अपभ्रंशीय प्रत्यय 'क' पुरानी गुजराती में प्रारम्भ में विकल्प में उपयोग में आने लगा पर धीरे-धीरे वह लुप्त हो गया; जैसा कि—

अपभ्रंश में : भणिअ अंबडु

प्रारम्भ की पुरानी गुजराती में भी उपरोक्त रूप ही रहा पर आगे जाकर 'भणिअ अंबड' हो चला।

४. संयुक्ताक्षर के पीछलने के साथ उसके पूर्व का हृस्व स्वर दीर्घ हो चला; जैसा कि—

अपभ्रंश : किछ्छउं ३
प्राचीन गुजराती : कीछउं ३
अर्वाचीन : कीछुं

उपरान्त अनुसार कोमल होते ही अगला हृस्व स्वर दीर्घ बनने लगा; जैसा कि—

अपभ्रंश : सम्भलहु
प्राचीन गुजराती : सांभलम
अर्वाचीन : सांभलवुं

५. पुरानी गुजराती में 'छ' धातु का सहायकारक क्रियापाद के नाते सर्वप्रथम उपयोग भालण और पद्मनाभ ने 'छअि' के रूप में किया। उससे अर्वाचीन रूप 'छे' (हिन्दी : हूँ) बना।

अपभ्रंश का साहित्य कम है, अपूर्ण वैविध्यवाला है, तदुपरांत यह भाषा हमारे लिए अधिक दुर्बोध है। जबकि प्राचीन गुजराती के काव्य और उसका गद्य साहित्य विपुल है, वैविध्यपूर्ण है। उसकी दुर्बोधता भी कुछ कम है। प्राचीन गुजराती कितनी पुरानी है यह निम्न तालिका से समझा जा सकता है—

१. सिद्धराज सन् १०६३ में राजगद्दी पर बैठा। उस समय गौर्जर अपभ्रंश से प्राचीन गुजराती का उदय प्रारम्भ हो चला था।

२. उसके पश्चात् सन् १२५० के करीब वह साहित्य की भाषा बन चुकी थी ।

३. अहमदाबाद की स्थापना सन् १४११–१२ में हुई और नरसिंह का जन्म सन् १४१४–१५ में हुआ । उस समय में प्राचीन गुजराती का मध्याह्न काल था, और उसके एक शताब्दी बाद कुछ नये लक्षण की विशिष्टता उसको प्राप्त हो गई थी ।

४. सन् १६५० के आसपास, अर्थात् अरवाके समय दरमिआन उसके अर्वाचीन देहका निर्माण हो गया था ।

इस तरह १६५० साल की पुरानी और नई गुजराती की स्वाभाविक भेदरेखा बनती है । । इसलिए हम मध्यकालीन गुजराती साहित्य को भी निम्न दो विभागों में बाँट सकते हैं ।

(i) पूर्वकाल (१२५०—१६५०) ।
(ii) उत्तरकाल (१६५०—१८५२) ।

पुरानी गुजराती का साहित्य विशेष जैनों का है—जैनेतरों का नहीं । संभव है, जैनेतर कवियों ने भी इस वक्त के दरमिआन कई रचनाएं की होंगी पर धार्मिक संरक्षण नहीं मिलने के कारण वे सबकी सब रचनायें प्रायः नष्टभ्रष्ट हो गई होंगी । जैनों के साहित्य को धार्मिक संरक्षण मिल गया । इसलिए उनकी तमाम रचनायें उनके मूल स्वरूप में प्राप्त हुई । जब हम भाषा के साहित्य का इतिहास लिखने बैठे हैं तब तो जो रचनायें प्राप्त होती हैं उनका ही उल्लेख और ऋण स्वीकार करना होता है । इसलिए हम कहते हैं कि पुरानी गुजराती का साहित्य विशेष जैनों का है । गुजराती में ही नहीं, अपितु भारत का सभी प्रांतीय भाषाओं का प्राचीन साहित्य जैनों का है । जैन लेखकों के द्वारा लिखा हुआ है । जैनेतरों की रचनायें बहुत ही कम प्राप्त होती हैं फिर भी उभय का प्रधान सूर तो धर्मलक्षी ही है । उस जमाने का साहित्य प्रधानतः धर्मलक्षी है फिर भी सांसारिकता को सर्वथा निकाल नहीं दिया गया है । प्राचीन गुजराती के जैनेतर कीर्तिलब्ध नाम हैं : नरसिंह, मीरा, भालण, पद्मनाभ, नाकर आदि; और जैन लब्धप्रतिष्ठ नाम ह : शालिभद्र, सोमसुन्दर, जयशेखर, माणिक्यसुन्दर एवम् लावण्य समय वगैरह ।

३—जैन शाखा

'आर्य संस्कृति की जैन शाखा ने गुजराती के उदयकाल में बहुत ही सहयोग दिया है । उसके विद्यानुक्त साधु हमारे सर्व प्रथम साहित्यकार हैं । उपाश्रय के स्थान में धर्म दृष्टि पालने और प्रबोधने होते हुए भी शालिभद्र (११८५) से समयसुन्दर (१५८०—१६४२) तक के उस प्रभावशाली सुरिमंडलने अपने-अपने समय के समाज का, उसके जीवन का, उसकी भाषा का संपर्क यथायोग्य एवम् अखंड और जीवन रखा । उन्होंने धर्म का रंग पक्का रखकर भी संसार चित्र अंकित करने में लघुता मानी नहीं, और गुजराती को अमृत पिलाने के लिए संस्कृत से भी सतत प्रेरणा लिये रखी ।' जैन कवियों ने रास, फागू और चरित की रचनाएं कीं । जैन कृतियों में सर्व प्रथम है 'भरतेश्वर-बाहुबलि' रास । रचयिता है शालिभद्रसूरि । उनका जन्म दूसरे भीमदेव के समय में पाहण में हुआ था । उन्होंने 'भरतेश्वर—बाहुबलि' रास की रचना विक्रम संवत् १२४१ (सन् ११८५) में की ।

वीररस प्रधान तथा संक्षिप्त कथा प्रसंगवाला (केवल २०३ कड़ियों का) ओजभरी शैली का यह रास एक स्वतंत्र और सुबध्य प्रबंध है।' तेहरवीं और चौदहवीं शताब्दी के ये ७ : ग्रंथ प्रसिद्ध हैं : (१) 'जंबूसामिचरित्र'। यह ग्रंथ महेन्द्र सूरि के शिष्य धर्म ने सन् १२१० में सिखा था। इसमें जंबूस्वामी के गहन गुणों की स्तुति है। (२) 'खेतगिरि रासो।" महामात्य वस्तुपाल के धर्माचार्य श्री विजयसेन सूरि ने इस ग्रंथ की रचना १२३१ में की थी। इसमें देवभूमि-से मनोहर सोरठ (सौराष्ट्र का एक जिला) देश के सुजला सरोवरवाले गिरनार की और वहाँ के देवालयों के जीर्णोद्धार के प्रसंग की स्तुति की है। (३) नेमिनाथ मनुस्य दिया' यह काव्य गुजराती का सर्व प्रथम बारमासी काव्य है। कवि विनयसुंदर ने इसकी रचना सन् १२६९ में की थी। (४) 'ममरा रासो।' इसके रचयिता अंबदेवसूरि। रचनाकाल है सन् १३१५। इसमें शत्रुंजय पर ऋषभदेव की प्रतिमा प्रतिष्ठापना कराने वाले संघपति और सूवनकार समरसिंह का चरित्र आलेखित है। (५) 'प्रतिक्रमणबालावबोध।' यह ग्रंथ गुजराती का सर्वप्रथम गद्य ग्रंथ है। रचयिता हैं तरुणप्रभसूरि। इसमें सम्यकत्व और श्रावके बारह पृष्ठों पर लिखा गया है। तदुपरान्त नीतिबोधक प्रकीर्ण कथायें भी इसमें शामिल हैं। रचनाकाल सन् १३५५। (६) 'मुग्धावबोध औक्तिका' रचयिता हैं कुलमंडन रचनाकाल १३९४। संस्कृत भाषा बालकों को सिखाने के हेतु सरल गुजराती में व्याकरण। पृष्ठ संख्या ३३।

पंद्रहवी शताब्दी के ७५–८० जैन साहित्यकारों में से तीन ही अलग अलग दृष्टियों से अग्रीय माने जाते हैं : (१) सोमसुंदर (१३७४—१४४६), (२) जयशेखर (लगभग : १४०६); (३) माणिक्यसुन्दर (१४४२) (१) सोमसुंदर : वणिक जाति में जन्म। जन्म नाम सोमचन्द्र। जन्म स्थान पालनपुर। वे कवि और ग्रंथकार दोनों थे। उन्होंने तारणगिरि एवम् अन्य स्थलों पर देरासरों में बिम्बप्रतिष्ठा कराई थी। जैन समाज में धर्माचार्य के नाते सविशेष प्रसिद्ध। उपर्युक्त औक्तककार कुलमंडन के वे गुरुबंधु थे। दोनों विद्वान् आचार्य अनेक ताडपत्रीय ग्रंथोंको कागज पर लिखाकर बहुमूल्य विद्याधन को चीरंजीवना प्रदान करने वाले प्रभावशाली आचार्य देवसुंदर सूरि के सुपात्र शिष्य थे। सोमसुंदर ने प्रवाभपने भी ऐसी ही सेवा १४१६ में खंभात के सेठ पर्वत सेठ के हाथों कराई थी। तदुपरांत, अमुक शब्दों पर सुवर्णमुहर का दान दिया जाये ऐसा सहस्रावधि मुहरों का दान, मध्यभारतस्थ मांडपगढ़ के कोटिध्वज सुवर्णकार संग्राम सेठ के हाथों प्रदान कराया था। 'कवि और विवरणकार सोमसुन्दर सूरि बृहस्पति तुल्य प्रतिभा प्रकर्षवंत थे'—यह उनके एक शिष्य प्रतिष्ठा सोम ने अपने गुरु को जब आचार्य पद मिला तब उस समारंभ प्रसंग पर लिखी हुई रचना 'सोमसौभाग्य' में कहा है। सत्यंसुंदर सूरि की रचना नेमि नवरस फाग' रचयिता की रसिक पंडित की शक्ति की द्योतक है। भावुक जनों के मनोरंजनार्थ कवि ने उक्त रचना को तीन भागों में बाँट दिया है। उसका वसंतवर्णन एक मनोरम और मनोगम काव्यकृतिका परिचायक है। उन्होंने काव्य के उपरांत कुछ गद्य ग्रथों की भी रचना की थी। उनमें 'उपदेशमाला' 'योगशास्त्र' आदि 'बालवबोध', मुख्य हैं। बालावबोध का अर्थ है मूल संस्कृत या प्राकृत के ग्रंथों की चीजों का बालयोग्य भाषामें विवरण। विवरणमें द्रष्टान्त कथाओं के द्वारा फल ग्रथों के वक्तव्य को विस्तारपूर्वक समझाया गया है।

(२) जयशेखर : कवि जयशेखर अपना परिचय 'वाणीदत्तवर : के उपनाम से देता है। उनकी मुख्य रचना है—'प्रबोध चिंतामणि'। यह सन् १४१४ में लिखा हुआ सबसे पुराना और श्रेष्ठ गुजराती रुपक काव्य है। 'जैन कुमार संभव' 'झिलचरित' आदि महाकाव्यों के रचयिता जयशेखर सूरि ने 'प्रबोध चिन्तामणि' प्रथम संस्कृत में लिखा; और फिर सामान्य फेरफार के सहित आमजनता के लिए उसे गुजराती में लिखा। परमहंस नामक एक राजा चेतना नामक एक राणी को छोड़कर माया नामक स्त्री के प्यार में फंसता है। इसका गैरलाभ उठाकर मन नायक, परमहंस राजा का महामात्य सारा राज पर अपना काबू पा लेता है। फिर तो सारे राज की परिस्थिति अंधकार में हो जाती है। आखिर मनका पुत्र दिवंक चेतना की सहायता लेकर परमहंस को मुक्त करता है—यह उक्त काव्य की कथा है। 'वस्तु गूथनी, पात्रों की योजना, रुपक का यथोचित विकास, कार्यवेग, पाठक के कुतुहल को अंत तक बनाये रखे ऐसा संविधान चातुर्य—' यह सब कवि की प्रतिभा को प्रदर्शित करते हैं।

(३) माणिक्यसुन्दर : जयशेखर के गुरुभ्रातृज माणिक्यसुंदर गुजराती के गद्य लेखक हैं। उनकी कृति है : 'वाग्विलास।' वाग्विलास का दूसरा नाम है—'पृथ्वीचंद्र चरित', वह 'सुंदर, रसभरी और हृदयंगम' कृति है। वाग्विलाम पाँच उल्लास में लिखी गई एक सुंदर कथा है। कथावस्तु सामान्य है पंरतु चमत्कृति से भरे हुए मनोहर अंलकारों के द्वारा एवम् विशद् और प्रास्तवित भाषा में कवि ने उसका ऐसा तो हृदयंगम आलेखन किया है कि सारी कथा कवित्व की कोहिकी बन जाती है : पैंटिण के राजा पृथ्वीचंद्र अयोध्या के राजा सोमदेव की कन्या रत्नमंजरी के साथ, बहुत ही पराक्रम और साहस के पश्चात् शादी करता है ; और लग्न के कुछ साल बाद, एक जैन साधु के उपदेश से प्रेरित होकर अपने पुत्र को राजगद्दी सुपूर्द करके साधु धर्म को स्वीकार कर लेता है। इतनी कथा वस्तु के आधार पर कवि ने सुंदर और सुदीर्घ गद्य काव्य की रचना की है। कथा के प्रसंग की और प्रवाह की परवाह किये बिना लेखक मौका मिलते ही मनोहर वर्णन करके कथा को आभूपित कर देते हैं। फिर भी कहीं अर्थहीन अंलकार दृष्टिगोचर नहीं होते हैं और न तो आवश्यकता से अधिक वर्णन प्रचुरता का दर्शन होता है। बहुत ही औचित्यपूर्वक समान रहकर सारी कथा को भावमय आलेखित करके कवि ने एक सुंदर कलाकृतिका निर्माण किया है। 'पृथ्वीचंद्र चरित' में से निम्नउदाहरण यहाँ नमूनार्थ दिया जा रहा है—

धनकनक समृद्ध, पृथ्वीपीठि प्रसिद्ध, अत्यन्त रमणीय, सकल लोक स्पृहणीय, लक्ष्मी लीला निवास, सरस्वतीतणऊ आवास, निरुपमनागरिकनणऊद्दाम, मनो भिराम, जनित दुर्जन क्षोभ, सज्जनोत्पादित शोभ······

४—जैनेतर शाखा

नरसिंह मेहता के पूर्व के चार जैनेतर कवियों की रचनायें प्राप्त हुई हैं। उन्होंने धार्मिक विषय पर नहीं अपितु सांसारिक विषय पर अपनी रचनायें की थीं। इसलिए मध्यकालीन धर्मरंगी साहित्य सागर में रचनायें छोटे-छोटे हरे-भरे द्वीपों की भांति

सुशोभित हैं। उन चार कवियों के नाम हैं—(१) असाईत, (२) श्रीधर व्यास, (३) भीम, और (४) अब्दुर रहमान।

(१) असाईत—उन्होंने सन् १३६१ में 'हंसाउली' नामक एक कथा लिखी जो कि एक हास्य और करुण प्रसंगों से भरपूर, जन्मांतर और भ्रातृ विरह से संबंधित अद्भुत रसिक लोक कथा हैं। 'हंसाउली' गुजराती वाङमय की सर्व प्रथम जैनेतर कृति है। असाईत गुजराती लोकनाट्य (भवाई) के पिता माने जाते हैं। उन्होंने ३६० जितनी भवाई लिखी हैं। सिद्धपुर के निवासी थे। हंसाउली कथा का पाठ ४४० कवियों में विस्तृत हुआ है।

(२) श्रीधर व्यास—उन्होंने सन् १३९९ में रणमल्ल छंद नामक रचना की। ईडर के राठोड़ के वंश के चार साहसिक और पराक्रमी राणा रणमल्लने पाटण के सुलतान के साथ लड़ाई करके उसको पराजित किया—यह रचना का विषय है। रचना की प्रारम्भ की दस कड़ियाँ कवि ने संस्कृत में लिखी हैं। इससे पता चलता है कि वे संस्कृत के भी विद्वान होंगे, गर्जना करते लड़ते-लड़ते आगे बढ़ते हुए राजपूतों का; सांस लेने लड़खड़ाने और पीठ दिखाकर भागते मुसलमानों का; और मुसलमानों को रगड़ कर कत्ल करते हुए राणा का अलंकार युक्त वर्णन हमारा ध्यान आकर्षित करते हैं। केवल ७० कड़ियों का यह एक वीर रस का नमूनादार काव्य है। उसकी शैली 'प्रौढ़ और ओजस्वी है।' नमूनार्थ कुछ पंक्तियाँ यहाँ दे रहा हूँ—

ढंमढमंई ढमढम कार ढंकर ढोल ढोली जंगिया, (हरिगीत)
धारूक्कट् धारि धगड़धर धसमसि धसमति धुब्ब पडंत। (मरहड्डा)
जि चंगे तुरंगे तरंगे चढंता रणमल्ल दिट्ठे दींनं मुडंता (भुजंग प्रयात)

(३) भीम—असाईन की 'हंसावली' के बाद पद्य में लोक कथा लिखने वाले कवि भीम सन् १४१० के आस पास विद्यमान थे। वे जैनेतर कवि थे। उनकी रचना का नाम है: 'सदय वत्स चरित।' इसमें भिन्न-भिन्न भारतीय भाषाओं में और खास करके गुजरात के ग्रामवर्ग में खूब ही लोकप्रिय बनी हुई सदेवंत और सावलिंगा के आठ जन्मों के स्नेह और वियोग की वीर एवम् अद्भुत रस से भरपूर प्रेमकथा को ६७० कड़ियों में गूंथा है।

(४) अब्दुर रहमान—गुजरात के प्राचीन साहित्य में मुस्लिम कवियों का अधिक प्रादान नहीं है; फिर भी १४२० में अब्दुर रहमान ने 'संदेशक रास' नामक अपनी रचना देकर गुजराती वाङमय को पुष्ट किया है। वह एक दूत काव्य है। इसमें विरहिणी नायिका एक पथिक द्वारा अपने प्रियतम को संदेश भेजती है। विप्रलंभ शृंगार के हृदयंगम आलेखन के द्वारा कृति सविशेष रसिक बनी है।

५—साहित्य के अन्य स्वरूप—फागू, रास, बारहमासे

फागू:—बसंत ऋतु में गाये जाने वाला और बसंतोत्सव विषयक रास फागू कहलाता है। फागू में फाल्गुन मास के आनंदमय विहार का वर्णन किया जाता है। फागू में वसंत को ही प्राधान्य दिया जाता है। इसलिए प्रणयी के शृंगार का आलेखन उसमें

भरसक रहता है। गोया इस प्रकार की कृतियों में शृंगार का और जीवनोल्लास का प्रधानत: वर्णन होता है फिर भी जैन साधुओं के द्वारा लिखित कृतियों में धार्मिकता का अंश दृष्टिगोचर होता ही है। तदुपरांत धर्मोपदेश के ही मुख्य उद्देश्य से शृंगार रस का आलेखन करते हुए जैन साधुओं ने जिन काव्यों में वसंत ऋतु का आलेखन न हो ऐसे काव्यों को भी फागू बनाया है। यही कारण है कि 'वसंत विलास' अथवा 'फागू' जैसी जैनेतर मानी जाती कृतियों के सामने 'स्थूलि भद्र फागू' अथवा 'नेमिनाथ फागू' जैसी रचनायें बिलकुल भिन्न दृष्टिगोचर होती हैं। जैन कवियों के द्वारा लिखित फागूओं में उद्दीप्त शृंगार का वर्णन किया होता है; फिर भी आखिर तो उनमें त्याग, संयम, शील और सात्त्विकता ही विजय पाता दिखाया जाता है; और उसके द्वारा वृत्तियों के उपशमन का ही बोध प्रदान किया जाता है। गुजराती का सर्व प्रथम फागू काव्य 'सिरिथलि भद्द फागू' है। जिन पद्म सूरि ने सन् १३२४ के आस पास के समय में उसकी रचना की थी। काव्य के नायक एक जैन साधू हैं। इससे उक्त काव्य में बंसत के बजाय वर्षा ऋतु का वर्णन है। क्योंकि जैन साधू चातुर्मास एक ही उपाश्रय में बिताते हैं। काव्य २७ कड़ियों में लिखा हुआ है। उक्त छोटे-से काव्य में महान् जैन साधू स्थूलि भद्र के जीवन के प्रसंग वर्णित हैं। गुरु की आज्ञा के कारण कोसा नामक वेश्या के घर चातुर्मास बिताने के लिए गये हुए युवा और तेजस्वी साधू को प्रसन्न करने के लिए उस मोहक और आकर्षक वेश्या ने भरसक प्रयत्न किये; पर वे सब के सब बेकार साबित हुए। स्थूलि भद्र के चित्त पर वेश्या का असर पड़े उसके पहिले स्थूलि भद्र के अचल साधुत्व ने कोसा के चित्त पर जादू किया। कोसा की दुर्वृत्तियाँ शांत होकर अदृश्य हो गईं। साधू से उसने सदुपदेश ग्रहण किया। स्थूलि भद्र के चरित्र से खुश होकर देवगणों ने आकाश से पुष्पवृष्टि की। जिनके जीवन प्रसगों में शृंगार रस के आलेखन के लिए बहुत अच्छा अवकाश हो,और फिर भी जिन्होंने काम के ऊपर अपना विजय प्राप्तकर लिया हो ऐसे पात्रों को—स्थूलि भद्र, जंबू स्वामी नेमिनाथ आदि—जैन कवियों ने उस युग के दरमियान अपने फागू काव्यों का नायक बनाया।

पर उस युग का सर्वश्रेष्ठ फागू काव्य तो है 'वसंत विलास।' यह कृति बरसों तक जैन भंडारों में सुरक्षित रही। उक्त कृति में कर्त्ता का नाम नहीं है; और न तो है रचना काल का उल्लेख। केवल ८४ कड़ी के इस काव्य में—सर्वांग संपूर्ण काव्य में, कवि ने वसंतागमन, विरहिणियों की वेदना, वन केलि और भ्रमर उपालंभ द्वारा मनुष्य के योग वियोग का संक्षिप्त संश्लिष्ट, समप्रमाण और सचोट वर्णन किया है। शृंगार रस से भरपूर इस कृति में कवि ने एक नहीं पर अनेक युग्मों के मिलन की कथा कही है। जीवन के उल्लास को प्रदर्शित करते हुए उस काव्य की प्रत्येक पंक्ति रस घन और घूंटी हुई होने के कारण, एवम् पंक्तियों में आयोजित अंतर्चयक के कारण यह कृति एक अत्यन्त मनोहर कलाकृति बन गई। जैन साधुओं की रचनाओं में जो धर्मोपदेश दृष्टिगोचर होता है वह इसमें नहीं है। इससे अनुमान कर सकते हैं कि उसके कर्त्ता कोई जैनेतर कवि होंगे।

'फागु' नामक एक और फागू काव्य भी उस जमाने में लिखा गया था। उक्त

रचना में 'वसंत विलास' की कुछ पंक्तियाँ बराबर मिलती आती हैं। इससे हम अनुमान कर सकते हैं कि यह रचना भी 'वसंत विलास' के लेखक की ही होगी। 'फागु' में श्रीकृष्ण गोपी की रासलीला और क्रीड़ाओं का वर्णन है।

रास—आचार्य हेमचन्द्र से लेकर नरसिंह मेहता के समय तक के लगभग ३०० वर्ष के दरमियान गुजराती वाङ्मय में कवियों का जो प्रदान रहा उसमें एक विशिष्ट साहित्य इस प्रकार का भी शामिल था। वह विशिष्ट साहित्य प्रकार 'रास' अथवा 'रासो' के नाम से प्रसिद्ध है। जैन साधु और आम जनता में अत्यंत लोकप्रिय बने हुए उक्त साहित्य प्रकार का सर्जन ठेठ अट्ठारहवीं शताब्दी तक हमें देखने को मिलता है। ईसा की अठ्टारहवीं शताब्दी तक जैन कवियों के द्वारा लिखे गये करीब ३०० रास मिलते हैं जिनमें से बहुत तो आज भी अप्रसिद्ध हैं। प्राचीन गुजराती का प्राप्य प्राचीन रास 'भरतेश्वर बाहुबलि' है। ११८५ में शालिभद्र सूरि द्वारा लिखे गये उक्त रास को गुजराती साहित्य की प्रथम कृति माना जाता है। इस रास की चीज़ जैन साहित्य में बहुत ही सुप्रसिद्ध है। जैनों के प्रथम तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव के भरत और बाहुबलि नामक दो पुत्रों के बीच राजसत्ता के लिए जो युद्ध हुआ था उसका कवि ने ओजस् भरपूर अलंकार युक्त वर्णन किया है। कथा प्रसंगों के संक्षेप के कारण वीर रस की कमी उसमें सर्वत्र दृष्टिगोचर होती है।

प्राचीन गुजराती में 'रासा' लिखे जाने लगे। उसके पहिले अपभ्रंश में कुछ उपदेशात्मक प्रकार के, पद्य प्रबन्ध थे जो कि 'रास' के नाम से पहचाने जाते थे। हेमचंद्राचार्य के समय में 'रास' अथवा 'रासक' एक गेय रूपक के रूप में प्रसिद्ध थे। वाग्भट्ट कहते हैं:— 'जिसमें अनेक नर्तकियाँ हों, जिसमें अनेक प्रकार के ताल और लय हों और जिसमें ६४ जितने युग्म हों—ऐसा कोमल और उद्धत गेय रूपक 'रासक' है। उत्सवों के मौके पर जैन दरासरों में रास खेले जाते थे और गाये जाते थे। खास इसके लिए तो प्रसंगानुसार जैन कवि रास लिख भी दिया करते थे। वे रास दो प्रकार से—'तालारस' और 'लकुटा-रस'—खेले जाते थे, ऐसा स्पष्ट उल्लेख भी रासकृतियों में से मिलता है। यों प्राचीन साहित्य का 'रास' एक गेय और अभिनयक्षण साहित्य स्वरूप है।

'रास' अमुक समय मर्यादा में खेला जाता था। इसके लिये प्रारम्भ में उसका रूप बहुत संक्षेप रहता था। परन्तु शनैः शनैः उस काव्य प्रकार में कथा का तत्व बढ़ने लगा। पश्चात् जो रास लिखे गये वे अधिक से अधिक विस्तृत और वर्णनात्मक होते चले गये, और ऐसे उसकी अभिनयक्षमता भी कम होती चली गई। यहाँ तक कि सत्तरहवीं या अठारहवीं शताब्दी में रास खेले जाते थे या नहीं—यह भी हम निश्चयपूर्वक नहीं कह सकते हैं। 'रास' लिखने के पीछे मुख्य हेतु तो धर्मोपदेश ही था। 'बुद्धिरास' नामक प्रारम्भ के समय के रास में तो केवल उपदेश के वचन ही दिये गये हैं। उसके बाद के रासों में उत्तरोत्तर उपदेश और कथा तत्त्व का प्रमाण बढ़ने लगा। ऋषभदेव, नेमिनाथ, महावीर स्वामी आदि तीर्थंकर; जंबूस्वामी, गौतम स्वामी, स्थूलिभद्र, शालिभद्र, आदि जैन साधू; अथवा वस्तुपाल, तेजपाल, समरसिंह, पेथड़, जगडु, आदि जैन श्रेष्ठियों के जीवन चरित्र को रास के विषय बनाये जाते थे। तदुपरांत किसी श्रेष्ठी ने तीर्थ यात्रा के

लिए संघ निकाला हो तो उसके वर्णन के रास भी लिखे गये हैं; और केवल तीर्थ के माहात्म्य को वर्णित करते हुए 'आबूरास' जैसे रास भी हमारे साहित्य भंडार में से प्राप्त होते हैं; 'रूपचंद कुंवर रास' नामक काल्पनिक कथावस्तु पर आधारित रास; एवम् 'नलदवदंती' तथा 'पंच पाँडव' जैसे महाभारत की चीजों पर आधारित रास भी विद्वानों का ध्यान आकर्षित करते हैं। उक्त कथावस्तुओं में जैन धर्म का माहात्म्य बढ़े उस दृष्टि से कवियों ने कुछ परिवर्तन और परिवर्द्धन भी किया है।

बारहमासे—रास युग में एक तीसरा काव्य प्रकार भी प्रचलित हुआ था और जो उसी सत्तरहवीं और अठारहवीं शताब्दी तक चलन में रहा था वह है 'बारहमासे' काव्य। बारहमासे को ऋतुकाव्य भी कहते हैं। गेय तत्व से सभर इस काव्य प्रकार में वरस के बारहमासों के लाघवयुक्त, सचोट और विशिष्ट वर्णन के साथ नायिका के विरह को भी वर्णित किया जाता है, इसलिये उसमें विप्रलंभ शृंगार मुख्य और नियामक रस बन जाता है। नायिका के विरह के कारण उसमें करुण रस का भी आभास और दर्शन होता है। फिर भी उक्त काव्य प्रकारों में आखिर नायक नायिका का मिलन हो ही जाता है। इसलिए वर्णित विरह क्षणिक ही होता है।

'नेमिनाथ चतुष्पदिका' गुजराती का सर्वप्रथम और सर्वोत्तम बारहमासी काव्य है। विनयचंद्र के द्वारा वह ११४० में लिखा गया था। उन्होंने उपदेशमाला कथानक षट्पद' नामक ८१ छप्पय भी लिखे हैं। 'नेमिनाथ चतुष्पदिका' का कथासार इस प्रकार है—काव्य के नायक नेमिनाथ, अपने लग्नक के निमित्त हत्या के लिए बंधित पशुओं को देखकर लग्न किए बिना ही लौटे जाते हैं और दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं। उनकी आतुरतापूर्वक राह देखती राजुल की विरह व्यथा हर महिने बढ़ती जाती है। आखिर अधिक मास में राजुल नेमिनाथ से जा मिलती है पर उस वक्त तो नेमिनाथ साधू दृष्टिगोचर होते हैं। नेमिनाथ राजुल को धर्मोपदेश देते हैं और दीक्षा अंगीकार करने को कहते हैं। राजुल दीक्षा अंगीकार करने के लिए तैयार हो जाती है। सारी कथा आखिर की ओर अनिवार्य रीति से धर्मरंगी और सुखांत बनती है। करुण रस की प्रचुरता भी उसमें है। सारी रचना रसार्द्र है।

पंडित और साधू समदर्शी होते हैं। उक्त उक्ति के अनुसार जैन साधू भिक्षार्थ वैश्याओं के गृह भी जाया करते थे। सूरि स्थूलिभद्र एकबार पाटलिपुत्र में चातुर्मास बिता रहे थे। गुरु की आज्ञा के अनुसार वे एक दिन भिक्षार्थ नगर की एक गणिका के घर पहुँचे। मुनिवर को देखकर गणिका की अस्थिर चित्त वाली दासी ने गणिका को मुनिवर के सामने बुलाया। वह अत्यन्त मोहक और स्वरूपवान् थी। उस समय आकाश से झरमर झरमर वर्षा बरसती थीं; खलखल खलखल वायु बहती थीं; झबझब झबझब बिजली चमकती थी; और उस गणिका का मन थरथर थरथर काँपता था। उसने स्वरूपवान् साधु को अपने वश करने के लिये मेघख के कारण, मद भरे, नृत्य करने मयूर की भाँति अपने द्वयचक्षुओं को चलित किया। उसका जुड़ा मदनखड्ग की भाँति लास्य कर रहा था और शृंगार स्थापक उसके तुंग पयोधर अमृत-कुंभ से दृष्टिगोचर हो रहे थे। गणिका को यह और ऐसी अनेकविध लीलाओं के उत्तर में मुनि स्थूलिभद्र ने केवल यह ही कहा—'मैंने तो ज्ञानख-

ड्ग के द्वारा अति बलवंत महाशय को और उसके सुभट मदन को समरांगण में पराजित कर दिया है। इसलिये मेरा मन तो संयमश्री में ही लीन है। 'मैं उसके साथही भोग खेलने को हमेशा उत्सुक रहा करता हूँ। यह उत्तर सुनते ही मार-जित साधुवर्य स्थूलिभद्र पर आकाश से सुरगण ने कुसुम वृष्टि की। 'श्री स्थूलिभद्र फागू' प्रथम फागू काव्य है और दूसरे ऋतु काव्य। फागू काव्य के रूप में हम उसको पीछे देखचुके हैं। 'नेमिनाथ फागू' नामक एक और ऋतु और फागू काव्य राजशेखर ने (सन् १३३७-४९) में लिखा था। माना जाता है कि उन्होंने थोड़ा बहुत इतिहात और कई दंत कथाओं को लेकर 'चतुर्विंशति प्रबन्ध' नामक एक और रचना भी की थी। 'नेमिनाथ' फागू के प्रारम्भ में बसंत खेल का बहुत सुन्दर सूचन है। सारी कथा में उग्रसेन की पुत्री राजलदेवी से लग्न करने के लिए आये हुए नेमिकुमार की बरात का ही वर्णन है। मधुर पदावलि उक्त काव्य का खास गुण है। गुजराती मध्यकालीन साहित्य के मनोहर आभूषण 'बसंत विलास' भी एक श्रेष्ठ ऋतु काव्य है। उसका कवि देव अथवा देवांशी के नाम बसंत का प्रफुल्हावनहार प्रभाव जाता नहीं है; यह तो अर्ध पंक्ति में सरस्वती को प्रणाम करके दशों दिशाओं में अपने परिमल को प्रसारित करती बसंत ऋतु की प्रकृति लीला को गाने लगता है। दंपति के परस्पर आकर्षण, शुष्क और जड़ शिष्टाचार की, बिना परवाह किए, गाथा गाने लगता है। यही कारण है कि हम उसके काव्य में नव यौवन की रंगभरी क्रीड़ा का दर्शन करते हैं, कोयल आम वृक्ष की डाली पर कुहू कुहू गाती सुनते हैं; पढ़ते हैं: 'जैसे कामदेव की साँकल हो वैसे पलाश पुष्प की पत्रा वलि विरहिणियों के कलेजे खिंच निकालती है।' उसके स्त्री देह और स्त्री शृंगार के वर्णनों से जो महेक उठती हैं, क्रीड़ा के ध्वनि युक्त सूचन से जो सूक्ष्म रंगदर्शिता का प्राकट्य होता है उससे हम उक्त रचना के अनामी पर आजन्म कवि की उच्च रसिकता को देख सकते हैं।

६—भक्ति युग

सन् १४१२ से गुजरात में मुसलमान सुलतानों की सत्ता स्थापित हुई। सन् १५३६ में गुजरात के अंतिम सुलतान बहादुरशाह की मृत्यु हुई। और तबसे राजकीय ऊबड़ खाबड़ का प्रारंभ हुआ। अन्यायी सरदारों ने राज का काबू अपने हाथों ले लिया और सर्वत्र अंधाधूंधा और अव्यवस्था फैल गया। सन् १५७२ में अकबर ने गुजरात जीता, तब फिर पुनः शांति प्रस्थापित हुई। अव्यवस्था के समय आम जनता के जीवन में हताशा और निरुत्साह व्याप्त हुए, और उस मानसिक उद्वेग के शमनार्थ स्वाभाविक रीति से ही लोग धर्म की ओर मुड़े। पर धर्म था भक्ति धर्म। शंकराचार्य के द्वारा प्रबोधित ज्ञानमार्ग हताश हुई प्रजा को अपनी ओर बहुत आकर्षित नहीं कर सका। इससे लोगों की वृत्ति प्रेमलक्षणा भागवत धर्म की ओर आकर्षित हुई। लोगों को ज्ञान मार्ग में जो रस नहीं मिला था वह प्रेमलक्षणा भक्ति से प्राप्त होने लगा। इससे उसका प्राबल्य दिन-प्रतिदिन बढ़ने लगा। माना जाता है कि भागवत् धर्म की स्थापना ईसा के पूर्व ६ वीं शताब्दी में वृष्णी जाति के वासुदेव ने की थी। समय गुजरने के साथ साथ उस धर्म में, वैदिक धर्म के अंश और महाभारत के नारायणीय धर्म के अंश जा मिले। उसके पश्चात् उसमें अहीर जाति के गोपाल कृष्ण की लीला की भी वृद्धि हुई; और इस गति से मूल भागवत्

धर्म का स्वरूप बिलकुल ही बदल गया। रामानुजाचार्य ने, मध्य युग में, अपने समय की परिस्थिति को दृष्टि के समक्ष रखकर, उसमें कुछ परिवर्तन किये और उसको व्यवस्थित बनाया; निम्बकाचार्य ने उसमें राधा का तत्त्व जोड़ा। राधा के तत्त्व की वृद्धि होते ही उस धर्म की रसमयता अत्यंत बढ़ गई, और मध्य युग में इसका बहुत प्रचार हुआ। फिर रामानंद ने संस्कृत में ही उपदेश देने की प्रणाली का त्याग किया; और धर्माचरण के लिए अमुक जाति को विशिष्ट अधिकार होना ही चाहिये—उस पुरानी मान्यता को तोड़ दिया। उन्होंने प्राकृत भाषा में उपदेश दिया और नारी शूद्र आदि सबके लिए धर्म के द्वार खुले जाहिर कर दिये।

उस भक्ति मार्ग का मुख्य सूत्र है—प्रेम। प्रभु के द्वार तक पहुँचने के लिए प्रेम के सिवा और किसी चीज की आवश्यकता ही नहीं है। जिस परमात्मा को प्राप्त करने के लिए जहाँ ज्ञानी इधर से उधर घूमते फिरते हैं; और कर्म मार्गी यज्ञादि कर्म करके जड़ बन जाते हैं वहाँ भक्त को वह सरलता से प्राप्त हो जाते हैं। भक्त बनने का अधिकार स्त्री, पुरुष, शूद्र, द्विज, बालक, वृद्ध—सबको है। परमात्मा प्रेम भरी भक्ति से भक्त को प्राप्त ही नहीं होते हैं, अपितु भक्त के आधीन भी बन जाते हैं और भक्त के हाथों में भक्त की इच्छानुसार नाचते रहते हैं।

इस तरह रामानंद ने भक्ति मार्ग को सर्वसुलभ बना दिया। उनके कुछ शिष्यों ने पीछे से उसमें राम भक्ति को भी दाखिल कर दिया। यों मध्य युग में भक्ति का प्रवाह दक्षिण से उत्तर में बढ़ा और उसका असर पूर्व और पश्चिम में भी पड़ा।

गुजरात की हतप्राण प्रजा ने भी पराजय की विस्मृति के लिए प्रेमलक्षणा भक्ति का आश्रय लिया। इस तरह भक्ति धर्म गुजराती प्रजा का धारणहार बना। श्रीमद् भागवत् उस धर्म का मुख्य ग्रंथ बना; और उसमें भी नटखट नटवर की बाललीला, दानलीला, रासलीला आदि का महिमागान गाना दशमस्कंध भक्त और कवियों में सबसे अधिक लोकप्रिय बना।

योगवेदांती का आत्म संतोष है समाधि में ब्रह्म का प्रत्यक्ष दर्शन करने में; ठीक वैसा ही विरल संव्यवहार और उच्च कोटि का आत्म संतोष प्रेमलक्षणा भक्ति के भक्तों को मिलता है 'अहर्निश व्यवहार में ब्रह्म देखने में।' नरसिंह और मीरा को ऐसे आत्म संतोष का दर्शन हुआ था। अखा और दयाराम को भी ऐसे ही आत्म संतोष की झांकी हुई थी। मध्य कालीन गुजरात के उन भक्त जनों के उस विषय के स्वानुभव के वचन भी हम खुले दिल सीधे सीधे स्वीकृत नहीं करते हैं; क्योंकि जिस तरह पूजक में सही पारत्व हो तब ही उस वीरपुरुष की मानसी पूजाअर्चा यथायोग्य कर सकती है; ठीक इसी तरह पाचक और विवेचक के दिल भक्ति भरपूर हों तब ही वे उन भक्त कवियों की कविता का रस विवेचन स्वाभाविक रूपसे कर पाते हैं।

अनुपम भक्त कवि सूरदास की भाँति नरसिंह, मीरा, दयाराम आदि भी श्रीकृष्ण के जिस मधुर रूप का भजन करते हैं वह रूप कोई द्वारकाधीश सम्राट् या कुरुक्षेत्र का तत्त्व-द्रष्टा नहीं है—वह तो है हास विलास की तरंगें फैलाता अनंत सौंदर्य का समुद्र। उस अद्भुत प्रेमालंबन के सन्मुख ऐसे भक्त हृदय मानों किसी निराले ही प्रेम लोक में

उल्लास भरे खेलते रहते हैं। अष्टों प्रहर कृष्ण भक्ति के रंग में चकनाचूर रहते हुए उन बड़भागी जीवों की प्रकृति ही ऐसी बन गई होती है कि एक दुनियादारी के नाते उनकी नजर के सामने से सदा के लिए प्रपंच अदृश्य हो गया होता है। प्रभु में तन्मय बनी हुई उनकी प्रकृति अपने भगवत्प्रेम की, लोकोत्तर रीति से—जैसे सामान्यत: अन्यथा वैसे कभी कदास प्रकट शृंगार के रूप में भी, और फिर भी नितांत अनासक्त वृत्ति से—खोज करें यह बिलकुल स्वाभाविक बल्कि उनके लिए अपरिहार्य भी है। इस प्रकार के पदों की रचना करते समय अथवा उन पदों को गाते समय वे, समाज को, हमारी रीति से देखने समझने को बिलकुल भूल जाया करते थे। फलत: समाज पर अपनी कविताओं का क्या असर पड़ेगा—इस बात की भी उनको तनिक चिंता नहीं थी। इस तरह राधा कृष्णादिक के जिस प्रेम को उन भक्त कवियों ने अपनी गूढ़ातिगूढ़ चरम भक्ति का व्यंजक बनाया, उस प्रेम के प्रभाव के कारण ही गुजराती कविता मध्य कालीन जमाने में कुछ सर्वोत्कृष्ट ऊर्मिकाव्यों की प्राप्ति कर सकी—यह बात बिलकुल निर्विवाद है।

टिप्पणी—१

डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया

हिन्दी में अँग्रेजी के आगत शब्दों का भाषा-तात्त्विक अध्ययन

संक्षिप्त

प्रथम अध्याय के प्रारम्भ में हिन्दी-प्रदेश की सीमाएँ निश्चित करते हुए यह बतलाने का प्रयास किया गया है कि इस प्रदेश पर कैसे अँग्रेजों का आधिपत्य हुआ। प्रारम्भ में अँग्रेज व्यापारी के रूप में आये और शनैः शनैः उन्हें फैक्टरियाँ स्थापित करने के लिए फरमान भी प्राप्त होते गये। धीरे-धीरे उन्होंने अपनी कोठियाँ बनालीं और उनका व्यापार चलने लगा।

अँग्रेजों के प्रयत्न से सबसे पहले एक फैक्टरी सन् १६१४ ई० में आगरे में स्थापित की गई और सर विलियम एडवर्ड इसके रेजीडेन्ट नियुक्त होकर आये। सन् १६१५ ई० में सर टामसरो भारत के प्रथम राजदूत नियुक्त हुए।

प्लासी के युद्ध के पश्चात् अँग्रेजों का हिन्दी-प्रदेश पर आगमन हुआ। यह स्पष्टतः वह समय-विभाजक रेखा है जिसके पूर्व अँग्रेज और यूरोपीय जातियों के यात्रियों का सम्बन्ध प्रेम और सौहार्द्रपूर्ण था। इसके बाद उनका आगमन एक आक्रमण-कारी के रूप में हुआ। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि ६ अगस्त सन् १७५६ ई० ही वह प्रथम दिवस था जब कि भारत में मुगल साम्राज्य का अन्त और अँग्रेजों के राज्य का प्रारम्भ हुआ, जिसके फलस्वरूप अँग्रेजों का प्रथम चरण हिन्दी-प्रदेश पर पड़ा। हिन्दी प्रदेश पर अँग्रेजों का अन्तिम चरण प्रारम्भ होता है। सन् १८०० ई० से जब लार्ड लेक ने दुआब में कानपुर से एक बड़ी सेना लेकर उत्तर की ओर प्रस्थान किया। सन् १८५७ ई० में सारा भारत लाल हो चुका था और उधर शासन की बागडोर भी कम्पनी के हाथों से निकल कर पार्लियामेंट के हाथों में चली गई थी। मिशनरियों का भी अँग्रेजों के विकास में योगदान रहा है।

आगे हिन्दी-प्रदेश में अँग्रेजी शिक्षा के 'विकास और प्रसार' पर विवेचन किया गया है। हिन्दी प्रदेश में अंग्रेजी के प्रभाव के लिए प्रथम-प्रथम बनारस (१८१७) और आगरा (१८२३) दो नगर ही उल्लेखनीय हैं जहाँ-अँग्रेजी-शिक्षा की सबसे पहले व्यवस्था की गई। सन् १८५७ ई० में नगरों में विश्वविद्यालय स्थापित किए गए हिन्दी प्रदेश

के विद्यालयों का सम्बन्ध कलकत्ता विश्वविद्यालय से था। हिन्दी-प्रदेश में प्रथम विश्वविद्यालय प्रयाग में सन् १८८७ ई० में स्थापित हुआ। तत्पश्चात् शिक्षा और अँग्रेजी शिक्षा के क्षेत्र में प्रगति होती चली गई। मिशनरियों का इस क्षेत्र में विशेष सहयोग रहा। उनके द्वारा स्थापित सब से पहला स्कूल आगरे में १६२० ई में माना जा सकता है। आगरे के सेंट जौन्स कालेज और सिकन्दरा स्कूल भी उल्लेखनीय हैं।

अँग्रेजी शिक्षा के विकास में पत्र-पत्रिकाओं का भी विशेष योग रहा है। हिन्दी में प्रथम प्रकाशित पत्र 'उदन्त मार्तण्ड' माना जाता है। जिसका प्रकाशन सन् १६२६ ई० में कलकत्ते से हुआ था।

आगत शब्द क्या है? और वे किसी भाषा में कितना महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं, इस पर एक प्रकरण में भाषा-तात्त्विक दृष्टि से विवेचन किया गया है। अँग्रेजी शब्दों से पूर्व अरबी, फारसी, तुर्की, फ्रान्सिसी, डच, जर्मन एवं पुर्तगीज़ भाषाओं से गृहीत शब्दों पर भी संक्षिप्त विवेचन किया गया है।

द्वितीय अध्याय में अँग्रेजी के आगत शब्दों की सामान्य प्रवृत्तियों पर विचार किया गया है एवं अन्त में शब्दों का वर्गीकरण भी किया गया है। शब्दों का संकलन लिखित और मौखिक दोनों ही स्रोतों से किया गया है।

'बहुशिक्षित व्यक्तियों की भाषा में अँग्रेजी शब्द' के अन्तर्गत कविता तथा 'विज्ञापन में अँग्रेजी शब्दों' की सामान्य प्रवृत्तियों पर विवेचन प्रस्तुत किया गया है। समस्त शब्दावली को निम्नांकित भागों में वर्गीकृत किया गया—

१. प्रतिदिन के व्यवहार में आने वाली वस्तुएँ।
२. व्यापार तथा पेशे।
३. विज्ञान, कला तथा धर्म।
४. प्रशासन।
५. शिक्षा। नाप-तौल आकृति।
६. यातायात।
७. संवहन।
८. मनोरंजन।
९. संक्षिप्त रूप।

तृतीय अध्याय

इस अध्याय में हिन्दी और अंग्रेजी की ध्वनियों का सामान्य विवरण दिया गया है। अंग्रेजी की ध्वनियाँ हिन्दी में कैसे परिवर्तित होती हैं इसका विस्तृत विवेचन भी इस अध्याय में किया गया है। साथ ही अन्त में विशेष ध्वनि परिवर्तन के उदाहरण भी दिये गये हैं। ध्वनियों के गुण पर अलग से विचार किया गया है। अंग्रेजी की मात्रा, बलाघात तथा सुर का हिन्दी भाषा-भाषी कहां तक ध्यान रखते हैं इस पर भी विचार किया गया है। सामान्यतः अंग्रेजी बलाघात तथा सुर का हिन्दी में कोई महत्व नहीं।

अंग्रेजी स्वर

अंग्रेजी के संध्यक्षर स्वरों का हिन्दी में अभाव है। अन्य स्वरों में भी कुछ स्वर सर्वथा नवीन हैं। अंग्रेजी मूलस्वरों में (ई—i), (इ—i),(अ)—a:) (उ—u), (ऊ—u:) (अ-,) हिन्दी मूल स्वरों से विशेष भिन्न नहीं हैं, अतः इन अंग्रेजी स्वरों का उच्चारण हिन्दी-भाषी शुद्ध कर लेते हैं। अन्य स्वरों का हिन्दी में अभाव है। हिन्दी की प्रवृत्ति के अनुसार ह्रस्व (इ) स्वरान्त शब्द हिन्दी में दीर्घ स्वरान्त हो जाते हैं। अंग्रेजी शब्द Committee। kemiti हिन्दी में (कमेटी) बन गया है। इस प्रकार अन्त स्थिति में अंग्रेजी के ह्रस्व स्वर दीर्घ हो जाते हैं।

अंग्रेजी स्वर (आ—a:) 'र-युक्त' भी होता है, जिसके फलस्वरूप हिन्दी में 'र' का उच्चारण भी लगभग सभी शब्दों में किया जाता है।

(e—ऍ) इस स्वर के स्थान पर हिन्दी में दीर्घ (ए) का ही उच्चारण होता है, कहीं-कहीं इस स्वर के स्थान पर (इ) भी मिलता है। अं० शब्द Deputy। depjuti, का हिन्दी उच्चारण (डिप्टी) है।

(ae—ऍ) इस स्वर के स्थान पर सामान्यतः (ऐ—E) का उच्चारण मिलता है। कुछ शब्दों में यह स्वर (अ) ह्रस्व तथा दीर्घ दोनों रूपों में मिलता है। अंग्रेजी Album (rxlbɔm) तथा Ration (rxʃɔn) हिन्दी में क्रमशः अलबम तथा राशन ही प्रचलित हैं।

(ɔ—) (तथा) ɔ:—ऑ) दोनों ही स्वर हिन्दी में सामान्यतः (अ) में बदल गये हैं। शिष्ट उच्चारण अवश्य कुछ अँग्रेजी मूल ध्वनियों के समीप सुनाई पड़ता है। दोनों ही स्वरों के स्थान पर (ऑ) लिखने की प्रथा आज बढ़ रही है, इसमें कोई सन्देह नहीं अँग्रेजी शब्द (Plot) (plst) तथा Chalk (tʃc:K) क्रमशः हिन्दी में 'प्लाट' तथा 'चाक' ही सुने जाते हैं।

(ə—अ) यह अँग्रेजी का उदासीन स्वर है। वैसे इस स्वर के स्थान पर सामान्यतः (अ) का उच्चारण ही मिलता है, पर बलाघात हीनता का हिन्दी में कोई विचार न होने इस स्वर के हिन्दी में अनेक उच्चारण प्राप्त होते हैं। 'र' युक्त अक्षर का उच्चारण भी हिन्दी में 'र' के साथ ही होता है। (ə:—एं) के स्थान पर भी सामान्यतः (अ) हो जाता है।

हिन्दी के उच्चारण में अंग्रेजी की वर्तनी का भी विशेष प्रभाव परिलक्षित होता है। 'विस्कुट' आदि शब्द इसके अन्तर्गत ही आते हैं।

संध्यक्षर स्वर

(ei—ऍइ) तथा (ou—ओउ) (क्रमशः हिन्दी में दीर्घ मूल स्वर (ए) तथा (ओ) की भाँति उच्चारित होते हैं। अंग्रेजी शब्द Mail (meil) तथा Vote (Vout) हिन्दी में 'मेल' तथा 'वोट' के रूप में ही सुने जाते हैं।

(ai—अइ) तथा (au—अउ) हिन्दी में क्रमशः (आइ) तथा (आउ) के साथ

द्वयक्षरात्मक उच्चरित होते हैं। अंग्रेजी शब्द type (taip) तथा town (taun) हिन्दी में 'टाइप' तथा 'टाउन' ही सुने जाते हैं।

अन्य संध्यक्षर, स्वरों से युक्त शब्द हिन्दी में अधिक संख्या में गृहीत नहीं हुए हैं। फिर भी सामान्यत: (uə—उअ) हिन्दी में (ऊ) तथा (ɔə—ऑअ हिन्दी में (ओ) के रूप में उच्चरित होते हैं अन्य स्वर (ɔi—अइ) (iə—इअं) Eə-ऐंअं) कैसा हिन्दी में य-राग भी आ जाता है।

व्यंजन

अँग्रेजी स्पर्श (p-प) (t-ट्र) तथा (k·क) के महाप्राण रूप (संस्वन) हिन्दी में नहीं आए हैं।

अँग्रेजी की वत्स्र्म स्पर्श ध्वनियाँ (t—ट) तथा (d—ड्) पर विस्तृत विवेचन किया गया है। अंग्रेजी में स्पर्श-संघर्षी ध्वनियाँ (च) और (ज) हिन्दी से भिन्न होते हुए tʃ dʒ भी हिन्दी में स्पर्श-संघर्षी ही रही हैं।

अँग्रेजी की संघर्षी ध्वनियों का हिन्दी में विशेष अभाव है। अँग्रेजी संघर्षी ध्वनियां (zज) तथा (f—फ़) का तो ज्ञान हिन्दी भाषियों का फारसी के माध्यम से पूर्ववत् ही हो चुका था। अं० ध्वनि (v—व) हिन्दी की (व) ध्वनि से भिन्न है। हिन्दी की ध्वनि (व्) अँग्रेजी की पृथक् ध्वनि है। अँग्रेजी की दो ध्वनियाँ (v—व़) तथा (w—व़) हिन्दी में आकर एक स्वनिम (व) के रूप में गृहीत हुई। संघर्षी ध्वनियाँ (e—थ़) तथा (d°—द़) हिन्दी में क्रमश:(थ) तथा (द) रूप में उच्चरित होती हैं। अं० ध्वनि (z—झ़) का हिन्दी में (ज़) तथा 'र' का (र) ही उच्चारण ही मिलता है। अँग्रेजी (र्) भी विस्तृत विवेचन किया गया है। अं० (I—ल) तथा (l—ल़) हिन्दी में सामान्यत: एक ही (ल) ध्वनि के रूप में आये हैं। अं० (h—ह) अघोष है।

चौथे अध्याय में ध्वनि-प्रक्रिया—आवृत्ति एवं अन्य भारतीय भाषाओं में गृहीत अँग्रेजी शब्दों पर तुलनात्मक विवेचन किया गया है। ध्वनि-प्रक्रिया में अंग्रेजी और हिन्दी के व्यंजन-गुच्छों का तुलनात्मक विवेचन किया है।

आगत शब्दों के कारण हिन्दी ध्वनि-प्रक्रिया कहाँ तक प्रभावित हुई, इसका विश्लेषण भी किया गया है। अँग्रेजी तथा हिन्दी के अक्षरात्मक रूप का तुलनात्मक विवेचन करने की चेष्टा भी की गई है। अँग्रेजी के शब्दों में किस रूप में आक्षरिक परिवर्तन हुआ, इस ओर भी प्रयत्न किया गया है।

आवृत्ति के क्षेत्र में मैंने प्रेमचन्दजी के उपन्यासों को ही अपना आधार चुना है। उनके सभी उपन्यासों में अँग्रेजी के प्रयुक्त शब्दों को छाँटकर उनकी गणना की गई है। हिन्दीतर भारतीय भाषाओं—पंजाबी, गुजराती, मराठी, बंगाली उड़िया एवं तमिल में बहुप्रचलित अंग्रेजी के शब्दों के रूपों का तुलनात्मक विवेचन भी इस दृष्टि से किया गया है कि एक ही शब्द विभिन्न भाषाओं की ध्वनि-प्रक्रिया के अनुसार कैसे विभिन्न रूप बदल लेता है।

पाँचवें अध्याय के दो भाग हैं । प्रथम भाग में रूप-विचार की दृष्टि से विचार किया गया है । साधारणतया एक भाषा दूसरी भाषा से संज्ञा शब्द लेती है । सबसे पहले एसे अंग्रेजी के शब्दों को लिया गया है जो अंग्रेजी में दो विभिन्न रूप-मात्र हैं । लेकिन हिन्दी में उनका एकीकरण हो गया है । तत्पश्चात् समध्वनीय भिन्नार्थक शब्दों का विश्लेषण किया है ।

अंग्रेजी आगत शब्दों का 'लिंग' और 'वचन' ग्राहक भाषा के व्याकरणानुकूल ही चलते हैं । हिन्दी में लिंग अपना एक निजी महत्व रखता है । अंग्रेजी शब्दों के लिंग को भी विशेष स्थान दिया गया है ।

साधारणतया एक भाषा दूसरी भाषा से विशेषण और क्रियाएं नहीं लेती किन्तु कुछ प्रचलित विशेषण अंग्रेजी से हिन्दी में आ चुके हैं । रचनात्मक प्रत्यय और उपसर्ग लगाकर एक आगत शब्द से मिश्रित शब्द बना लिये जाते हैं । समस्त-पद और संकर शब्दों पर भी पृथक रूप से विवेचन किया है । बहुप्रचलित विदेशी शब्दों से भी पृथक रूप से विवेचन किया है । बहुप्रचलित विदेशी शब्दों से मुहावरों के जो प्रयोग भी चल पड़े हैं उनको भी सम्मिलित किया गया है ।

पांचवे अध्याय के द्वितीय भाग में 'अँग्रेजी का' हिन्दी के वाक्य-विन्यास पर प्रभाव का भी दिग्दर्शन कराया गया है । निश्चित रूप से हिन्दी वाक्य-विन्यास में विकसित विशेषण उपवाक्य, निक्षिप्त उपवाक्य, निवेशित उपवाक्य, परिशिष्टात्मक उपवाक्य, संकुचित उपवाक्य तथा सूचनार्थक उपवाक्य बनाने की विधि अँग्रेजी के प्रभाव के ही फलस्वरूप है ।

यह तो सर्वविदित ही है कि पूर्णविराम और अर्द्धविराम को छोड़कर समस्त चिन्ह अँग्रेजों की ही देन हैं ।

छठे अध्याय में अर्थ-विचार की दृष्टि से आगत शब्दों का विचार-विमर्श किया गया हे । अँग्रेजी के कुछ शब्दों का विभिन्न दिशाओं में अर्थ-परिवर्तन हो गया है । अर्थ-संकोच और अर्थ-विस्तार की विभिन्न दशाओं पर विश्लेषण किया गया है । अर्थ-परिवर्तन की अन्य कोटियों में अर्थादेश, भेद का भेदीकरण, अर्थोपकर्ष, मंगलभाषित, अंगागी-अन्तरण, व्यंग्यार्थ आदि यहाँ उल्लेखनीय हैं । रोचक परिवर्तन के अन्तर्गत कुछ रोचक शब्द लिये गये हैं तथा उनकी व्यवस्था की गई है ।

छठे अध्याय के द्वितीय भाग में अँग्रेजी शब्दों के आलंकारिक प्रयोगों पर विचार किया गया है ।

सातवें अध्याय में आगत शब्दानुवाद की विभिन्न अवस्थाओं का विश्लेषण करके यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि अनुवाद के क्षेत्र में भावानुवाद कितना आवश्यक है । उसी का शाब्दिक अनुवाद कितना हास्यास्पद हो जाता है । अनुवाद के क्षेत्र में एकरूपता का भी प्रमुख स्थान है ।

कालान्तर में शब्दानुवाद के साथ ही साथ वाक्यांश, मुहावरों और लोकोक्तियों का अनुवाद भी चल पड़ता है ।

कविता के क्षेत्र में भी अनुवाद की प्रथा प्रचलित हो गई है। कवि लोग जाने-अनजाने अँग्रेजी शब्दों और कभी-कभी पंक्तियों के भी अनुवाद कर डालते हैं।

पारिभाषिक शब्दावली गढ़ने की विधियों पर भी विचार करते हुए पारभाषिक शब्दावली का संक्षिप्त विवेचन किया है।

सातवें अध्याय के परिशिष्ट में मनीआर्डर फार्म के दो अनुवादों का तुलनात्मक विवेचन किया गया है।

आठवें अध्याय 'उपसंहार' में हिन्दी आगत शब्दों की पहचान पर तथा कृत समस्त कार्य पर एक विहंगम दृष्टि डाली गई है।

प्रस्तुत निबन्ध के अन्त में सहायक ग्रन्थों को सूची के अतिरिक्त निम्नांकित अन्य परिशिष्ट भी दिये गये हैं:—

१. भाषा में आगत शब्दों के सम्बन्ध में विचार।
२. एक रोचक कहानी।
३. कविता में आगत शब्द।
४. अँग्रेजी शब्दों के बोलीगत रूप।
५. कुछ विवादास्पद शब्द।
६. सहायक ग्रन्थों की सूची।

इस प्रकार इस अध्ययन के द्वारा हिन्दी में अँग्रेजी के आगत शब्दों के ध्वन्यात्मक एवं रूपात्मक स्वरूप तथा अर्थ-विकार पर विचार करते हुए आगत शब्दों की गतिविधि का भाषातात्विक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। हिन्दी के विकसित रूप में अँग्रेजी के आगत शब्दों का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान है यह सर्वविदित है। आगत शब्दों के तात्विक विश्लेषण के साथ ही साथ यत्र-तत्र अँग्रेजी तथा हिन्दी की ध्वनियों, ध्वनि-गुच्छों, अक्षरों आदि का तुलनात्मक विवेचन भी प्रस्तुत हो गया है।

टिप्पणी २

मुरारी लाल उप्रैति

आगरे की खड़ी बोली[1]

सत्रहवीं शताब्दी से भाषा-विज्ञान में जितना अध्ययन पश्चिम में हुआ है उतना भारत में नहीं हुआ। इतना ही नहीं जॉर्ज ग्रियर्सन द्वारा भारत की समस्त भाषाओं का सर्वेक्षण किया जा चुका है, किन्तु उस समय से लेकर आज तक समय का इतना व्यविधान पड़ गया है कि भाषाओं के रूपों में पर्याप्त परिवर्तन आगया है और आज उस सर्वेक्षण में संशोधन की बड़ी आवश्यकता है। आज तक का अध्ययन तुलनात्मक और एतिहासिक सिद्धातों पर आधारित है जबकि भाषाओं का विवरणात्मक अध्ययन उतना ही महत्वपूर्ण है। यह प्रसन्नता की बात है कि विवरणात्मक भाषा-विज्ञान का आगरा विश्वविद्यालय के अन्तर्गत हिन्दी तथा भाषा-विज्ञान विद्यापीठ द्वारा आरम्भ किया जा चुका है। आज हिन्दी राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन है ऐसी परिस्थिति में उसकी विविध दिशाओं में अध्ययन होना आवश्यक है। आगरे की खड़ी बोली ने इस राष्ट्रभाषा के निर्माण में बहुत योग दिया है, उसे भुलाया नहीं जा सकता। इसके अतिरिक्त 'आगरे की खड़ी बोली' के विषय में पर्याप्त विवाद रहा है। इस विवाद तथा उक्त दृष्टियों को ध्यान में रखते हुए मैंने एम० लिट० की उपाधि के लिए 'आगरे की खड़ी बोली' का विवरणात्मक भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत किया है। 'आगरे की खड़ी बोली' का वास्तविक रूप वैज्ञानिक भाषा-सर्वेक्षण के उपरान्त जिस रूप में सामने आया है वह ऐसा रूप है जिसे हिन्दू और मुसलमान सभी प्रयोग करते हैं। जहाँ हिन्दी और उर्दू के अखाड़े पनप रहे थे वहाँ आगरे की खड़ी बोली इन विरोधी तत्वों से शून्य थी, ऐसा प्रस्तुत अध्ययन से पता लगा है। अंग्रेजों की विभेदक नीति से चाहे जो कुछ हुआ हो परन्तु आज भी आगरे की खड़ी बोली उसी पथ पर दिखाई देती है। स्व० लल्लू जी लाल की आगरे की खड़ी बोली यही थी उन्होंने फारसी अरबी के रूपों को निकालकर जो रूप प्रस्तुत

---

१. एम० लिट० की उपाधि के लिए स्वीकृत थीसिस के आधार पर प्रस्तुत।

किया था वह तो अँग्रेजों के अनुकूल था परन्तु उनकी खड़ी बोली यही थी जिसमें समयानुसार ध्वन्यात्मक एवं रूपात्मक अन्तर पड़ जाना स्वाभाविक है।

ऐतिहासिक अनुसंधान से पता लगता है कि आगरा सभ्यता और संस्कृति का मुख्य केन्द्र रहा है ऐसी स्थिति में एक सार्वजनीन भाषा का व्यवहार होना स्वाभाविक है। सामान्य व्यवहार की भाषा का यह रूप ही वस्तुतः आगरे की खड़ी बोली है जो लिखित साहित्यिक हिन्दी से गठन एवं रूपों में समानता रखती है, ध्वन्यात्मक परिवर्तन हो जाना कालक्रमानुसार ही समझना चाहिए। इस बोली का प्रसार समस्त नगर में पाया जाता है। नगर के केन्द्र कोतवाली, किनारी बाजार, सेब का बाजार, बेलनगंज, नाई की मंडी आदि में अधिकांश जनता की मातृभाषा यही खड़ी बोली है। नगर के प्रत्यन्त भाग में इसका प्रसार क्षीण होता चला गया है। प्रत्यन्त भागों पर बसने वाली अधिकांश जनता की मातृभाषा ब्रजभाषा है। ताजगंज और शाहगंज इसके अपवाद कहे जा सकते हैं। इन मुहल्लों की अधिकांश जनता की मातृभाषा खड़ी बोली है।

आगरे में मूलतः दो बोलियाँ बोली जाती हैं—खड़ी बोली और ब्रज भाषा। ये दोनों अपना अपना प्रभाव एक दूसरी पर डालती रहती हैं। इस प्रकार प्रत्येक के दो रूप दृष्टिगोचर होते हैं। आगरे की खड़ी बोली का प्रथम रूप वह है जिसे हम ब्रजभाषा के प्रभाव से अधिक अंशों में वंचित कह सकते हैं। दूसरा रूप ब्रजभाषा से प्रभावित है। उकारान्त, ऊकारान्त तथा औकारान्त विशेषताएँ इस बात की द्योतक हैं। ब्रजभाषा के भी इस प्रकार दो रूप हैं। प्रथम को शुद्ध ब्रजभाषा कहते हैं और दूसरे को यहाँ की खड़ी बोली से प्रभावित। आकारान्त, ओकारान्त विशेषताएँ ब्रजभाषा भाषियों की बोलचाल में आ जाती हैं। खड़ी बोली और ब्रजभाषा के व्यवहार में इस प्रकार के प्रभाव आ जाना स्वाभाविक है किन्तु दोनों के उत्स अलग अलग हैं।

आगरे की खड़ी बोली यहाँ की जनता की घर की और सामान्य बोलचाल की भाषा है। जिन लोगों की खड़ी बोली घर की भाषा है उसके वक्ता निर्विवाद रूप से मुसलमान और ईसाई हैं। हिन्दुओं में सभी हिन्दुओं की यह घर की बोली नहीं कही जा सकती। जिन लोगों की यह घर की बोली है उनमें वैश्य, विशेषकर अग्रवाल, कुछ ब्राह्मण, कायस्थ, महतर, नाई, धोबी, सर्राफ, वेश्याएँ, खटीक, ठठेरे, मछुए संगतराश, घोसी, माली, भरभूँजे, छीपी, पंसारी, पान की दुकान वाले, हलवाई, भांडौरिया, हिजड़े आदि लोग हैं। ये लोग आगरे के क़दीमी निवासी हैं कई पीढ़ियों के इतिहास का पता लगता है। इस भाषण वर्ग (Speech Community) में शिक्षित, अशिक्षित, स्त्री, पुरुष, वृद्ध, आबाल और प्रौढ़ सभी शामिल हैं।

इसके अतिरिक्त खड़ी बोली सामान्य व्यवहार की भाषा भी है। इसके अन्तर्गत उक्त व्यक्ति तो आते ही हैं परन्तु ऐसे व्यक्ति भी आते हैं जो द्विभाषा भाषी (Bilangual) हैं, जो घर में ब्रजभाषा बोलते हैं और बाहर खड़ी बोली। इस प्रकार आगरे की खड़ी बोली वह भाषा है जो घर और बाहर बोली जाती है। हमने विभिन्न पहलुओं से आगरे की खड़ी बोली को स्पष्ट करने की चेष्टा की है, वस्तुतः इसका रूप एक ही है जिसे आगरे की खड़ी बोली कहते हैं। आगरे की अन्य बोलियाँ इसके चारों ओर चक्कर

करती हैं और वे कुछ न कुछ तत्व इसे प्रदान करती रहती हैं। इस दृष्टि से यह बोली आगरे की जनता की आदर्श भाषा (norm) कही जा सकती है।

१. ध्वनि-प्रक्रिया

आगरे की खड़ी बोली में १२ स्वर तथा ३६ व्यंजन ध्वनिग्राम मिलते हैं। ये इस प्रकार हैं :—

स्वर

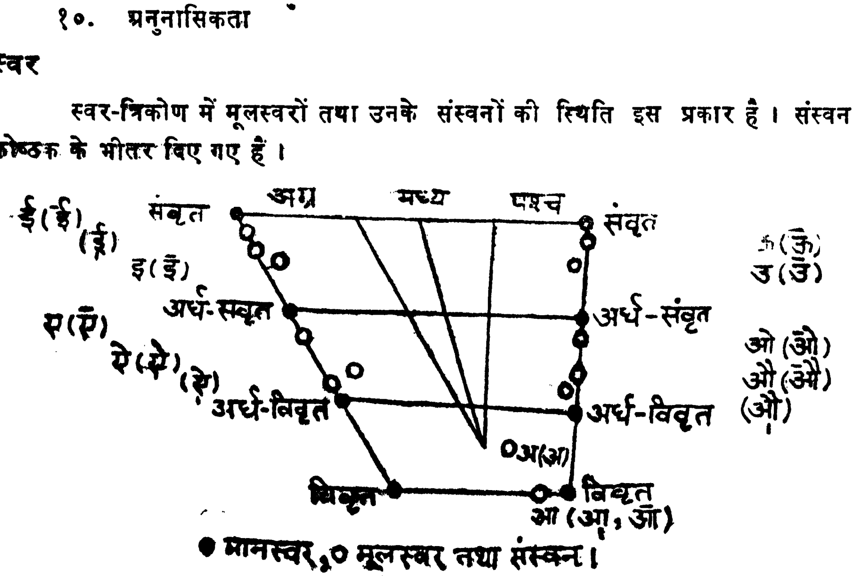
१.	मूलस्वर	:	अ आ इ ई उ ऊ ए ऐ ओ औ
२.	संध्यक्षर	:	अइ अउ

व्यंजन

३.	स्पर्श	:	क् ख् ग् घ्
			ट् ठ् ड् ढ्
			त् थ् द् ध्
			प् फ् ब् भ्
४.	स्पर्श संघर्षी	:	च् छ् ज् झ्
५.	नासिक्य	:	न् न्ह् म् म्ह्
६.	पार्श्विक	:	ल् ल्ह्
७.	लुण्ठित	:	र् र्ह्
८.	संघर्षी	:	ह् ख़् श् स् ज़
९.	अर्ध-स्वर	:	य् व्
१०.	अनुनासिकता		ँ

स्वर

स्वर-त्रिकोण में मूलस्वरों तथा उनके संस्वनों की स्थिति इस प्रकार है। संस्वन कोष्ठक के भीतर दिए गए हैं।

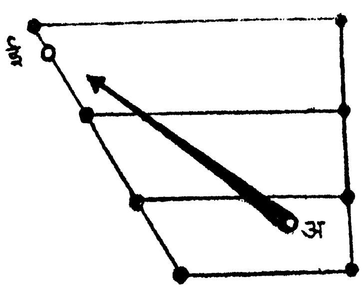


● मानस्वर, ○ मूलस्वर तथा संस्वन।

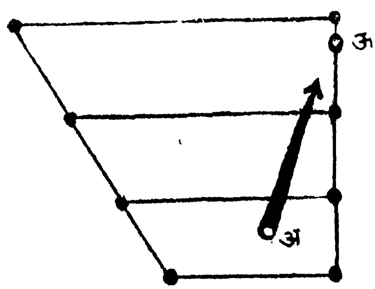
जिन संकेतों के ऊपर संकेत अंकित है वे अपने स्वर-ध्वनिग्रामों के अन्तर्गत आने वाले संस्वन हैं। ये प्राय: ख् थ् ठ् फ् छ् महाप्राण ध्वनियों के पश्चात् आते हैं और उनकी महाप्राणता से प्रभावित हो जाते हैं। जिन संकेतों के नीचे, संकेत अंकित हैं वे अपने अपने ध्वनिग्राम के अन्तर्गत आने वाले प्रधान ध्वनिग्राम की अपेक्षा ह्रस्वीभूत संस्वन हैं। जिन शब्दों में आ-स्वर आते हैं उनमें आ का ह्रस्वीभूत रूप सुनाई पड़ता है। ई-प्रधान ध्वनिग्राम का ह्रस्वीभूत रूप अघोष व्यंजनों के पूर्व आता है। औ–प्रधान ध्वनिग्राम का ह्रस्वीभूत रूप ह् के पूर्व सुनाई पड़ता है। अ को छोड़कर सभी मूलस्वर शब्द के आदि मध्य और में देखे जाते हैं। अ शब्द के आदि मध्य में तो आता है पर अन्त वह केवल उन शब्दों में सुनाई पड़ता है जिनमें अंत्याक्षर संयुक्त हो और जिसका द्वितीय व्यंजन य् और व् हो। यथा: सत्व, सत्य, तत्व। परन्तु यह अन्तिम अ प्रधान-ध्वनिग्राम की भाँति अधिक मुखर (Prominent) नहीं।

संध्यक्षर (Diphthong)

आगरे की खड़ी बोली में दो सन्ध्यक्षरों अइ अउ को देखा गया है। स्वर-त्रिकोण में जीभ की गति इस प्रकार समझनी चाहिये।



अइ



अउ

इन सन्ध्यक्षर-ध्वनिग्रामों का अन्तिम अंश प्रारम्भिक अन्त की अपेक्षा अधिक मुखर (Prominent) है अतः ये आरोही सन्ध्यक्षर (Rising diphtong) हैं। अइ सन्ध्यक्षर अधिकांशत: य् श्रुति के पूर्व सुनाई पड़ता है। यथा: भइया, मइया, तलइया आदि। कुछ शब्दों में यह य् के पूर्व नहीं आता। यथा: पइसा, अइआश, चइए, इत्यादि। अउ संध्यक्षर आ तथा अ के पूर्व आता है। यथा: नउआ, बुलुउआ, खउअटी, कउअटी। ये संध्यक्षर प्राय शब्द के आदि और मध्य में आते हैं। अन्त में कम पाए जाते हैं।

स्वर-संयोग

संध्यक्षर एक अक्षर होता है परन्तु स्वर-संयोग में प्रत्येक मूल-स्वर की पृथक सत्ता रहती है। स्वर-संयोग स्वरों का केवल समूहमात्र होता है। आगरे की खड़ी बोली में प्रचलित ये संयोग पाए गये हैं:—अई, अऊ. अए, अओ, आइ, आई, आउ, आऊ, आए,

आऐ, आओ, इऊ, इआ, इए, इओ, ईआ, उअ, उआ, उइ, उई, उए, उओ, ऊअ, ऊआ, अई, एसे, एई, ओआ, ओइ, ओई, ओऊ ओए, अइए, अइआ, अइऐ, अउआ, अउअ।

व्यंजन

हम व्यंजन-ध्वनिग्रामों की संख्या गिना आए हैं इनमें क् ग् ड् ढ् फ् न् य् व् न्ह् म्ह् ल्ह् ख् ज् तथा ँ विशेष रूप से विचारणीय हैं। शेष ध्वनिग्राम हमारी जटिलता के विषय नहीं हैं। ये शब्द की सभी स्थितियों में देखे जाते हैं। इनके संस्वन सामान्यत: नहीं देखे गए।

क् ग् फ् ध्वनिग्रामों के अन्तर्गत क्रमशः क़्, ग़् और फ़् विशेष प्रकार के संस्वन हैं। ये अरबी—फारसी के स्वतंत्र-ध्वनिग्राम हैं परन्तु आगरे की खड़ी बोली में ये अपनी ध्वनिग्रामीय सत्ता खो बैठे हैं। आगरे की खड़ी बोली में किसी का ऐसा कोई अति सूक्ष्म शब्द-युग्म (Minimal pair) नहीं मिला जिसमें अर्थ-भेद हो सके और यह कहा जा सके कि ये स्वतंत्र ध्वनिग्राम हैं। कुछ जानकार लोग और मुसलमान क़् ग़् फ़् ध्वनियाँ बोलते हैं परन्तु अधिकाँश जनता उनके स्थान पर क् ग् फ् ध्वनियाँ ही बोलती है। ये संस्वन अरबी—फारसी शब्दों में ही मिलते हैं और शब्द की सभी स्थितियों में आते हैं।

ड् ढ् य् व् ध्वनिग्रामों के अन्तर्गत आनें वाले संस्वन क्रमशः ड़् ढ़् ञ् तथा व़् हैं। इनके सम्बन्ध में भी यही कहा जा सकता है कि इनमें अर्थभेद उपस्थित करने वाले अति-सूक्ष्म-युग्म नहीं मिलते। ड़् ढ़् संस्वन सदैव स्वरों के पश्चात आते हैं। शब्द के आदि में कभी नहीं आते, मध्य तथा अन्त में आते हैं। यथा: सड़ना, पढ़ना, धड़, बढ़ इत्यादि। य्-ध्वनिग्राम के अन्तर्गत ञ् संस्वन पाया गया है। संस्कृत में जो नासिक्य ञ् है वह यही है। यह शब्द के आरम्भ में सुनाई पड़ता है और वह भी स्वर के पूर्व। यथा: ञाईं (<यहीं)। व्-ध्वनिग्राम के अन्तर्गत व़् संस्वन देखा गया है। यह शब्द की तीनों स्थितियों में सुनाई पड़ता है परन्तु स्वर के पश्चात्। यथा: विमान, च व़ल, सेव़ इत्यादि। इनके भी अर्थ-भेदक अतिसूक्ष्म-युग्य नहीं मिलते।

न्—ध्वनिग्राम के अन्तर्गत आने वाले ङ्, ं, ण् सस्वन देखे गए हैं। इनके भी अर्थ-भेदक अतिसूक्ष्म शब्द-युग्म नहीं मिलते। प्रथम कवर्ग के पूर्व मध्य में ही आता है, आदि और अन्त में कभी नहीं आता। यथा: गङ्कन आदि। संस्कृत में जिसे अनुस्वार कहा गया है वह यही है। इसके उच्चारण में कहीं भी स्पर्श नहीं होता जब कि अन्य नासिक्य ध्वनियों के उच्चारण में मुख में कहीं न कहीं स्पर्श होता है। वायु का निस्सरण मुख मार्ग से होकर नासिका मार्ग से होता है। यह संस्वन केवल य, र, ल, श, स, ह के पूर्व कुछ संस्कृतज्ञों के उच्चारण में सुनाई पड़ता है। यथा: संयम, संराधन, संलग्न, अंश, हंस, संहार, संस्कृत आदि। ण्—संस्वन शब्द के मध्य तथा अन्त में ही आता है। यदि इसके स्थान पर न् उच्चरित किया जाता है, तो अर्थभेद नहीं होता है।

इन उक्त ध्वनिग्रामों के अतिरिक्त न्, म्ह्, ल्ह्, रह्, ख्, ज् तथा ँ स्वतंत्र ध्वनिग्राम हैं, क्योंकि अति सूक्ष्म-युग्मों में ये अर्थ-भेद पैदा करते हैं। यथा: न्हाइ (स्नाकर):

नाइ (झुकाकर), न्हाइ: हाइ (<हाय)। म्हारे (<हमारे): मारे (मारे), म्हारे : ह्मारे, कुम्हार : कुमार । निल्हाई (स्नान कराया) : निहाई (लुहार का घन), सल्हा (राय) : सला (किसी चीज को भीतर डालना), सल्हा : सहा, ल्हाया : लाया । कर्‌हा (दुखी होकर आवाज निकालना) : करा (किया), कर्‌हा : कहा, इत्यादि । खाना (भोजन) : ख़ाना (विभाग) खुदाई (खोदने का काम) : ख़ुदाई (ईश्वरता)। जरा (बुढ़ापा) : ज़रा (थोड़ा।सा) नाज़ (गर्व) : नाज (अनाज), राज़ (रहस्य) : राज (राज्य) इत्यादि । माँ : मान्, हँस : हंस, काँ (<कहाँ) : कान्ह (कृष्ण), काम : काँ, चूम्ना (आलिंगन करना) : चूँना (मकान की मरम्मत का पदार्थ), काम्नी (खाद्यान्न विशेष) : काँनी (<कहानी, एक आँख की स्त्री), (चूम्ह आलिंगन किया) : चूँ (चूहों की अवाज) इत्यादि ।

व्यंजन ध्वनि-संयोग

जो व्यंजन संयोग मिलते हैं वे इस प्रकार है :—

क्क्, क्ख्, क्ट, क्त्, क्द्, क्छ, क्म् क्ल्, क्र्, क्श्, क्ह्, क्स, क्य् क्व, ख्त्, ख़्त्, ख़्त् ख्मे ख़्म्, ख्स्, ख़्स्, ख्य्, ख़्य्, ख्व, ख़्व्, ग्ग्, ग्ध्, ग्न्, ग्म्, ग्ल्, ग्र, ग्य्, ग्व्, घ्र्, घ्य्, ट्र, ट्ट्, ट्य्, ठ्ठ्, ठ्य, ड्ड्, ड्र, ड्य्, त्त्, त्थ, त्न्, त्म्, त्ल्, त्र्, त्य्, त्व्, थ्र्, थ्य, द्द्, द्ध्, द्म्, द्र्, द्य, द्व्, ध्र, ध्य, ध्व, प्त्, प्प्, प्ट्, प्न्, प्ल्, प्र्, प्स, प्य, फ्ट, फ्त, फ्फ्, फ्ल्, फ्र्, फ्ज्, फ्य फ्त्र, ब्द्, ब्ब्, ब्ज्, ब्ल्, ब्र्, ब्ह, भ्र, भ्य्, च्च्, च्छ्, छ्व्, ज्व्, ज्ज्, ज्म्, ज्य, ज्व्, ङ्क्, ङ्ख्, ङ्ग्, ङ्घ्, ंय्, ंर्, ंल्, ंश्, ंस्, ंह्, ण्य्, न्ट्, न्ठ्, न्ड्, न्र्, न्त्, न्थ, न्द, न्ध, न्च, न्ज, न्झ, न्न्, न्म्, न्य्, न्व्, म्प्, म्फ्, म्ब्, म्भ्, म्म्, म्य, म्न्, म्र्, म्य्, म्ल्, ल्क्, ल्ग्, ल्ट्, ल्त्, ल्थ्, ल्द्, ल्प्, ल्फ्, ल्ब्, ल्च्, ल्छ्, ल्ज्, ल्झ, ल्न्, ल्म्, ल्ल्, ल्व् ल्स् ल्य्. र्क्, र्ख्, र्ख़्, र्ग, र्घ्, र्त्, र्थ्, र्द्, र्ध्, र्प्, र्फ्, र्ब्, र्भ्, र्च, र्ज्, र्म, र्र्, र्श्, र्स्, र्प्, ह्म्, ह्र्, श्क्, श्ट्, श्त्, श्च्, श्म्, श्र्, श्य्, श्व्, स्क्, स्ख्, स्ख़्, स्ट्, स्ठ्, स्त्, स्थ्, स्द्, स्प्, स्ब्, स्न्, स्म्, स्ल्, स्र्, स्स् स्य, स्व्, य्ह्, व्र्, व्ह्, व्य, क्छ्य्, स्त्र्, न्त्र्, ल्ल्य, ।

सम्बद्ध भाषण में ध्वनियाँ

शब्द वाक्य या वाक्यांशों में प्रयुक्त होते हैं तो उनकी ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता है। यह सब भाषण की गतिशीलता के कारण होता है। भाषणावयव एक स्थिति से दूसरी स्थिति में आने के लिए सरलतम मार्ग का अनुसरण करते हैं, फलस्वरूप ध्वनियों में परिवर्तन हो जाता है। इस प्रक्रिया में ध्वनियाँ लुप्त हो जाती हैं, कुछों का आगम हो जाता है और कुछों का समीकरण। आगरे की खड़ी बोली में ये तीनों प्रवृत्तियाँ मिलती हैं।

लोप

ह्, घ् १ फ्, भ्, म्ह्, न्ह्, रह्, ल्ह्, म्ह्, ढ् तथा ख् महाप्राण ध्वनियों के लुप्त

होने की सामन्य प्रवृति मिलती है। यथा : ज रहे : जे रए, जा रिहा है : जा रिआ ऐ किनारे ही है। किनारे ई ऐ। बिधर जाती है : बिदर जाती ऐ, मजा बान्धीना : मजा बान्दीना, आधे घन्टे बाद : आदे घन्टे बाद। सुफेदी बगेरा की नहीं : सुपेदी बगैरा की नईं। हमें भी दे : हमें बी दे, बो भी अपनी कोससि में है : बो बी अपनी कोससि में है। जरा समझा दीजिए : जरा समजा दीजिए, बोली नहीं समझता : बोली नईं समजता। जे बिन्हों के ताईं ऐ : जे बिनों के ताँई ऐ, पूछ लो उन्हों से : पूछ लो बिनों से। कहाँ रहैता ऐ : काँ रैता ऐ, बार्‌है बजै : बारै बजे। सोल्है सेर : सोलै सेर, क्या सल्हा है : क्या सला ऐ। तुम्हीं देखो : तुमीं देखो, तुम्हारे घर : तुमारे घर। मैं कहाँ पढ़ा हूँ : मैं काँ पड़ा ऊँ, माँ गढ्डों में ई भर दें: मां गड्डों में ई भर दें। ञां चख के ले जाओ : ञां चक्के ले जाओ।

अ के लोप हो जाने की सामान्य पृवृति तीन अक्षर (Syllables) वाले शब्दों में देखी जाती है। यथा : देवता : खाली देक़ता ई देव्‌ता एँ; उससे : उस्से पैलेई कहा, पत्थर मिलता है : मिल्ता ही कहाँ, मामला : माम्ला अटक गया।

तमवन्त विशेषण (Superlative Adjective) पदों में ए-ध्वनि का लोप हो जाता है यथा: कम से कम—कमसकम, जादा ते जादा—जादातजादा आदि।
र् का लोप भी मिलता है। यथा: और: नाना का औ अपना, मैं औ तुम, रही : फैल्लई ऐ।

आगम

स्वतंत्र शब्दों अनुनासिक व्यंजनों के पश्चात या पूर्व अनुनासिकता प्राय सुनाई पड़ती है, परन्तु सम्बद्ध भाषण में भी यह प्रवृति देखी जाती है। यथा : नाना : नाँनाँ का औ अपना, अन्धों में काना—अन्धों में काँना, मकान खाली करो : माँन खाली करो, हनूमान—हनूँमाँन ऐ इत्यादि।

कुछ संयोगों में न् का आगम देखा जाता है। यथा : पाँच सात—पान्सात, आकर—आन्कर, आके—आन्के आदि।

समीकरण

पूर्व वर्ती शब्द या शब्दांश के आन्तिम र् का समीकरण परवर्ती शब्द या शब्दांश के आदि में आने वाले च् ज् ड्, न्, ल्, स् में हो जाता है। यथा : चार चार—चाच्चार, चार छे—चाच्छे, घर जाता—घज्जाता, जबरजस्ती—जबज्जस्ती, चार डबल—चाड्डबल मार डालूंगो—माड्डालूँगी, करना—कन्ना, और नँई—औन्नई, करलई—कल्लई, जवाहरलाल—जवाल्लाल, भर लाऊँ—भल्लाऊँ, फिर साब—फिस्साब इत्यादि।

पूर्ववर्ती शब्द या शब्दांश के अन्तिम स् का समीकरण परवर्त्ती शब्द या शब्दांश के आदि में आने वाले त्, ज् में होता है। यथा: तीस तीस साल—तीतीस्साल, घुसजा—घुज्जा आदि।

पूरवर्ती शब्द के आदि र् का समीकरण पूर्ववर्ती शब्द के अन्तिम ल् में होता है। यथा—फैल रही—फैल्लई, बोल रहे—बोल्लए, चल रही—चल्लई आदि।

पूर्ववर्ती शब्द या शब्दांश के अन्तिम झ् का समीकरण परवर्ती शब्द या शब्दांश के आदि में आने वाले स् में होता है यथा. मुझसे—मुस्से, सूझसा—सूस्सा गया है, मुझसा—मुस्सा।

पूर्ववर्ती शब्द या शब्दांश के अन्तिम त् का समीकरण परवर्ती शब्द या शब्दांश के आदि में आने वाले ज् च् स् में होता है। यथाः वात जि ऐ—वाज्जिए, सातजने—साज्जने, बातचीत—बाच्चीत, साल साल—सास्साल आदि।

पूरवर्ती शब्द के अन्तिम थ् का समीकरण परवर्ती शब्द के आदि में आने वाले ज् च् म होता है। यथाः हाथ जोड़—हाज्जोड़, साथ छोढ़—साच्चोड़, आदि।

पूरवर्ती शब्द के अन्तिम क् ख् का समीकरण परवर्ती शब्द के आदि में आने वाले ग् में होता है। यथाः ताक गया—तागगया, चुक गया—चुग्गया, सूख गया—सूग्गया, लिख गया—लिग्गिया आदि।

पूर्ववर्ती शब्द के अन्तिम ट् का समीकरण परवर्ती शब्द के आदि में आने वाले ड् में होता है। यथाः काट डालूँ : काड्डालूँ, चाट डालो चाड्डालो आदि।

पूर्ववर्ती शब्द के अन्तिम ग् का समीकरण परवर्ती शब्द या शब्दांश के आदि में आने वाले क् में होता है। यथाः भाग केः भाक्के, साग के पैसेः साक्के पेसे, जान करः जाक्कर आदि।

पूर्ववर्ती शब्द के अन्तिम ख् का समीकरण परवर्ती शब्द या शब्दांश के आदि में आने वाले क् में होता है। यथा—चख के—चक्के ले जाओ, लिख के—लिक्के, सीख के—सीक्के, भीख की—भीक्की आदि।

२. पद-प्रक्रिया

संज्ञा के सामान्य भेद पदार्थवाचक और भाववाचक हैं। पदार्थवाचक संज्ञा के अन्तर्गत व्यक्ति वाचक और जातिवाचक भेद हैं। संज्ञाएँ स्वरान्त भी हैं और व्यंजनान्त भी। विशेषण और अव्ययों से भी संज्ञाएँ बनती हैं। यथाः पन्च बोले इस छोटे को नहीं मिलै, छओं को मिलै (विशेषण जात संज्ञाएँ), हाइ हाइ से काम नहीं चलता, उसे बड़ी वाहवाही मिली (अव्यय जात संज्ञाएँ)। शब्दों का रूपान्तर लिंग, वचन और कारकों के कारण होता है।

लिंग

संज्ञा या तो पुलिंग होती है या स्त्रीलिंग। प्राणहीन वस्तुओं की संज्ञाएँ भी पुंलिंग अथवा स्त्रीलिंग होती हैं। संज्ञा के लिंग का बोध विशेषण-रूप, क्रिया-रूप तथा प्राणियों के लिंग से होता है। यथाः काली लम्प (विशेषण-रूप), एक पेपर निकल रहा है (क्रिया-रूप), मोर (पु), भेड़ (स्त्री०)। पुंलिंग संज्ञाओं से स्त्रीलिंग संज्ञाएँ बनने में—ई,—इया,—इन,—इनी,—नी,—अटी,—आनी—ड़ी प्रत्यय लगते हैं। आकारान्त संज्ञाओं से स्त्रीलिंग संज्ञाएँ बनाने में आकारान्त का लोप हो जाता है और—ई प्रत्यय लगता है।

यथा—बगीचा—बगीची, मगौड़ा—मगौड़ी, मटका—मटकी आदि । यदि अन्तिमाक्षर आकारान्त हो तो 'आ' का लोप हो जाता है, यदि आकारान्त के पूर्व द्वित्व के प्रथम व्यंजन तथा 'आ' का लोप हो जाता है, और यदि शब्द व्यंजनान्त हो और उससे पूर्व 'आ' हो तो वह 'अ' में परिणत हो जाता है । इस प्रकार इन परिवर्तनों के पश्चात्—इया प्रत्यय लगता है । यथा—लोटा—लुटिया, बेटा—बिटिया, चमचा—चमचिया, कुत्ता—कुतिया, कुम्हार—कुम्हरिया आदि । व्यंजनान्त तथा ईकारान्त संज्ञाओं के स्त्रीलिंग बनाने में—इन प्रत्यय लगता है । ईकारान्त संज्ञाओं के स्त्रीलिंग बनाने में—इन प्रत्यय लगता है । ईकारान्त संज्ञाओं में 'ई' का लोप हो जाता है परन्तु व्यंजनांत संज्ञाओं में व्यंजनों का लोप नहीं होता । यथा—बाघ—बाघिन स्याँप—स्याँपिन, गड़रिया—गड़्यारिन, भंगी—भंगिन, नाई—नाँइन, कोलिन आदि । कुछ शब्दों में—इनी प्रत्यय लगता है । यथा—भील—भीलनी, साँड़—साँड़िनी आदि । कुछ संज्ञाओं में नी प्रत्यय लगता है । यथा—सूअर—सुअरनी, ऊँट—उटनी आदि । कुछ आकारान्त संज्ञाओं में 'अटी, प्रत्यय लगता है, और आकारान्त का लोप हो जाता है । यथा—मींआ—मींअटी, कटुआ—कटुअटी आदि । कुछ आकारान्त, ईकारान्त तथा व्यंजनान्त संज्ञाओं में—आनी प्रत्यय लगता है । ईकारान्त संज्ञाओं में ईकारान्त का लोप हो जाता है । शेष संज्ञाओं में आकारान्त तथा व्यंजनान्त का लोप नहीं होता । यथा—मिस्रा—मिस्रानी, खत्री—खत्रानी, नौकर—नौकरानी, पंडित—पंडितानी आदि । कुछ व्यंजनान्त शब्दों में—ड़ी प्रत्यय लगता है, और व्यंजनान्त से पूर्व के दीर्घ स्वर के स्थान पर ह्रस्व स्वर आ जाता है । यथा—दाम—दमड़ी, चाम—चमड़ी ।

वचन

आगरे की खड़ी बोली में केवल दो वचन हैं—एक वचन और बहुवचन । पुंलिंग व्यंजनान्त तथा कुछ स्वरान्त संज्ञाओं में कर्त्ता एक वचन तथा बहुवचन के रूप एकसे होते हैं । यथा—दस्तकार—दस्तकार, सिपाई—सिपाई, राहु—राहु आदि । पुंलिंग आकारान्त शब्दों में कर्त्ता बहुवचन में आकारान्त का लोप हो जाता है और—ए प्रत्यय लगता है । यथा—किस्सा—किस्से, दरबज्जा—दरबज्जे, बेटा—बेटे आदि । स्त्रीलिंग आकारान्त, उकारान्त, ऊकारान्त, ईकारान्त तथा व्यंजनान्त संज्ञाओं के कर्त्ता बचन बनाने में—एँ या—ऐं प्रत्यय लगता है । ईकारान्त तथा ऊकारन्त 'इ', 'उ' में परिणात हो जाते हैं । कविता—कविताएँ, सासु—सासुएँ । —एँ, बहू—बहुएँ, अशर्फी—अशर्फिएँ । —ऐं, बात—बातें, आदि । स्त्रीलिंग ईकारान्त शब्दों में कर्त्ता बहुवचन में ईकारान्त का लोप हो जाता है और—इयाँ प्रत्यय लगता है । यथा—लड़की—लड़कियाँ, रानी—रानियाँ । सम्बोधन को छोड़कर शेष कारकों के बहुवचन में—ओं प्रत्यय लगता है । यथा—घोड़ों, हथियारों औजारों आदि । ईकारान्त शब्दों में ईकारान्त का लोप हो जाता है और—इयों लगता है । यथा—परियों; रस्सियों, वेटिओं आदि । इन प्रत्ययों के अतिरिक्त—न भी लगता है । यदि अन्तिमाक्षर ठीक हो तो वह ह्रस्व स्वर में परिणत हो जाता है । यथा—गाँम—गाँमन, मन्दिर—मन्दिरन, लुगाई—लुगाइन, मुहल्ला—मुहल्लन आदि । एक वचन से बहुवचन बनाने के लिए—आन तथा—आत प्रत्यय भी लगते हैं । यथा—कागज़—कागजात, जवाहर—जवाहारात, मालिक—मालिकान, साहब—साहबान आदि । मे

विदेशी प्रत्यय हैं। अतः आगरे की खड़ी बोली में बहुवचन के लिए इनका प्रयोग सविभक्तिक होता है। यथा—साहब—साहबानों, कागज—कागजातों आदि। संबोधन कारक में संज्ञाओं के बहुवचन के लिए—ओ प्रत्यय लगता है बस करो यदि संज्ञा ईकारान्त होती है तो ईकारान्त 'ई' में परिणत हो जाता है और—यो लगता है। ऊकारान्त उ में परिणत हो जाता है और—ओ लगता है। शेष स्थितियों में या तो स्वर का लोप हो जाता है या ज्यों का त्यों रहता है और—ओ लगता है। यथा—बच्चा—बच्चो, साधू—साधुओ, भाई—भाइयों, राजकुमार—राजकुमारो आदि। बहुवचन बनाने के लिए शब्दों में समूह वाचक शब्द—प्रत्यय भी लगते हैं। पुरुष लोग, लड़के लोग आदि।

कारक

कारक परसर्ग तथा उदाहरणों सहित इस प्रकार हैं :—

	कारक	परसर्ग	उदाहरण
(१)	कर्त्ता	०	सोग छा गिया
(२)	कर्म	०, को	सारा घी बरबाद कर दिया। कागजों को फाड़ दो।
(३)	कारक (Agent) ने, नें / उप करण (साधन) से		केकड़े ने मुझे पकड़ लिया। अब तो लुगाइन्नें जेई धरम कल्लिया ऐ। जिसे डन्डे से मारो।
(४)	सम्प्रदान	को	फिर राजा ने गरीब को बहुत दान दिया।
(५)	अपादान	से, तें	अबो घर से बाहर गए हैं। घत्तें सोल्हे कोलिया चले।
(६)	सम्बन्ध	का, के, को	छीतरिया का लम्डा ऐ। मटके औरत के खाली होगए। औरत की जात ऐ।
(७)	अधिकरण	में, पै, पर	जमुना में बाढ़ आई। घर पैई होगी। नल्पर कित्ती भीड़ ऐ।

सम्बोधन कारक में हे, अरे, अजी, अए, अबे, बे अव्ययवों का प्रयोग होता है। यथाः हे खोजे!, अरे बेवकूफ!, अजी! ज्याँ तो आओ।, अए भइया! मैं का सुनाऊँ। क्यों बे!, अबे रोशन!

विभक्तियों की दृष्टि से संज्ञाओं के वर्ग

लिंग की दृष्टि से संज्ञा की विभक्तियों को दो भागों विभाजित किया जा सकता है। इनमें से प्रत्येक के पुनः दो वर्ग किए जा सकते हैं। इस प्रकार समस्त संज्ञा-विभक्तियों को चार वर्गों में रखा जा सकता है।

पुंलिंग

इस वर्ग में 'आ' या 'आं' में अन्त होने वाली समस्त संज्ञाओं को रखा जा सकता है। इसमें तीन विभक्ति रूप होते हैं—एक बचन, बहुबचन, और तिर्यक रूप (oblique form)। तिर्यक रूप एक वचन और बहु वचन में भिन्न होता है। कर्त्ता एक वचन में कोई विभक्ति नहीं लगती जबकि कर्म एक वचन के दो रूप होते हैं। कर्त्ता बहु वचन का वही रूप होता है जो एक वचन के तिर्यक रूप का। यथा—

	एक व०		बहु व०	
कर्त्ता	मुहल्ला		मुहल्ले	
कर्म	,,	मुहल्ले को	,,	मुहल्लों को
करण	मुहल्ले ने		,,	,, ने
उपकरण	,,	ने	,,	,, से
सम्प्रदान	,,	को		,, को
अपादान	,,	से		,, से
सम्बन्ध	,,	का/की/के		,, का/की/के
अधिकरण	,,	में/पर/पै		,, पर/पै/में

उक्त वर्ग के अतिरिक्त अन्य संज्ञाएँ दूसरे वर्ग में आती हैं। इसमें कर्त्ता और कर्म एक वचन तथा बहु वचन में विभक्ति रहित होते हैं। एक वचन तिर्यक कारक अविभक्तिक तथा तिर्यक बहु वचन में —ओं या —यों विभक्ति लगती है। यथा—

	एक व०		बहु व०	
कर्त्ता	म्हैतर		म्हैतर	
कर्म	,,	म्हैतर को	,,	म्हैतरों को

स्त्रीलिंग

इस वर्ग में 'ई, इ, उ, ऊ' में अन्त होने वाली सभी स्त्रीलिंग संज्ञाएँ आती हैं। इसमें कर्त्ता और कर्म एक वचन में विभक्ति रहित तथा बहु बचन में विभक्ति सहित होते हैं। एक वचन तिर्यक रूप विभक्ति रहित तथा बहुवचन तिर्यक रूप विभक्ति सहित होते हैं। यथा—

	एक व०		बहु व०	
कर्त्ता	लड़की		लड़कियाँ	
कर्म	,,	लड़की को	,,	लड़कियों को

शेष स्त्रीलिंग संज्ञाएँ दूसरे वर्ग में आती हैं। जैसे—

	एक व०		बहु व०	
कर्त्ता	औरत		औरतें	
कर्म	,,	औरत को	,,	औरतों को

सर्वनाम

संज्ञा की भाँति सर्वनामों में भी वचन और कारकों के भेद समान हैं। सम्बोधन कारक सर्वनाम के लिए ग्राह्य नहीं है। लिंग भेद विभक्तियों द्वारा मिलता है। यथा मेरा—

मेरी, तेरा—तेरी आदि। कारकों के विभिन्न रूप प्रदर्शित करने के लिए विभक्ति और पर सर्ग दोनों का प्रयोग होता है। यथा—उत्तम पुरुष कर्म कारक एक वचन मुझे (सविभक्तिक), मुझको (पर सर्ग सहित)। विभक्तियों के स्थान पर विभक्ति रहित अथवा सविभक्तिक पदों के साथ सम्बन्ध सूचक अव्ययों का भी प्रयोग होता है। यथा—मेरे ताँई (मेरे लिये), (विश्के वास्ते आदि) कभी कभी अर्थ में विशेषता लाने के लिए एक ही रूप का अभ्यास कर दिया जाता है। यथा—किसी-किसी ने, किन्हीं-किहीं ने, आदि। इसके अतिरिक्त संयुक्त सर्वनामों (Compound Pronouns) का प्रयोग भी इस बोली की विशेषता है। यह कई प्रकार से व्यक्त होता है। कभी दो सर्वनामों के द्वारा, जैसे—जो कुछ, जो कोई। कभी 'और' के साथ, जैसे—और कौन, कोई और, और कोई आदि। सर्वनामों का एक रूप और भी है, जैसे—कुछेक, बहुतेरे, व्हौतक आदि। सादृश्य के प्रभाव के कारण सर्वनामों का प्रयोग अविभक्तिक और सविभक्तिक भी होता है, यथा—कुछ, कुछों, इत्यादि। आदरवाचक सर्वनाम 'आप' और निजवाचक सर्वनाम 'अपने' के रूप भिन्न होते हैं। पर सर्ग से पूर्व आदर वाचक 'आप' का रूप विकृत नहीं होता। बहु वचन के बोध के लिए 'लोग' या 'सब' शब्द लगाते हैं। निजवाचक 'अपना' के रूप केवल एक वचन में होते हैं। इन विशेषताओं के साथ और सब बातें लगभग संज्ञा के रूपान्तरों के समान हैं। 'मैं' उत्तम पुरुष, 'तू' मध्यम पुरुष, 'यह ये, जि, जे' निश्चयवाचक निकटवर्ती, 'वह, बो, वो' दूरवर्ती, 'जो' सम्बन्ध वाचक, 'क्या, का' तथा 'कौन' प्रश्नवाचक, कोई' तथा 'कुछ' अनिश्चय वाचक, 'आप' आदरवाचक तथा आप (अपना) निजवाचक सर्वनामों को द्योतित करने वाले हैं।

विशेषण

विशेषण-प्रक्रिया में लिंग और वचन विशेष्य के अनुसार होते हैं। यथा—अच्छी लड़की (स्त्री० ए०) अच्छा लड़का (पु० ए० व०) अच्छे लड़के (पु० ब० व०), अच्छी लड़कियाँ (स्त्री० ब० ब०) तुलनात्मक विशेषण बनाने के लिए विशेष्य की तुलना जिससे की जाती है उसके सामने 'से' रखकर विशेषण वाची शब्द रख दिया जाता है। यथा—गोकुलपुरा सेठगली से अच्छा है। विशेष्य संज्ञा और सर्वनाम दोनों हो सकते हैं और उसकी तुलना दोनों से की जा सकती है। यथा—जे उससे अच्छा ऐ आदि। तमवन्त विशेषण (Superlative) भी उसी संकेत द्वारा व्यक्त किया जाता है। अन्तर केवल इतना है कि 'से' के पूर्व 'सब, सभी, औरों' आदि शब्दों का प्रयोग किया जाता है। यथा—बो सभी से अगाड़ी रहा। कहीं कहीं 'और सब', 'वाकी सब' का प्रयोग होता है। अर्थ पर अधिक बल देने के लिए 'सब' के साथ 'ई' अथवा 'ही' जुड़ता है। यथा—सभी से।

सार्वनामिक विशेषणों के तिर्यक रूप होते हैं। पर सर्ग लगाकर सभी कारकों के रूप बन जाया करते हैं। तिर्यक रूप एक वचन में एकारान्त होते हैं। यथा—ऐसा—ऐसे, इत्ता—इत्ते। बहु वचन में —ओं लगता है। यथा—'ऐसों को', 'इत्तों कों' आदि।

संख्यावाचक विशेषण कुछ अपनी ध्वन्यात्मक विशेषता से रूप में हैं अन्यथा शेष

बातें हिन्दी के समान है। निश्चित अनिश्चित संख्यावाचक शब्दों में —ओं प्रत्यय लगता है। यथा—'छैओं, सातों, दसों, बीसों, पचासों' आदि। अनिश्चय वाची विशेषणों में —क प्रत्यय भी लगता है। यथा—'पान्सातक, आठ नौक' आदि। —'आध' या —'आद' शब्द भी अनिश्चय भाव का द्योतन करते हैं। यथा—'एकाध, एकाद' आदि। दो संख्या वाचक शब्दों के योग से भी अनिश्चय भाव व्यक्त किया जाता है। यथा—तीत्तीस्साल, पच्ची-पच्चीस्साल, बीस-तीस घर आदि।

क्रिया-पद

क्रिया-पदों की विशेषताएँ संक्षेप में इस प्रकार हैं। (१) सात धातुओं को छोड़कर समस्त क्रिया-पदों के रूप एक ही प्रकार से बनते हैं। (२) क्रिया-पद अत्यन्त विश्लेषात्मक हैं। (३) संयुक्त-क्रियाओं का विधान अधिकता से है। (४) कृदन्त रूपों का बाहुल्य है। (५) काल रूप कृदन्तों के आधार पर बनते हैं। (६) लिंग-भेद से क्रिया में विकार होता है।

क्रिया पद रचना

क्रिया-पदों का रूप संसार्थक-क्रिया-पदों (Infinitives) पर आधारित है। संसार्थक-क्रियापदों के बनाने में धातु-रूप में —ना जोड़ दिया जाता है। यथा—आ—आना चल—चलना इत्यादि। वर्तमान कालिक कृदन्त (Present participle) के बनाने में धातु के अन्त में —ता लगता है। यथा—चल—चल्ता, आदि। भूतकालिक कृदन्त (Perfect participle) बनाने में आ लगता है। यथा—चल—चला आदि। पूर्व कालिक कृदन्त (gerund) या तो अविकृत धातु के रूप में रहते हैं या धातु के अन्त में —कर, —के, —करके या —कें लगते हैं। कभी कभी धातुओं के साथ इन प्रत्ययों के पूर्व 'इ' भी जोड़ देतें हैं। यथा—खा—खाइकें आदि। धातुओं से संज्ञा या कर्त्ता-पद भी बनते हैं। इसकी रचना इस प्रकार है—धातु+ने+वाला। यथा—करने वाला। कृदन्त क्रिया-पदों (Participles) में विभक्तियों के योग से वचन और लिंग का विधान होता है। विभक्तियों के योग सामान्यतः —आ, —ए, —ईं, —ई हैं। यथा—चल—, चला, चल—चले, चल—चलीं, चल—चली। भूत कालिक कृदन्त के सम्बन्ध में ऊपर संकेत किया जा चुका है कि यह धातु+आ से बनता है, किन्तु यदि धातु के अन्त में 'आ, ई, ओं' हो तो बीच में 'य' का आगम हो जाता है। यथा—खा—खाया आदि। यदि धातु के अन्त में 'ई' है तो वह 'इ' में परिणत हो जाती है और —आ लगता है। यथा—पी—पिया आदि। इस नियम का अपकाद भी मिलता है। यथा—पी—पीआ। इन बातों के अतिरिक्त कुछ ऐसी भी धातुएँ हैं जो इन नियमों के सर्वत्र अपवाद हैं। ये 'हू, की, दी, ग (जाना)' हैं।

धातु के कृदंत रूप का प्रयोग विशेषण की तरह भी होता है। यह दो धातुओं के भूतकालिक कृदंत का संयुक्त रूप है। तथाः 'फसा हुआ', 'छिपा हुआ' आदि। वर्तमान कालिक कृतत्त से क्रिया-विशेषण भी बनते हैं। इनमें वर्तमान कालिक कृदन्त के तिर्यक रूप के साथ 'ही' अथवा 'ई' का योग होता है। तथाः चलः चलते ही। ई आदि। इसमें 'चल्ते' वर्तमान कालिक तिर्यक रूप है।

हिन्दी की भाँति इस बोली की धातुओं को दो श्रेणियों में रखा जा सकता है—मूल धातुएँ, यौगिक धातुएँ। मूल धातु वे हैं जो परम्परा से प्राप्त हैं। इन्हें चार भागों में विभक्त किया जाता है (१) संस्कृत से आई हुई तद्भव सिद्ध धातुएँ जो रूपों में मिलती हैं—१. साधारण धातुएँ; जैसे, कर (ना), काँप (ना) आदि। २. उपसर्ग युक्त धातुएँ; जैसे उपज (ना), उग (ना), आदि। (२) वे मूल धातुएँ जो संस्कृत की धातुओं के प्रेरणार्थक (णिजन्त) रूप के सिद्ध हैं। इनसे प्रेरणा का अर्थ लुप्त हो गया है, अतः ये भी अन्य सकर्मक क्रियाओं की भाँति प्रयुक्त होती हैं और प्रेरणार्थक बनाने के लिए पुनः प्रत्यय लगाना पड़ता है। यथा मर (ना): मरवाना, लिख (ना): लिखवाना आदि। (३) संस्कृत के पुनः आधुनिक काल में गृहीत तत्सम तथा अर्ध-तत्सम धातुएँ! जैसे, गरज (ना), बर्जना (ना) आदि। (४) वे मूल धातुएँ जिनकी गुत्पत्ति संदिग्ध है; जैसे पटक (ना), फड़क (ना) आदि।

यौगिक धातुओं के अन्तर्गत (१) नाम धातु, (२) मिश्रित धातुएँ, (३) अनुकार-ध्वनित धातुएँ (Repeated forms) तथा (४) आकारान्त णिजन्त धातुएं आती हैं। संज्ञापद तथा क्रिया-मूलक विशेषण को जब क्रिया-पद बनाने के लिए प्रयुक्त करते हैं तो उसे नाम धातु कहते हैं। यथा बैठ (ना), चुरा (ना), ताक (ना) आदि। मिश्रित धातुएँ वे हैं। जो किसी धातु से पूर्व कोई संज्ञा, क्रिया जाय विशेष्य, अथवा कृदंत-पद जोड़कर बनती हैं। यथाः बांट देना, कह सकना, कर जाना, खान्दे आदि। अनुकार ध्वनित धातुएँ जैसे, भड़ भड़ाना, थर थराना आदि। आकारान णिजन्त अथवा प्रेरणार्थक धातुएं जैसे, पीना : पिलवाना : सोना : सुलवाना आदि।

'होना' सहायक क्रिया के विभिन्न रूपों से काल-रचना होती है। यथा: है / ऐ, हें / एं (वर्तमान निश्चयार्थ), था, थे (भूत निश्चयार्थ), होगा, होंगे (भविष्य निश्चयार्थ) हो, होगें, (सम्भाव्य वर्तमान), होता, होते (सम्भाव्य भूत)।

काल-रचना

कालों का वर्गीकरण दो भागों में किया जा सकता है (१) साधारण या भूतकाल। यह धातु और प्रत्यय के योग से बनता है। इसके छै रूप बनते हैं। १—भूत निश्चयार्थ; जैसे :—बो गिया। २—भविष्य निश्चयार्थ; जैसे :—बो जायगा। सम्भाव्य वर्तमान; जैसे—अगर बो जाए। ४—सम्भाव्य भूत, जैसे :—अगर बो जाता। ५—वर्तमान आज्ञार्थ; जैसे :—बो जाए। ६—भविष्य आज्ञार्थ; जैसे :—तुम जाओगे (२) संयुक्त काल—यह कृदन्त और सहायक क्रिया के योग से बनता हैं। इसके दो भेद होते हैं (अ) वर्तमान काल कृदन्त+सहायक क्रिया (आ) भूतकालिक कृदन्त+सहायक क्रिया। फिर प्रत्येक के पाँच-पाँच भेद होते हैं। वर्तमान कालिक कृदन्त तथा सहायक क्रिया से मिलकर बनने वाले रूप इस प्रकार हैं—१—वर्तमान अपूर्ग निश्चायार्थ :—बो जाता ऐ। २—भूत अपूर्ण निश्चयार्थ :—बो जाता था। ३—भविष्य अपूर्ण निश्चयार्थ :—बो जाता होगा। ४—सम्भाव्य अपूर्ण वर्तमान :—अगर बो जाता हो। ५—म्भाव्य अपूर्ण भूत :—अगर बो जाता होता। भूतकालिक कृदन्त तथा सहायक क्रिया

से बनने वाले रूप इस प्रकार हैं। १—वर्तमान पूर्ण निश्चयार्थ :—बो गिया ऐ। २—भूत पूर्ण निश्चयार्थ :—बो गिया था। ३—भविष्य पूर्ण निश्चयार्थ :—बो गिया होगा। ४—वर्तमान पूर्ण सम्भाव्य—अगर बो गिया हो। ५—भूत पूर्ण सम्भाव्य—अगर बो गिया होता। इस प्रकार सब कालों की संख्या १६ हो जाती है।

कर्मवाच्य

कर्तृ से बनने वाले कालों का ऊपर उल्लेख हो चुका है। कर्म-वाच्य भूतकालिक कृदन्त के साथ जाना क्रिया के रूपों के संयोग से बनता है। यथा: दिया जाता है, पाया गया, खाया गया, किया जाना चाहिए आदि। उद्देश्य के लिंग और वचन के अनुसार भूतकालिक कृदन्त तथा 'जाना' क्रिया के रूपों में भी परिवर्तन कर दिया जाता है। पुलिंग बहुवचन में आकारान्त कृदन्त के 'आ' का 'ए' तथा स्त्रीलिंग में 'ई' हो जाता है। इस प्रकार किसी भी धातु के रूप बनते हैं। कर्म-वाच्य के जितने रूप बनते हैं उनको संक्षेप में इस प्रकार दिखाया जाता है। उदाहरण के लिए हम यहाँ 'कहना' क्रिया को लेते हैं जिसके धातु रूप 'कह' से भूतकालिक कृदंत 'कहा' बनता है। इसमें जाना क्रिया के संयोग से 'कहा जाना' आदि रूप कर्म वाच्य में इस प्रकार बनते हैं। क्रियार्थक संज्ञा :—कहा जाना। पूर्वकालिक कृदन्त :— कहा जाकर। सम्भाव्य भविष्य अन्य पु० एक व० :—कहा जाए। सामान्य भविष्य अन्य पु० एक व० :—कहा जाइगा। आज्ञार्थ अन्य पु० एक व० :—कहा जाए। अनिश्चित अपूर्ण अन्य पु० एक व० :—कहा जाता। वर्तमान अपूर्ण अन्य पु० एक वचन :—कहा जाता ऐ। भूत अपूर्ण अन्य पु० एक व०:—कहा जाता था। अनिश्चित भूत अन्य पु० एक व० :—कहा गिया। वर्तमान पूर्ण अन्य पु० एक व० :—कहा गिया ऐ। भूत पूर्ण अन्य पु० एक व० :—कहा गिया था।

प्रेरणार्थक क्रिया

प्रत्येक मूल धातु से प्रेरणार्थक क्रिया का रूप बनता है। इन क्रियाओं को दो भागों में बाँटते हैं—प्रथम प्रेरणार्थक क्रिया तथा द्वितीय प्रेरणार्थक क्रिया। मूलधातु+आ+ना के संयोग से बनती है। यथा: चल+आ+ना=चलाना आदि। द्वितीय प्रेरणार्थक क्रिया मूलधातु+वा। वा+ना के संयोग से बनती है। यथा: कर+वा। वा+ना=करवाना। करवाना आदि। एका क्षरीय धातुओं में ह्रस्व स्वर के स्थान पर दीर्घ स्वर होकर प्रथम प्रेरणार्थक क्रिया बनती है। द्वितीय प्रेरणार्थक क्रिया का भी यही नियम है। प्रथम प्रेरणार्थक क्रिया के रूपों में कहीं-कहीं गुणा भी कर दिया जाता है। यथा: काटना: कटवाना: घोलना: घुलवाना, फोड़ना: फुड़वाना आदि। इस नियम के अपवाद भी मिलते हैं। यथा: बेचना: बिकवाना, डुब्बाना:, भिगोना: भिगवाना आदि। कुछ संज्ञा पदों से प्रेरणार्थक क्रियाएँ बनती हैं। यथा: 'रिस' से रिस्याना आदि।

संयुक्त क्रिया-पद

संयुक्त-क्रिया पदों के ये वर्ग मिलते हैं। (१) पूर्व कालिक-कृदन्त-पद युक्त क्रिया पद, मृशार्थक (Intensives), शक्यता बोधक (Potentials) तथा पूर्णता बोधक प्रकारों में मिलते हैं। यथा: मारडाल्ना, गिर पड़ना (मृशार्थक) 'दौड़ सकते,' 'जा सकते'

(शाक्यता बोधक) । खा 'चुका, 'ले चुका' आदि (पूर्णता बोधक) । (२) आकारान्त क्रिया-मूलक विशेष-पद-युक्त । यथा: सोया करते, लाया करते आदि । (३) संज्ञार्थक क्रिया पद युक्त क्रिया-पद आरम्भिकता बोधक (Inceptive) अनुमति बोधक (Permissive), तथा सामर्थ्य बोधक (Acquisitives) प्रकारों में मिलते हैं । यथा: रोने लगे खाने लगा (आरम्भिकता बोधक) । करन्दो, जान्दो (अनुमति बोधक) । जाने पाए । लिखने पाए (सामर्थ्य बोधक) (४) वर्तमान कालिक तथा भूतकालिक कृदन्त पद-युक्त क्रिया-पद, निरन्तरता बोधक (Continuatives) प्रगति बोधक (Progressive), तथा गत्यर्थक प्रकारों में मिलते हैं । यथा: पढ़ती रही (निरन्तरता बोधक), चल्ती जाती (प्रगति बोधक) गाते हुए (गत्यर्थक) । (५) विशेष्य अथवा विशेषण पद-युक्त । यथा: मौज मारना, सुख पाना आदि ।

३. वाक्य-रचना

शब्द क्रम दृष्टि से आगरे की खड़ी बोली हिन्दी का ही अनुसरण करती है । शब्दों के क्रम को यदि उलट दिया जाता है तो अर्थ बदल जाता है या विचार ही पूर्णतया: व्यक्त नहीं होता । उदाहाणार्थ 'ये आठ कौड़ी की चार बातें बतलाई' वाक्य है, यदि इसे इस प्रकार कहा जाय 'ये चार कौड़ी की आठ बातें बतलाई' तो अर्थ बदल जाता है, यदि कुछ इस प्रकार हो 'चार कौड़ी ये आठ बातें भी बतलाई' तो अभिप्रेत अर्थ प्रगट नहीं होता ।

सामान्य वाक्य के निर्माण में सामान्यत: कर्त्ता, कर्म और क्रिया क्रमश: आते हैं । यथा: 'कोड़ी कलंकी लौडिया को लेगिया ।' यह क्रम संज्ञा और सर्वनाम दोनों के लिए मान्य है ।

विशेषण सामान्यत: संज्ञा या सर्वनाम के पहले ही आता है । जैसे, 'यह मेरा अखिरी वक्त है ।' विशेषण, कर्त्ता, और कर्म दोनों ही के साथ आता है और वह भी पूर्व में । कभी कभी विशेषण कर्त्ता और कर्म के बाद भी अपना स्थान लेता है । यथा: ये तो मुहल्ला गन्दा ऐ । तुमने बात कड़ी पूछी है । आदि । कभी कभी विशेषण वाक्य के अन्त में स्थान लेता है । यथा: तीन डबल का पाव भर तेल ले लो असल ।

विशेषण की भाँति क्रिया-बिशेषण भी क्रिया के पहले ही आता है । यथा: रुपया योंही गया । कभी कभी अर्थ में विशेषता लाने के लिए क्रिया-विशेषण को क्रिया के बाद भी रखा जाता है । यथा: सुसराल पौंहच गए सबेरेई, चला धीरे धीरे । कभी कभी क्रिया विशेषण मुख्य तथा सहायक क्रिया के बीच में भी आता है । यथा: किहा ऐसा करो, बल्ता अच्छा ऐ । अभिव्यक्ति की आवश्यकताअनुसार क्रिया-विशेषण वाक्य मे कहीं भी आ सकता है । यथा: चार बजे के करीब लड़का आया, पल्लँग बिन्ने अपनी बीड़ी फेंक दी, मां बैठो जी उधर ।

किसी भाव विशेष कर बल देने के लिये वाक्य में कर्त्ता, कर्म, क्रिया का क्रम बदल दिया जाता है । इसमें कर्त्ता क्रिया के बाद भी रखा जाता है । यथा: हम हैं नोकर, घर से चले बो । इसी प्रकार कर्म भी क्रिया के बाद आ जाया करता है । यथा: मूझे दो रुपए मे लाऊँ

सोना, इन्ने ई किया ऐ जे काम । किसी विशेष भाव की अभिव्यक्ति के लिए क्रिया वाक्य के मध्य या आदि में आती है । यथा: बेची थी दस के करीब, ले लीजिए ऐसे में अपने रुपए ।

यथा:—सर्वनाम के तीनों पुरुषों का क्रम सामान्यत: इस प्रकार है—उत्तम, मध्यम तथा अन्य: मैं और तुम दोनों ही फसेंगे, मेरा और उसका साथ है, तुम और वह जा सकते थे । एक से अधिक सर्वनामों या संज्ञाओं के वाक्य में जोड़ने के लिए 'और' अथवा 'या शब्दों का बीच में प्रयोग होता है । यदि दो होते हैं तो दोनों के मध्य में और यदि दो से अधिक हैं तो ये शब्द अन्तिम से पहले प्रयुक्त होते हैं । यथा: सुबह होते ही लड़का, बहू, और मेरी घरवाली काम पै चले जाते हैं, हिन्दू या मुसलमान जो कोई हो, कुम्हार म्हैतर या पन्डित कोई हो यही चाहता है । आदि ।

संज्ञा या सर्वनाम के अतिरिक्त संज्ञा के समान प्रयुक्त विशेषण कर्त्ता या कर्म के रूप में प्रयुक्त होता है । यथा: कारी बेचि दीन्हीं, छोटे के अलावा किसी ने नही किया । वाक्य या वाक्यांश भी कर्ता या कर्म के समान प्रयुक्त होते हैं । यथा: बेटा दुश्मनी करना, लेकिन खुलकर करना, चारों ओर से जेई आवाज थी कि इसे मारो, बाबूजी की घड़ी क्या ऐ कोई चीज ऐ । आदि ।

आज्ञा सूचक वाक्यों में कर्त्ता प्रच्छन्न रहता है । यथा: लड़के: चाड्डबल का दही तो ला । किन्तु यदि किसी अन्य व्यक्ति के शब्दों को किसी दूसरे से कहा जाता है तो वाक्य में आज्ञाकर्त्ता का नाम या संकेत आ जाता है । यथा: बो कहता है कि तुम अभी चले जाओ । जिसे आज्ञा दी जाती है उसे सम्बोधित भी किया जाता है और नहीं भी । यथा: ज्ञाँ आ, तुम अभी घर जाओ ।

प्रश्न वाचक वाक्यों में प्रश्न वाचक शब्द कभी वाक्य के प्रारम्भ में कभी मध्य में और कभी अन्त में आता है । यथा: क्या करंए ओ ?' काँ पे माँ ?, बो क्या आराम करंए एँ ? बौहत है क्या ? इत्यादि । कभी कभी प्रश्न सूचक शब्द वाक्य में नहीं आता । यथा: चला गया न ?, कर गया ?, टूट गई ? आदि । इन वाक्यों में रागात्मकता (Prosody) प्रश्न का द्योतन करती है ।

निषेध वाचक वाक्यों में निषेध सूचक शब्द वाक्य के आदि. मध्य, तथा अन्त में आते हैं । यथा: न्हई चिढ़ काहे की बाबूजी !, म्हाँ मत जइयो, अभी जाना मत । आदि ।

सम्बोधन-सूचक शब्द भी आदि मध्य और अन्त में प्रयुक्त होते हैं । यथा: अबे ! अबे होश में आ', लौडों बे ; क्यों बे ! सुना नहीं तूने । आदि ।

परसर्ग सदैव संज्ञा या सर्वनाम के पश्चात आते हैं । कारक रचना के अन्तर्गत उदाहरण देखे जा सकते हैं ।

विद्यापीठ संग्रहालय के हस्तलिखित ग्रंथ

१

पदमुक्तावली [सं० क्रमसंख्या २१६/५१]

ग्रंथानाम,	पदमुक्तावली,	भाषा,	ब्रज
ग्रंथ कार का नाम,	नागरीदास	लिपि,	देवनागरी
पत्र संख्या,	१५३	अक्षरों की माँप,	$\frac{१}{४}$"
आकार,	६$\frac{१}{२}$" × ४$\frac{३}{४}$"	पूर्ण,	पूर्ण
पंक्ति संख्या	१७	अपूर्ण,	×
परिमाण (अनुष्टुप छंद में)	१४६३	दशा,	उत्तम
ग्रंथ का कागज,	देशी बांसी	लिपि काल	सं० १८०१ = १७४४ ई०
सचित्र या अचित्र,	अचित्र	रचनाकाल	×
चित्र संख्या	×	लिपिकार का नाम,	छीतरराम कायस्थ
विषय	भक्ति	प्राप्ति स्थान	
गद्य-पद्य	पद्य	क० मु०	

हिन्दी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ
आगरा विश्वविद्यालय आगरा,

श्री राधावल्लभो जयति

अथ पदमुक्तावली लिष्यते । या अनुक्रम की आलाप चारी

दोहा ।

सषी भोर लषि छकि रही स्यामा स्याम सुजाँन ।
मुदी पलक अलकैं षुलीं अधर थकित मुसक्याँन ।।१।।
पुह पियरी सियरी समैं लसि दंपति सुकुवार ।
रंग भरी लपटाँनि तन अरझे हार सिंगार ।।२।।
लता भवन ललितादि सषि वजवति वीन विधाँन ।
मुदे नैंन मुसकांवही सुनि सुनि तान सुजांन ।।३।।
नींद भरे तन लट पटें छके दृगन की हेर ।
नागरिया के हिय बसौ कुंज भुरहरी बेर ।।४।।

पद राग भैंरूं ।। इकताल ।।
प्रात समैं जब कुंज द्वार ह्वै ललिता ललित वजाई वीना ।
पौढ़े सुनत स्याम श्री स्यांमा दंपति चतुर प्रवीन प्रवीना ।
अति अनुराग सुहाग परसपर कोक कलानिनि वीन नवीना ।

मध्य

पद राग केदारौ ।। ताल जात्रा ।।
जैत श्री मुरलिका वपुधरन भारतीलाल मृदु अधर सज्या विहारी ।
कवल मुष मधुर मकरंद सींचत सदा छिनक विन प्रान तजि दैन हारी ।
कृष्ण प्रिय परम संकेत हित दूतिका रास रस केलि धन कोस हारी ।
अषिल व्रह्मांड धुनि भेद व्यापक भई अमर नर नारि धृति मति विसारी ।
विस्व विजई वितन गर्व षंडन करन घर हरन घोष जन की जीयारी ।
नागरी नवल व्रज गोपिकनि हित कूंवर धराधरन नित वेन धारी ।१

ताल जात्रा

राधिका रवन की मुरलिका श्रवन सुनि भवन कौ काज तजि गवन कियौ भाविनी ।
नादवस विवस भई आंन गति छूटि गई विपन आतुर चली रूप अभिरामिनी ।
निकट पियकैं गई रसिक कर गहि लई स्यांम घन गिरधरन जुवति सौदांमिनी ।
करत रास ही केलि कंठ भुज मेलि अलि चतुर संग चतुर भुज दास की स्वाभिनी ।

ताल जात्रा

आजु मौहन रची रास रस मंडली ।
उदित पूरन निसानाथ निर्मल दिसा देषि दिनकर सुता सुभग पुलिन स्थली ।
वीचहरि ... ...

अंत

पलक मांनै एक भी अवस कीयें बकवाद ।
खूब कमावै इस्क कौं तब कछु पावे स्वाद ।।३७।।
मजा अजायब हुस्न का चाषौ चस्म जुवांन ।
इस्क चिमन राषै सोई आवादांन सुजांन ।।३८।।
चस्मौ के चस्मा झरैं झरना आब फिराक ।
इस्क इमन जब सब्ज रहै दिल जिमीन होय पाक ।।३९।।
इस्क चिमन आवाद करि इस्क चिमन कौं गाव ।
नागर घर महबूब के इस्क चिमन में आव ।।४०।।

जिगर जख्म जारी जहां निज लोहू का कीच ।
नागर आसिक लुटि रहे इस्क चिमन के बीच ।।४१।।
चलैं तेग नागर हरफ इस्क तेज की धार ।
और कटे नहि वार सौं कटैं कटे रिझवार ।।३२।।
सब मजहब सब इलम अरु सवै ऐस के स्वाद ।
अरे इस्क के असर बिन ए सबही बरबाद ।।४३।।
क्या राजा क्या पातस्याह क्या गरीब क्या गाल ।
लागे तैं छूटै नहीं नैननि बड़ौ जंजाल ।।४३।।

इति श्री पुस्तक श्री महाराज कुंवर श्री सांवंत सिंध जी विरचिते दुतिय हरि संबंध नाम श्री नागरीदास जी कृत पदमुक्तावली ग्रंथ संपूर्ण शुभमस्त ।।

श्री महाराजाधिराज महाराजा श्री गोपालसिंह जी देव की सिरकार पठनार्थे लिखतं छीतर राम कायस्थः । वर्षे भाद्र पद शुदि १३ शनिवासरे सं० १८०१ ।

टिप्पणी—

प्रस्तुत ग्रंथ, किशनगढ़ के महाराज सावंतसिंह, उप नाम नागरीदास की रचनाओं के साथ साथ अन्य महात्माओं की वाणियों का संग्रह है । वैसे इस ग्रंथ की पुष्पिका में लिखा तो "श्री नागरीदास कृत पद मुक्तावली" ग्रंथ है परन्तु इसमें अन्य महात्माओं की वाणी भी सम्मिलित है, इसी से विदित होता है कि यह स्वतन्त्र ग्रंथ न होकर संग्रह ग्रंथ हैं । यह भी संभव हो सकता है कि इसका संग्रह स्वयं नागरीदास जी ने किया हो, और उन्होंने ही इसका नाम 'पद मुक्तावली' रखा हो । इस ग्रंथ में जिन महात्माओं की बाणियाँ आई है उनकी नामावली यह है:—

नंददास ३, विहारिनदास ५, छीत स्वामी ५, शिवराम ६, वल्लभ रसिक ७, कृष्णदास ९ घासीराम १० नागरीदास १०, चत्रभुज दास ११, हरिनारायन १२, कुसल सिंह १२, आनंद घन १७, व्यास २० गोविंद प्रभु २२, परमानंद २३, भगवान हित २६ सूर २७, कुंभनदास २८, षेमरसिक २९, सूरदास मदनमोहन ३० हित हरिवंश ३२, जगन्नाथ ३४, हरिदास ३७ मानदास ४०, गदाधर ४४ रूपसिंह ४८, भगवान अलि ४९, मुरलीधर ५३, राजसिंघ ५४, लच्छीराम ५७ धोंधी ६० वृन्दावन ७३ गदाधर ७६, विद्यापति ७९, वैष्णवदास ८७ श्री भट्ट ९७ नवल सखी १०० संत सखी, १२१ गोकुलनाथ १३४, नरहरिदास १४५ । अतएव इन ४२ महात्माओं के पदों का संकलन यह प्रमाणित करता है, कि संभवतः स्वयं नागरीदास जी ने अपनी रुचि के अनुसार महात्माओं की वाणी का संग्रह करके गुटका बनाया हो, और उसका नाम पद मुक्तावली रखा हो ।

नागरी दास किशन गढ़ नरेश महाराज राजसिंह के पुत्र थे, इनका जन्म संवत् १७५६ में हुआ था । इनका वास्तविक नाम साँवंतसिंह था । ये बड़े शूरवीर थे । इन्होंने एक प्रकार की तलवार का आविष्कार किया था, जो सावंतसाही के नाम

से प्रसिद्ध है। जब इनके पिता की मृत्यु हुई तो उस समय ये किशन गढ़ से बाहर थे, फलतः इनकी अनुपस्थिति में इनके छोटे भाई बहादुरसिंह राजा बन बैठे। निदान इन्होंने उनसे युद्ध तो किया, पर उसमें कृतकार्य न हो सके। इसी समय इन्हें वृन्दावन में हरिदास जी मिले, उन्होंने इस युद्ध से इन्हें विरत किया, तब ये वृन्दावन मे रहकर भगवद्भजन करने लगे। यहीं वृन्दावन में संवत् १८२१ में इनका देहान्त हो गया। इनका एक ग्रंथ 'नागर समुच्चय' के नाम से बंबई से प्रकाशित हुआ है। इस ग्रंथ में ३ खण्ड हैं, १ वैराग्य सागर, सिंगार-सागर और पद सागर। इसमें पद सागर के अंतर्गत यह पद मुक्तावली भी है।

इस ग्रंथ की पुष्पिका में इस ग्रंथ (पदमुक्तावली) को नागरीदास कृत लिखा गया है। परन्तु नागर समुच्चय की भूमिका देखने से विदित होता है कि नागरीदास के नाम से पाए जाने वाले ७५ ग्रंथों में से सब में न तो पुष्पिका ही दी गई है, और न उनके पूर्ण होने का संवत् ही दिया गया है। उसमें जिन ग्रंथों की पुष्पिका में सम्वत् दिए गए हैं वे ये हैं:—

१—मनोरथ मंजरी (सं० १७८०), २—रसिक रत्नावली (सं० १७८२), ३—विहार चंद्रिका (सं० १७८८), ४—निकुंज विलास (सं० १७९४), ५—भक्तिसार (सं० १७९९), ६—कलिवैराग्य वल्लरी (सं० १७९९), ७—व्रज सार (सं० १७९९), ८—पारायण विधि प्रकाश (सं० १७९९), ९—गोपी प्रेम प्रकाश (सं० १८००), १०—व्रज वैकुंठ तुला (सं० १८०१), ११—भक्ति मगदीपिका (सं० १८०२), १२—जुगल भक्ति विनोद (सं० १८०८), १३—फाग विहार (सं० १८०८), १४—बाल बिनोद (सं० १८०९), १५—बन बिनोद (सं० १८०९), १६—तीर्थानन्द (सं० १८१०), १७—सुजनानन्द (सं० १८१०), १८—बन जन प्रशंसा (सं० १८१९)।

अतएव इन १८ ग्रंथों के साथ इनके निर्माणकाल दिए हुए होने से यह अनुमान किया गया है कि इन ग्रंथों के अतिरिक्त शेष ग्रंथ उनके द्वारा संग्रह किए गए हैं। इसी प्रकार के ग्रंथों में यह 'पदमुक्तावली' भी है। ग्रंथों में दिए हुए संवतों के आधार पर कहा जा सकता है कि नागरीदास जी का रचनाकाल सं० १७८० से १८१९ मिलता है। अतः इन ३९ वर्षों में ही इन्होंने इतने ग्रंथों का लेखन एवं संग्रह किया था। संवत् १८२१ में इनका देहान्त हो गया था।

इनकी कविता अष्टछाप के कवियों से अत्यन्त प्रभावित है। ये स्वयं उत्कृष्ट कोटि के कृष्ण भक्त थे। अतः इन्होंने अपनी रचनाओं में भगवान कृष्ण की नित्यलीलाओं का वर्णन बड़े रुचिर एवं विस्तृत ढंग से किया है। इन्होंने अपनी कविता में अनेक प्रकार के छंदों का प्रयोग किया है। प्रेम भावना प्रधान होने के कारण कुछ-कुछ सूफी कवियों के समान भी रचना की है। कादिर कवि की इश्कपचीसी के साथ-साथ इन्होंने दोहे भी बनाए हैं। भाषा में अलंकारों की छटा तो नहीं परन्तु उसका सुथरा पन अवश्य ही दर्शनीय है।

२

रागमाला [क्रम संख्या ३१६/२]

ग्रंथ नाम,	रागमाला	भाषा,	व्रज
ग्रंथकार का नाम,	गोपाल सिंह	लिपि,	देवनागरी
पत्र संख्या,	२६	अक्षरों की माप,	१/४"
आकार,	६१/२" × ४३/७"	पूर्ण,	पूर्ण
पंक्ति संख्या,	१९	अपूर्ण,	+
परिमाण (अनुष्टुद छंद में),	२१४	दशा,	उत्तम
ग्रंथ का कागज,	देशी, बांसी	लिपिकाल,	सं० १८०२ = १७४५ ई०
सचित्र या अचित्र, +		रचनाकाल,	सं० १७११ = १६५४ ई०
चित्र संख्या, +		लिपिकार का नाम,	
विषय,	संगीत	प्राप्ति स्थान	क० मुं०
गद्य-पद्य,	पद्य		हिन्दी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ आगरा विश्वविद्यालय, आगरा

आदि

पूजौं प्रथमहिं सारदा वहुर्‌यौ नाम गनेस ।
मन इछ्या पूरन करन विद्या देहु विसेस ।।१
हरि अरु हर बंदन करौं गुर कैं लागौं पाइ ।
होत अजान सुजान अति लषि रागनि के भाइ ।।२
हुकम भयौ गिरि मेर कौ कर्‌यौ ग्रंथ बिस्तार ।
वरनौं राग सुरागिनी तासौं होत विचार ।।३
सत्रह सै ग्यारह वरस सन चौसठि हज्जार ।
मांस असाढ़रु नवम तिथि आरंभ मंगल वार ।।४
पढ़ै गुनै याकौ सु नर लहैं सुभेद अपार ।
रसिकनि कौं सुष दैंन कौं राग समूह सिंगार ।।५

अथ षट राग वर्णनं

भैरव कोस हिंडोल पुनि दीपक श्री मेघराज ।
षट रागनि की रागिनी गावत सुर करि साज ।।६

उदाहरन

मधुमाध भैरवी वराटिका वंगालौ सिंधु एतौ पाँचों रागिनी हैं
भैरव की मानियै ।
टोड़ी गौरी गुनकली ककुभँ षभाइची लै भारजा है भली मालकोस
की बषानियै ।।
रामकली विभास विरवर देसाष जांनि कही पट मंजरी हिंडोल ही
की जानियै ।
देसी नट कानरौ केदारौ रू कमोदिनी हूं पंडित कहत उर
दीपक की आनियैं ।।७।।

मध्य

हिंडोल रागिनी

विलावली पटमंजरी रामकली देसाष ।
कहि बिभास वरनें सुकवि सुनत होत अभिलास ।।५।।

विलावली लछनं

नट नारायण देव गिरि गौरी सारँग आनि ।
याही सौं कवि कहत हैं राग विलावलि जानि ।।६।।

उदाहरन

नट अरु देवगिरि गौर के मिलाइ सुर रागिनी हिंडोल की
विलावली बषानियै ।।
दीपक की मंदजोति ससि सोभा छीन होति अरुन उदोत
होत तिहि समै गानियै ।
उज्जल उजास होत कमल प्रकाश होत दंपति सुहास होत
गति पहँचानियैं ।
गावत हैं गुनी प्रात तंत्री सुरनाई मांझ ताके सुर सुनत ही
अमृत समानियै ।।७।।

विलावली स्वरूप

अंबुज छवि पिय चित विषैं ताहि विलावलि नांम ।
पीतम सौं संकेत वदि भूषन पहरति बांम ।।८।।

उदाहरन

नांह कौ नारि लगै अति वल्लभ सोक..............

अंत

गूजरी स्वरूप

गावति छंद जु वेद के लीयें वीन कर वांम ।
सोहति है सब सषिनि मे सुंदर मूरति धाम ।।२४।।

उदाहरन

बीन मै बजावति है वेदग्र के छंदनि कौं सर्वनि में सोहति
है वारी वैस गूजरी ।
कोमल कमल दल तिनकी विछाग्रें सेज बैठी सब सषिनि
में देषियति ऊजरी ।।
गावति षेलति ग्राली ग्रापुस में हसि कहै ग्राछौ वरु चाहै
तौ वनाइ गौरि पूजिरी ।
रागिनी रसीली ग्रैसें हसति है रस ही सौं हितू हौं री तेरी
तोसौं राषति न दूजरी ।।२५।।

दोहा

कहे सदा सुर ग्रंथ मैं जे वरनै इक ठौर ।
जुदे जुदे तिन के कहे लछन भेद जु ग्रौर ।।२६।।

उदाहरन

नाभि तें उठतु है निषाद सुर गज बोलै रिजभ कौ
व्रषभ उचारै कंठ जोर तैं ।
गांधार सुरहि ग्रजा बोलति है नासिका तैं षडज कपाल तें
जु कर मोर सोर तैं ।।
मध्य तें कहत मध्य कुरच की भाषा सोई धैवतहिं देते
वाजी करत हैं घोर तैं ।
सप्त सुर कहे सुनै ग्रंथ के प्रमान जेसे पंचम कौं दादुर
रटत जीभ ग्रोर तैं ।।२७।।

इति श्री मन्महाराजधिराज महाराजा श्री गोपालसिंघ जू देव विरचिते राग समूहे मेघ मल्लार राग संपूर्ण नांम षष्टम् प्रभावः ।।६।। इति राग माला संपूर्ण ।। शुभ मस्तु ।। वर्षे ग्राश्विन शुदि ५ गुरुवासरे संवनु १८०२ ।

टिप्पणी

प्रस्तुत हस्तलेख उसी गुटके में संगृहीत है जिसके ग्रारंभ में नागरीदास की रचनायें संगृहीत हैं । ग्रंथ में छः रागों के ग्रनुसार छः प्रभाव (ग्रध्याय) हैं जिनमें क्रमश:

भैरव, मालकोश, हिंडोल, दीपक, श्रीराग, मेघराग आदि की विस्तार से चर्चा की गई है। राग का स्वरूप, उदाहरण, उन की रागिनियाँ, तथा उनके परिवार का अलग-अलग अच्छा विवेचन किया गया है। जिस गुटके में यह ग्रंथ है उसमें से पहिले वाले ग्रंथ की पुष्पिका में लिखा है कि—"पुस्तक श्री महाराज कुवार श्री सावंतसिंह जी विरचिते द्रुतिय हरि संबंध नाम श्री नागरीदास कृत पदमुक्तावली ग्रंथ संपूर्ण ।। शुभमस्त । श्री महाराजाधिराज महाराजा श्री गोपाल सिंघदेव की सिरकार पाठनार्थे लिषितं छीतराम कायस्थ:।। वर्षे भाद्रपद शुदि १३ सनिवारे सं० १८०१ ।" अर्थात् यह ग्रंथ गोपालसिंह की सरकार (रानी) के लिए सं० १८०१ में लिखा गया और इस ग्रंथ का लिपि काल है सं० १८०२ इससे यह अनुमान होता है कि यह ग्रंथ भी उसी लिपिकार का लिखा हुआ होगा। वैसे दोनों की लिखावट में कोई अन्तर नहीं जान पड़ता। दोनों की रोशनाई भी एक ही। अक्षरों का आकार प्रकार भी एक ही सा है। रागों का क्रम आदि हनुमत के मत के अनुसार रखा गया प्रतीत होता है।

ग्रंथकार का कोई परिचय इस ग्रंथ में नहीं दिया हुआ है परन्तु नागरी प्रचारिणी सभा काशी के संक्षिप्त विवरण पृष्ठ ३८ से पता चलता है कि ये (गोपाल सिंघ) बुंदेल खंड के निवासी थे। उदाहरणों की कविता साधारण है।

३

धनुषवेद

[क्रम संख्या $\frac{२१६}{३}$]

ग्रंथनाम,	धनुपवेद,	भाषा,	व्रज
ग्रंथकार का नाम,	नोने व्यास	लिपि,	देवनागरी
पत्र संख्या,	२५	अक्षरों की मॉप,	$\frac{१}{४}''$
आकार,	$६\frac{१}{२}'' \times ४\frac{३}{४}''$	पूर्ण,	पूर्ण
पंक्ति संख्या,	१७	अपूर्ण,	×
परिणाम अनुष्टुप छंद में,	२४०	दशा,	उत्तम
ग्रंथ का कागज,	देसीबांसी	लिपिकाल,	सं० १८८९ = १८३२ ई०
सचित्र का अचित्र,	अचित्र	रचनाकाल,	सं० १७५९ = १७४१ ई०
चित्र संख्या,	×	लिपिकार का नाम,	×
विषय,	धनुर्वेद	प्राप्ति स्थान,	क० मुं०
गद्य-पद्य,	पदय		हिन्दी तथा भाषा विज्ञान विद्यापीठ आगरा विश्वविद्यालय आगरा।

आदि

सिद्धः श्री गणेशायमः ।। श्री स (र) स्वत्यैनमः
अथ धनुष वेद लिष्यते ।। दोहा ।।
गुर गणेश गजपति वदन रदन धरन छवि तुंड ।
मिलित मलिंद विलंद वुधि मंद निगम सुर सुंड ।।१
वाहन हंस प्रसंस गुण अंस वीन वर दाइ ।
अरुन चरन घुंघुरि घटित बंदतु सरसुति माइ ।।२
दुर्जनसिंह नरिंद मनि हुकमु कियौ सुषपाइ ।
धनुष वेद यह संसकृत भाषा देउ बनाइ ।।३
पंडित पग नष चंद्र दस सो प्रकास हिय वास ।
धनुषवेद भाषा यहै कीनौं नौनैं व्यास ।।४
सत्रह सै अठांनवै सुकल पछ वैसाष ।
हस्त नषत गुरुवार जुत तिथि त्रोदसि सुभ साष ।।५
धनुषवेद शिव नें कह्यौ सौ पुनि भाष्यो व्यास ।
सब समझैं यातैं कर्‌यो भाषा ग्रंथ प्रकास ।।६
शिव जानत कै विश्नु प्रभु धनुष वेद कौ तत्तु ।
तिनकौं है यह प्रगट जग फलतु धर्म जौ सत्तु ।।७
की जै जौ अभ्यास तन तौ होती सब सिद्धि ।
तेई जेता जगत में सत्रु पछ की रिद्धि ।।८

मध्य

धनुष चक्र अरु कुंत सौं लरै षड्ग सौं सोइ ।
छुरिका गदारू सातवौं वाहु जुद्ध रन होइ ।।१७।।
सात भांति कौ जुद्ध यह वेद पुरान गनंत ।
सात भांत सो लरत रन आचारज सुकहंत ।।१८।।
चारि लरत हथियार सौं कहत भार्गव ताहि ।
लरैं दोइ हथियार सौं जोधा नाँउ सराहि ।।१९।।
लरतु एक हथियार सौं गनक भाषियै सोइ ।
भांति भांति गुण गण सुभट पोथिनि राषे पोहि ।।२०।।
हस्त पुनवसुं पुष्य पुनि रोहिनि नषत प्रमान ।
तीनि उत्तरा रेवती अरु अनुराधा जान ।।२१।।
कही अश्वनी सुभ नषत रवि उत्तर जब होइ ।
धनुष वेद आरंभ तब कीजै भगति समोइ ।।२१।।

जनम चंद्रमा तीसरौ छठौं सातयौं देसि ।
दसौं ग्यारहौ चंद्रमाँ सब कर्मनि सुभ लेषि ॥२३॥
तीज पंचमी सप्तमी दसमी कहियतु और ।
कही त्रियोदसि द्वादसी जे जोतिग सिरमौर ॥२४॥

अंत

संचति संपति और सुभ दंपति कौ रस रास ।
दुर्जनसिंह नरिंद कौ सदां अटल सुषवास ॥२६२॥
वसु नव मुनि ससि साल विच सुकल पछ आषाढ़ ।
चंद जनम तिथि वार गुर रच्यौ ग्रंथ गुण वाढ़ ॥२६३॥
दुर्जन सिंह नरेस प्रभु आयस दिय सविलास ।
धनुष वेद भाषा यहै कीनौं नौंनै व्यास ॥२६४॥
छमियौ कवि कोविद सबै जौ कहु जानहु चूकि ।
सुघर स्वर्ण कर लेत कर पावक पुरट पलूकि ॥२६५॥

सकल नृपति चक्र चूडामणि चक्रवर्त्ति श्री महाराजाधिराज श्री दुर्जनसिंह जी आज्ञतः ॥ कृतो नौनैं व्यासेन भाषा धनुर्वेदः समाप्तः ॥

दोहा

वसु नव मुनि ससि साल विच सुकल पक्ष आसाढ़ ।
चंद्र जनम तिथि वार गुर रच्यौ ग्रंथ गुण वाढ़ ॥१॥

टिप्पणी

कवि नौनै व्यास ने राजा दुर्जन सिंह के आश्रय में रह कर इस ग्रंथ की रचना संवत् १७९८ में की है। कवि ने सपने आश्रय दाता का वर्णन बड़े विस्तार से किया है :—

दुर्जन सिंह नरिंद बड़ चंदेरिय सुषवास ।
जिनकौ जस पसर्यौ पुहमि पूरन चंद प्रकास ॥१५८॥
विलसै दुर्जन सिंह नृप वासव वषत प्रमाँन ।
पंडित कवि मंडित सभहूँ बुध गुर सुक्र समाँन ॥२५९॥
वंस प्रसंस बुंदेल महि गहरिवार कासीस ।
दुर्जन सिंह नरिंद प्रभु जीजौ कोटि वरीस ॥२६०॥
जौ लगु धुव धर गंग थिर संग सिवा अरधंग ।
तौ लगु दुर्जन सिंह प्रभु विलसै सुष रसरंग ॥२६१॥

अर्थात् कवि के आश्रयदाता दुर्जन सिंह, गाहरवार छत्रिय चंदेरी के राजा थे, उन्हीं के समय में कवि ने इस ग्रंथ की रचना की है। इन दुर्जन सिंह की वंशावली[1] से पता चलता है कि ये प्रसिद्ध राजा देवीसिंह, (जिन्होंने मुरलीधर को भूषण की उपाधि दी थी) के पौत्र थे, इनकी वंशावली इस प्रकार है।

राजा रामशाह
|
संग्राम शाह
|
भारत शाह
|
देवी सिंह
|
दुरग सिंह
|
दुर्जन सिंह

ग्रंथ का रचना काल इस दोहे के अनुसार—

सत्रह से अठांनवै सुकल पछ वैसाष।
हस्त नषत गुरवार जुत तिथि त्रोदसि सुभ साष॥ संवत् १७९८

वैशाख शुक्ल त्रयोदशी गुरुवार है और लिपि काल—

वसु नव मुनि ससि साल बिच सुकल पछ आसाढ़।
चंद्र जनम तिथि वार गुर रच्यो ग्रंथ गुण वाढ़॥

इस दोहे के अनुसार १७९८ अषाढ़ शुक्ल पक्ष द्वितीया गुरुवार होना चाहिए। परन्तु यह विवादास्पद है, इस लिए कि इस दोहे में रच्यो शब्द आया हुआ है। और लिपिकाल इस लिए माना जाना चाहिए कि उक्त दोहा एक बार तो पुष्पिका के पहिले और एक बार पुष्पिका के बाद भी लिखा गया है। ग्रंथारंभ में जहां कवि ने अपने आश्रयदाता आदि का वर्णन किया है वहाँ उसने संवत् १७९८ में "धनुसवेद भाषा यहै कीनौं नौनैं व्यास" धनुषवेद की रचना करना लिखा है अतएव अन्त वाले उक्त दोहे को लिपिकाल ही मानना ठीक होगा।

ग्रंथ के पहिले ६३ दोहों में धनुष विद्या, उसके जानने के प्रकार, युद्ध में आने के पहिले मंत्र पाठ, धनुष का प्रकार, लंबाई, गुण, दोष आदि, फिर ३१ चौपाइयों (अर्द्धालियों) में बाण के प्रकार, उनके आकार-प्रकार, गुण-दोष, दूसरे के शस्त्रों से निवारण के उपाय, युद्ध के लिए प्रस्थान करते समय मंत्रादि का पाठ आदि बताया गया है। ग्रंथ में दोहा चौपाई, श्लोक, भुजंगप्रयात आदि छंद प्रयोग में आए हैं। कविता साधारण है।

—उदय शङ्कर शास्त्री

---

१. बुन्देल खंड का संक्षिप्त इतिहास पृष्ठ ३९२।

क० मुं० हिन्दी तथा भाषाविज्ञान विद्यापीठ आगरा विश्वविद्यालय आगरा की विदग्ध गोष्ठी का विवरण

विद्यापीठ में अनुसंधान करने वाले अनुसंधायकों को अनुसंधान की वैज्ञानिक प्रक्रिया से परिचित कराने और अपने विषय को सुचारू रूप से प्रतिपादित करने की समीचीन एकेडेमिक (सारस्वत दृष्टि देने के लिए एक अनुसंधान विदग्ध गोष्ठी का आयोजन किया गया। विद्यापीठ की स्थापना तो एक विशेष उद्देश्य से हुई है, अतएव उसका अपना लक्ष्य सामने है। विद्यापीठ ने अपने उसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए शोध का भी क्रम स्थिर कर रखा है। विद्यापीठ के नियमानुसार शोध का क्रम चार अंगों में विभक्त है:—

१. भाषाविज्ञान,
२. ध्वनि विज्ञान,
३. तुलनात्मक अध्ययन,
४. लोक साहित्य,

इन्हीं चार अंगों की परिधि में ही शोध के लिए लगभग ६० छात्र इस समय विद्यापीठ में कार्य कर रहे हैं। विद्यापीठ में जहाँ शोध के आधुनिकतम उपकरणों को जुटाया गया है, जैसे ध्वनि विज्ञान की प्रयोगशाला, जिसमें ध्वनि संबंधी सभी प्रकार के यंत्र सज्जित हैं, वहाँ हस्तलिखित ग्रंथ विभाग भी है, जिसमें, माइक्रोफिल्म रीडर, फोटोस्टैट, साथ ही विभिन्न लिपियों के हस्त लेख आदि एकत्र हैं। अतएव इन सभी उपकरणों का पूरा पूरा लाभ विद्यापीठ के क्षात्रों को मिले तथा उनका भली भाँति मार्ग निर्देशन हो सके। इसके लिए भी इस विदग्ध गोष्ठी (Seminar) के आयोजन में प्रबंध रखा गया। इस गोष्ठी की सूचना सभी शोध छात्रों एवं संबंधित व्यक्तियों को दी गई। इसमें भाग लेने के लिए विद्यापीठ के स्थानीय छात्रों के अतिरिक्त बाहर के छात्र भी आए। गोष्ठी के कार्य प्रायः एक सप्ताह चले। जो इस प्रकार थे।

गोष्ठी का समारंभ डॉ० रामकृष्णगणेश हर्षे के संयोजकत्व में ता० १६ अगस्त १६५८ मंगलवार से हुआ। जिसमें विद्यापीठ के संचालक डॉ० विश्वनाथ प्रसाद जी ने आगरा विश्वविद्यालय के उपकुलपति महोदय से गोष्ठी का उद्घाटन करने की प्रार्थना की। उपकुलपति महोदय के द्वारा गोष्ठी का विधिवत् उद्घाटन होने के अनंतर श्री संचालक जी ने अनुसंधान के सिद्धान्तों पर प्रकाश डालते हुए बताया कि अनुसंधान एक प्रकार की साधना है, इसके लिए अपने को पूर्ण समर्पण किए बिना कार्य सिद्धि संभव नहीं है।* दूसरे दिन २० अगस्त बुधवार को डा० अशोक रामचंद्र केलकर के संयोजकत्व में कार्यारंभ हुआ। जिसमें सर्वप्रथम डॉ० हर्षे ने अनुसंधान की तैयारी के लिए क्या क्या अपेक्षा होती है, इसे विस्तार पूर्वक बताया। २१ अगस्त गुरुवार को श्री वागीशदत्त पांडेय के संयोजकत्व में गोष्ठी हुई, इसी दिन दूसरी गोष्ठी में डेकन कालेज पूना के डा० कत्रे उपस्थित थे। इसमें आगरा विश्वविद्यालय पुस्तकालय के पुस्तकाध्यक्ष श्री प्रभातकुमार बनर्जी ने अपने भाषण में विस्तार पूर्वक यह बताया कि शोध कार्य के लिए पुस्तकालय का उपयोग* किस प्रकार करना चाहिए। फिर विद्यापीठ के हस्तलिखित ग्रंथ संग्रहालय के सहायक श्री उदयशङ्कर शास्त्री ने हस्तलिखित ग्रंथों के उपयोग* पर प्रकाश डाला, और उनके पढ़ने, प्राप्त करने में जो बाधाएँ आती हैं उनका भी उल्लेख करते हुए हस्तलिखित ग्रंथों के पढ़ने के उपाय बताए। २२ अगस्त शुक्रवार को श्री नटवरलाल अंबालाल व्यास के संयोजकत्व में गोष्ठी हुई जिसमें श्री प्रभातकुमार बनर्जी ने अपने पूर्वोक्त भाषण का शेषांश पूर्ण किया। शनिवार २३ अगस्त को श्री वेंकट राघव शर्मा के संयोजकत्व में गोष्ठी का कार्य आरम्भ हुआ जिसमें सर्व प्रथम डा० रामकृष्ण गणेश हर्षे ने प्राचीन लिपियों के संबंध में बताते हुए एक रेखा चित्र प्रस्तुत किया जिसमें यह स्पष्ट किया गया था कि प्राचीन लिपियों (फिनिक आदि) का हमारी वर्तमान देवनागरी लिपि से क्या संबंध है। तदनन्तर श्री उदयशंकर शास्त्री ने शिलालेखों के पढ़ने* एवं उनके छाप (Estampage) तैयार करने की विधियाँ बतलाईं। २४ अगस्त रविवार को निबन्ध गोष्ठी हुई जिसमें श्री नटवरलाल अंबालाल व्यास, श्री शत्रुघ्न भात्रि, श्री राधेश्याम त्रिपाठी आदि ने अपने अपने निबन्ध पढ़े। २५ अगस्त सोमवार को श्री जे० पार्थसारथी के संयोजकत्व में गोष्ठी का कार्यक्रम चला, जिसमें, डा० हर्षे ने शोध प्रबन्ध को किस प्रकार प्रस्तुत करना चाहिए, इस पर विस्तार से प्रकाश डाला फिर श्री गोपीवल्लभ नेमा, वि० वेंकट राघव शर्मा, श्री ब्रह्मानंद, रामबाबू शर्मा, श्री गंगाप्रसाद पाठक आदि ने अपने अपने निबंध पढ़े। २६ अगस्त मंगलवार को गोष्ठी का संयोजन प्रो० रमानाथ सहाय ने किया। इस दिन उन्होंने अनुसंधान के लिए अध्ययन तथा टीप-प्रणाली पर अपना भाषण दिया। डा० सत्येन्द्र ने धन्यवाद के

---

*अनुसंधान के सिद्धान्त, देखो......पृष्ठ १

*पुस्तकालय का उपयोग......पृष्ठ १०५

*हस्तलिखित ग्रंथों का उपयोग......पृष्ठ १२०

*शिलालेख और उनका वाचन......पृष्ठ १२६

लिए भाषण देते हुए विषय निर्वाचन तथा चित्र-रेखांकन विषय पर भी प्रकाश डाला क्योंकि प्रो० रमेशचन्द्र दुबे जी के छुट्टी पर चले जाने के कारण इस विषय पर चर्चा नहीं हो सकी थी। इन गोष्ठियों में, सर्व श्री ब्रह्मानंद, राजेन्द्र कुशवाहा रामबाबू शर्मा, गोपी वल्लभ नेमा, गंगाप्रसाद पाठक, दामोदर वाशिष्ठ, सरोज अग्रवाल, लक्ष्मी सक्सेना, चंद्रभान रावत, सुशीला धीर, मालतीदेवी, चन्द्रकला त्यागी, शत्रुघ्न भार्गव, राधेश्याम त्रिपाठी, विमला गौड़, वसुमति उपाध्याय, सत्यवती महेन्द्र, मोहनलाल, महेन्द्र सागर प्रचंडिया, मक्खनलाल शर्मा, रवीन्द्र कुमार जैन, आदित्य स्वरूप कौशिक, शंभुनाथ पाण्डेय, मुरारिलाल उप्रेति आदि अनुसंधायकों ने भाग लिया।

इन गोष्ठियों में अनुसंधित्सु छात्रों ने अपने अपने प्रबन्धों से संबंधित समस्यायों पर भी प्रकाश डाला जिन्हें उनके निर्देशकों एवं अन्य विद्वानों ने और अधिक स्पष्ट करते हुए समझाया।*

इस गोष्ठी की एक प्रमुख विशेषता यह रही कि इसके आरंभ में ही प्रसिद्ध भाषावैज्ञानिक एवं पाठ शोधक डा० कत्रे भी उपस्थित थे। और इसी अवसर पर स्वतंत्र रूप से उनके दो भाषण भी हुए जिनमें भाषाविज्ञान के नवीनतम स्वरूप की चर्चा की गई थी।

इन गोष्ठियों में से कुछ में आवश्यकतानुसार डा० सत्येन्द्र ने प्रमुख भाषण के उपरांत अपना कुछ तत्संबंधी वक्तव्य प्रस्तुत किया है। ये सभी भाषण यहाँ दिये जा रहे हैं। प्रमुख भाषण पर संख्या (१) है। पूरक पर संख्या (२)।

ये सभी भाषण टेपरिकार्डर पर अंकित कर लिये गये थे। उससे उतार कर भाषणकर्त्ताओं से उन्हें संशोधित भी करा लिया गया है।

---

*गोष्ठियों में पढ़े गए भाषण इस अंक में प्रकाशित हो रहे हैं। इसके कुछ निबंध 'भारती साहित्य' के अंकों में समय समय पर प्रकाशित हुए हैं।

भाषण—

डॉ विश्वनाथ प्रसाद

निवेदन

समादरणीय उपकुलपति महोदय, प्राध्यापक-वर्ग तथा अनुसंधित्सु-वृन्द—

क० मुं० हिन्दी विद्यापीठ प्रमुखतः एक शोध-संस्था-एक रिसर्च-इन्स्टिट्यूट है। इस संस्था में रिसर्च-संबंधी कितनी ही सुविधाएँ प्रस्तुत हैं। रिसर्च के योग्य एक उपयोगी पुस्तकालय संपन्न किया जा रहा है, हस्तलिखित ग्रंथों का आगार भी समर्थ हो चला है। लोक-साहित्य का संग्रहालय भी समृद्धि की ओर अग्रसर है। रीडर, टेपरेकार्डर, ध्वनि-वैज्ञानिक प्रयोगशाला आदि यांत्रिक साधन भी प्रस्तुत हैं। योग्य निर्देशक भी हैं। इन सब के रहते हुए भी अनेक कठिनाइयों का सामना अनुसंधित्सुओं को करना पड़ता है। कुछ कठिनाइयाँ तो आरम्भ में आती हैं—अनुसंधान का कार्य नये अनुसंधित्सुओं के लिए कुछ अटपटा सा होता है। उनके सामने अनेक प्रश्न खड़े हो जाते हैं! किस विषय का अनुसंधान करें, कैसे करें, क्या तैयारियाँ करें आदि। ये जिज्ञासाएँ लेकर बार-बार वे अपने निर्देशक के पास जाते हैं और उनके तरह-तरह के समाधान उन्हें मिलते हैं। वास्तविक बात यह है कि आधुनिक युग में अनुसंधान की कला का अच्छा विकास हो गया है। उसके बिना जाने हमारे अनुसंधित्सुओं का बहुत समय व्यर्थ नष्ट होता है। वे अपने अनुसंधान को ठीक दिशा में नहीं बढ़ा पाते, अतः अपने काम को और भी जटिल तथा दूभर बना लेते हैं। वे आवश्यक साधनों से युक्त नहीं हो पाते, क्योंकि जानते ही नहीं कि किन साधनों की कहाँ आवश्यकता होगी। क्या लिखा जाय, कैसे लिखा जाय, यह भी नहीं जानते। अतः हिन्दी विद्यापीठ जैसी शोध-संस्था का कर्तव्य हो जाता है कि वह अनुसंधान की समस्त प्रणालियाँ अपने अनुसंधित्सुओं को भली प्रकार समझा दे। इस विदग्ध-गोष्ठी का पहला उद्देश्य यही है। इसमें अनुसंधान की प्रणाली पर विचार होगा जिसमें अनुभवी प्राध्यापक तथा अनुभवी अनुसंधित्सु भाग लेंगे। इन विदग्ध-गोष्ठियों के भाषणों को बाद में अनुसंधान-प्रदीपिका के रूप में प्रकाशित कर दिया जायगा।

साथ ही इस गोष्ठी में आपके शोध-प्रबन्धों के किसी अंश को पढ़ा जायगा और उस पर भी विचार-विमर्श होगा। इससे प्रबन्धों के सुधार और एक ऊँचे स्तर को प्राप्त करने में सहायता मिलेगी।

आपकी प्रगति के विवरणों तथा आपकी कठिनाइयों पर भी विचार किया जायगा। इसमें भाग लेने वाले प्रत्येक अनुसंधित्सु को एक-दूसरे के विषयों से पूरा परिचय ही नहीं हो जायगा, एक-दूसरे से प्रेरणा भी मिलेगी। यह गोष्ठी लगभग एक सप्ताह तक चलेगी। मुझे विश्वास है कि हमारे सभी अनुसंधित्सु इससे पूरा लाभ उठायेंगे।

ऐसी उपयोगी विदग्ध-गोष्ठी का उद्घाटन करने के लिए हमारे उपकुलपति महोदय ने अपने अत्यन्त व्यस्त समय में से कुछ समय निकालने की कृपा की है। यह विद्यापीठ उन्हीं के आश्रय में विकसित हुआ है और पल रहा है। वे हमारी सभी प्रेरणाओं के मूल स्रोत हैं। अतः मैं उनसे प्रार्थना करता हूँ कि वे इस विदग्ध-गोष्ठी का उद्घाटन करने की कृपा करें।

श्री कालकाप्रसाद भटनागर

उपकुलपति, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा।

उद्घाटन भाषण

डॉ० विश्वनाथप्रसाद जी, देवियो और सज्जनो ! कन्हैयालाल मुंशी हिन्दी विद्यापीठ हमारे विश्वविद्यालय में दो साल से कायम है। उसके बारे में जनता में बहुत बड़ा भ्रम है। लोग समझते हैं यहाँ पर कुछ काम नहीं होता। हरएक संस्था कितनी फायदेमन्द है, इसके बारे में लोगों की कसौटी यही होती है कि उसमें कितने विद्यार्थी पढ़ते हैं। जिन संस्थाओं में बहुत ज्यादा विद्यार्थी पढ़ते हैं, लोग यह समझते हैं कि वे संस्थाएँ बहुत ही उच्चकोटि का काम कर रही हैं। यह संस्था जैसा कि डॉ० विश्वनाथप्रसाद जी ने बताया मूलतः रिसर्च संस्था है। इसी के लिए यह खोली गई है अर्थात् रिसर्च कराने के लिए। लेकिन यूनिवर्सिटी ग्रांट्स कमीशन के जो सदस्य यहाँ आये थे, उनका विचार यह हुआ कि सिर्फ रिसर्च कराना ज्यादा फायदेमन्द नहीं होता। रिसर्च के साथ-साथ थोड़ा पढ़ाने-लिखाने का भी काम किया जाय। एक बात जिस पर श्री मुंशी जी अपने विचार बहुत ही खास जोर के साथ रखते थे वह यह थी वे चाहते थे कि दक्षिण भारत के लोग यहाँ आकर हिन्दी सीखें और यहाँ के लोग दक्षिण भारत की भाषाओं को सीखें। ताकि दक्षिण भारत और उत्तरी भारत के अन्दर जो इमोशनल डिसइन्टिग्रेशन (भावनात्मक छिन्नता) है उसके कम होने में हमको कामयाबी हो। यह मानी हुई बात है कि हम उत्तर प्रदेश के रहने वाले लोग बहुत कम दूसरे प्रान्तों की भाषाओं को जानते हैं। एक बार श्री मुंशी ने मुझसे जिक्र किया था कि एक महाशय पी-एच० डी० का थीसिस लिख रहे थे। वे हिन्दी में लिख रहे थे और उनका विषय 'लघु कहानी' था। मुंशी जी ने उनसे पूछा कि आपने बंगला की लघु कहानियाँ पढ़ी हैं—उन्होंने कहा नहीं, गुजराती की शार्ट स्टोरीज पढ़ी हैं—उन्होंने कहा नहीं। मराठी की शार्ट स्टोरीज पढ़ी है—उन्होंने कहा नहीं। तो फिर उन्होंने कहा आपने क्या पढ़ा है और क्या आपकी थीसिस में होगा। ऐसी बहुत सी बातों को ध्यान में रखते हुए ही इस हिन्दी विद्यापीठ का जन्म हुआ। इसके साथ-साथ हिन्दी विद्यापीठ में एक नया विषय और है जो कि हमारे प्रान्त के

किसी अन्य विश्वविद्यालय में नहीं पढ़ाया जाता है। इसको हम अंग्रेजी में लिंग्विस्टिक कहते हैं। इसको पढ़ाने का भी हमने इन्तजाम किया है, इसकी लेबोरेटरी बन रही है। उसके साथ-साथ यह भी प्रबन्ध हमने किया है कि बहुत से ग्रंथ जो हस्तलिखित ही हैं उनको ढूँढा जाय और उनको छपवाया जाय। ऐसी बहुत सी चीजें हैं जो हम विद्यापीठ में कर रहे हैं या करना चाहते हैं। अभी तो इसकी शुरूवात ही है। और एक उर्दू में मसल आती है कि : जुम्मा जुम्मा आठ दिन अभी इसके हैं। अभी सिर्फ हमारा पहला बैच एम० लिट० का पास हुआ है, इसी साल। किसी संस्था के सम्बन्ध में इतनी जल्दी कहना कि इसमें क्या काम हो रहा है, रुपया बहाया जा रहा है, नुकसान हो रहा है—यह सब गलत बात है। संस्था जब शुरू में कायम होती है तो बहुत छोटी सी हालत में शुरू होती है और फिर बढ़ते-बढ़ते बहुत बड़ी संस्था हो जाती है। मैं जिस कालेज में पढ़ाता था, उसमें हमने जुलाई सन् १९१९ में ७० विद्यार्थियों से कालेज का काम शुरू किया था। और जब मैं उस कालेज को छोड़कर आया तो करीब ६००० विद्यार्थी उसमें पढ़ते थे। इस विद्यापीठ को सफल बनाने के लिए इस बात की जरूरत है कि हम लोग यह जानें कि विद्यापीठ का उद्देश्य क्या है। और यह जो सेमिनार या गोष्ठी आप कर रहे हैं रिसर्च के बारे में, यह बहुत ही अच्छी चीज है। हरएक काम जो पढ़े-लिखे आदमी करते हैं बेपढ़े-लिखे लोग समझ नहीं सकते। मैं स्वयं तो अब तक बहुत सी बातें जो इस विद्यापीठ में होती हैं—उनको नहीं समझता। वस्तुतः मुझे कुछ जरूरत भी नहीं है उसे समझने की। उसे समझने के लिए डा० विश्वनाथ प्रसाद और उनके साथी और प्रोफेसर्स हैं—वे काफी हैं। मुझे आज बहुत खुशी है कि मैं आप सब के सामने इस गोष्ठी का उद्घाटन करने आया हूँ। गोकि यह बात मैं जरूर समझता हूँ कि मैं इस काबिल नहीं हूँ कि इसमें कोई भाग ले सकूँ। लेकिन चूँकि डाक्टर साहब ने मुझसे कहा था कि आपके आने से यहाँ के विद्वान लोगों में उन लोगों में जो कि यहाँ इकट्ठे हुए हैं, एक उत्तेजना आ जायगी तो मैंने यह दायित्व स्वीकार कर लिया। मैंने कहा कि चलिए मैं भी थोड़ा साथ आपका दे सकता हूँ। इन चन्द शब्दों के साथ में ईश्वर से प्रार्थना करता हूँ कि आज जो कार्य आप शुरू कर रहे हैं, उसमें आपको पूरी सफलता प्राप्त हो।

डॉ० सत्येन्द्र

अनुसंधान के सामान्य तत्त्व*

आज का विषय अनुसंधान के सिद्धान्तों से सम्बन्ध रखता है। हम अनुसंधान करते हैं, शोध करते हैं, गवेषणा करते हैं, क्या उसके सिद्धान्त हैं, या हो सकते हैं? इस पर हमें विचार करना था। जैसा कि अभी हमारे विद्वान् वक्ता—हमारे संचालक महोदय ने आरम्भ में बतलाया था कि वस्तुतः अनुसंधान या गवेषणा एक ऐसी वस्तु है जिसके सम्बन्ध में कोई शाश्वत सिद्धान्त बनाकर नहीं चला जा सकता। और प्रत्येक व्यक्ति को, जो अनुसंधान में प्रवृत्त होता है अपनी मनोवृत्ति, अपनी तपस्या और साधना के अनुसार और अपने संस्कारों के अनुसार अपने अनुसंधान के लिए सिद्धान्त प्रस्तुत करने पड़ते हैं। यही कारण है कि एक व्यक्ति एक प्रकार की वस्तु का अनुसंधान करता है, दूसरा व्यक्ति दूसरे प्रकार की वस्तु का अनुसंधान करता है। और यह कभी संभव नहीं है कि एक व्यक्ति जिस वस्तु का अनुसंधान कर रहा है, दूसरा व्यक्ति भी उसी प्रकार से उस वस्तु का अनुसंधान प्रस्तुत कर सके, क्योंकि जो व्यतिगत भेद है वह मूल प्रवृत्ति के अन्दर प्रस्तुत है। और यहीं पर उसकी व्यक्ति-निष्ठता होती है अन्यथा अनुसंधान का सारा क्षेत्र व्यक्तिपरक न रह कर वस्तुपरक हो उठता है। ऐसा होते हुए भी कुछ सामान्य वस्तुएँ या तत्व या बातें ऐसी हैं कि जिन का ध्यान रखना प्रत्येक अनुसंधित्सु के लिए आवश्यक होता है। उन पर अभी पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। लेकिन मैं एक प्रकार से उनको दुहराता हुआ संभवतः उसमें कुछ अपनी भी बात कह दूँ। वह यह कि अनुसंधान के विषय का और क्षेत्र का चुनाव, अनुसंधान के लिए बहुत आवश्यक है। यद्यपि यह ठीक है कि जो प्रकृत अनुसंधित्सु होते हैं, उनमें स्वभावतः ही किसी बात को जानने की प्रबल जिज्ञासा पैदा होती है। फलतः वे उसका अनुसंधान करने के लिए आगे बढ़ते हैं। ऐसे प्रकृत अनुसंधाताओं के सामने तो विषय अपने आप प्रस्तुत हो जाते हैं। यह भी सच है कि उनके कार्य को हम "एकेडैमिक रिसर्च वर्क" नहीं कह सकते। वह तो सहज ही अनुसंधान में प्रवृत्त होते हैं। न्यूटन किसी यूनिवर्सिटी की डिग्री प्राप्त करने के लिए अथवा किसी आर्गनाइज्ड या व्यवस्थित सघ के आधीन रिसर्च करने के लिए प्रवृत्त नहीं हुआ था। प्राकृतिक व्यापार को देखकर उसके मनमें एक अदम्य जिज्ञासा पैदा हुई जिससे विकल

---

*मूलभाषण विद्यापीठ के संचालक डा० विश्वनाथ प्रसाद का था। वह अन्यत्र निबंध के रूप में दिया गया है। देखिये पृष्ठ

हो वह उस व्यापार के रहस्य को उद्घाटित करने के लिए प्रयत्नशील हुआ और उसके पीछे पड़कर उसने उस फल को प्राप्त कर लिया। यह प्रवृत्ति प्रकृत या स्वभाव कही जायगी। यदि इस प्रकृत प्रवृत्ति को, मैं समझता हूँ, गुरु मिल जाय तो बहुत ठीक, न गुरु मिले तो भी वह निगुरा ही अथवा स्वयं अपना गुरु बनकर आगे बढ़ता है, और आगे गुरु पैदा कर लिया करता है। हम लोग, यहाँ बैठकर रिसर्च की बात करते हैं तो उस प्रकार की रिसर्च की बात नहीं करते हैं। हम तो एक व्यवस्थित रिसर्च की बात कर रहे हैं। निश्चय ही हम उन प्रकृत अनुसंधान करने वाले व्यक्तियों अथवा गवेषणा करने वाले व्यक्तियों के मार्गों को देखकर आज अनुसंधान का एक स्वरूप खड़ा कर सकते हैं। उन्हींके आधार पर व्यवस्थित प्रणाली निर्धारित करके यह कहा जा सकता है कि अनुसंधान में भी एक सिद्धांत हो सकता है। अतः विषय के निर्वाचन में हम आज उतने स्वतन्त्र नहीं। किसी अनुसंधान विषय के लिए हमको एक व्यवस्था के अन्तर्गत रिसर्च प्रस्तुत करनी होती है। उस व्यवस्था में हमको निर्देशक की आवश्यकता पड़ती है।ऐसे अनुभवी व्यक्तियों की आवश्यकता होती है, जो उस अनुसंधान के क्षेत्र से परिचित हैं और बता सकते हैं कि कौनसा विषय कहाँ-कहाँ पर किस-किस रूप में प्रस्तुत हो रहा है और उस या उन विषयों में अब कितना क्षेत्र अनुसंधान योग्य शेष है। उस क्षेत्र को लेकर भी यदि आप प्रवृत्त हों तो आप संभवतः या तो कुछ नई बातें निकाल कर दे सकेंगे, या कुछ सर्वथैव नयी शैली में प्रस्तुत कर सकेंगे, एक नये रूप में नयी व्यवस्था सहित उसको दे सकेंगे। हम जो विषय चुनें उसके संबंध में यह ध्यान रखना आवश्यक होता है कि या तो हम क्षेत्र के विस्तार की दृष्टि से चुनें। एक चीज को हम लें और उसके विस्तार के साथ पूरे क्षेत्र में जितना भी उससे सम्बन्धित हमारा क्षेत्र है उसको देखें। इस प्रकार से क्षेत्र का विस्तार, और फिर क्षेत्र का एक संकोच दोनों ही चीजें हमें ध्यान में रखने की आवश्यकता होती है। कितने ही जो विज्ञ अनुसंधानकर्त्ता है वे बतलाते हैं कि जहाँ तक हो सके क्षेत्र छोटा होना चाहिए। छोटा क्षेत्र चुनने का यह अभिप्राय नहीं है कि उस क्षेत्र में हमें कुछ करने के लिए नहीं है। छोटे क्षेत्र में गहराई भी अधिक मिलती है और विस्तार भी हो सकता है। उदाहरण के लिए हम किसी एक लोक-कथा को लें। तो उसका क्षेत्र छोटा तो हो गया, क्योंकि हमने एक ही लोक-कथा ली है। सभी या बहुत सी लोक कथाएँ नहीं लीं। पर इस छोटे क्षेत्र में गहराई भी हो सकती है और विस्तार भी। गहराई की दृष्टि से हम लोककथा के अनुसंधान में—

१—उसके निर्मायक तत्वों का विश्लेषण

२—उन तत्वों के स्रोतों और

३—उनके मर्मों का उद्घाटन

४—उनके साथ संलग्न लोक-मानस

५—उनकी पृष्ठभूमि के लोक-विश्वास और लोक दर्शन तथा

६—उनमें कथा-तत्व आदि का समावेश कर सकते हैं। यों गहरे सेगहरे उतरते जा सकते हैं। लोक-कथा में संस्कृति और नृतत्व के इतिहास को भी खोज सकते हैं। पर दूसरा

मार्ग अनुसंधान का विस्तारवादी भी हो सकता है। जैसे बेनफे ने कुछ कहानियों की एक स्थान से दूसरे पर जाने की यात्रा का अनुसंधान किया, आप उस एक लोक-कथा के रूप और रूपान्तरों का क्षेत्रीय विस्तार की दृष्टि से अनुसंधान कर सकते हैं, और समस्त विश्व की लोकवार्ता में उस 'कथा' के स्वरूप का उद्घाटन कर सकते हैं। इस प्रकार कुछ छोटे या सीमित विषयों का ऐसा क्षेत्र-विस्तार भी हो सकता है। इसके लिए आपको बहुत यात्रा करनी पड़ेगी। और यहाँ से होकर वहाँ तक पूरे क्षेत्र में आपको यात्रा करनी पड़ेगी। उस यात्रा के लिए कितने ही प्रकार के साधनों का हम लोग उपयोग कर सकते हैं, जैसे अभी संकेत किया गया कि हम प्राइमरी स्कूलों के अध्यापकों का, सरकारी कर्मचारियों का और अपने जो अन्य भी साधन है उनका, अनेक प्रकारों से उपयोग कर सकते हैं। वहाँ के रहने वालों से संपर्क स्थापित कर के हम उनका उपयोग कर सकते हैं। लेकिन यह छोटा क्षेत्र है, फिर भी विस्तृत क्षेत्र है। लेकिन कभी-कभी यह छोटा क्षेत्र गहरा क्षेत्र भी हो सकता है। लोक कथा के गहरे अध्ययन की बात ऊपर बताई जा चुकी है। किसी एक कवि की रचना को लेकर उसके कई क्षेत्र बनाये जा सकते हैं जैसे—तुलसीदास को लिया। तुलसीदास के अंदर किसी ने उनकी रूपक प्रणाली को लिया। सूरदास जी को लिया, उनकी रूपक प्रणाली को लिया या उनकी प्रतीक प्रणाली को लिया। उनके वात्सल्य को लिया। इसके लिए हमें इतना विशेष बाहर जाने की जरूरत नहीं होती। परन्तु सूरदास के अथवा तुलसीदास के मानस में जितने गहरे हम उतर सकते हैं, उतना पूरी गहराई में हमें उतरने की आवश्यकता होगी। इसका भी जैसा कि विविध रूपों में बताया गया, स्तर होता है, हम इसी एक चीज़ को अनेक स्तरों पर, ऐतिहासिक आधार पर, दार्शनिक आधार पर, आध्यात्मिक आधार पर, भाषा के अवयवों के आधार पर, साहित्यिक मूल्यों के आधार पर हम इनका विचार प्रस्तुत कर सकते हैं। अतः पहिली बात जो हमारे सामने आती है वह है विषय का चुनाव। जहाँ तक हो सके वह इस दृष्टि से होना चाहिए कि वह छोटा तो हो लेकिन उसको हम परिपूर्णता के साथ प्रस्तुत कर सकें। यह ठीक है जैसा कि अभी बतलाया गया कि संसार में परिपूर्णता का कोई दावा नहीं कर सकता और कोई भी अनुसंधित्सु और कोई भी विद्वान यह नहीं कह सकता कि उसका ज्ञान परिपूर्ण है, अंतिम है। लेकिन वह यह कह सकता है कि अपनी चेष्टाभर उसने उसमें परिपूर्णता लाने की चेष्टा की है। परिपूर्णता जिसे कहते हैं उसमें वह सामथ्र्यानुरूप पूर्णता आनी चाहिए। इसका अर्थ यह है कि जो विषय उसने लिया है, उसे यह बताना चाहिये कि उस का अध्ययन उसके पूर्व किसी ने किया या नहीं, किया तो उसका स्वरूप कब कब क्या क्या रहा। दूसरे शब्दों में उसके अध्ययन के इतिहास का उसे पता होना चाहिए, तथा वह बतला सकता है कि वह जो कुछ कहने जा रहा है, वह कहाँ तक नयी देन है, या न्यू कंन्ट्रीब्युशन है। उसके इतिहास के ज्ञान के साथ उसके पूरे क्षेत्र का भी उसे ज्ञान होना चाहिए। यानी अपने विषय के भौगोकिक क्षेत्र का भी परिचय उसे होना चाहिये। यह परिचय भी यथासंभव प्रामाणिक होना चाहिये। यहाँ तक की बातों को दुहरायें तो कह सकते हैं कि पहली बात है, विषय। विषय जहाँ तक हो सके, सीमित हो, संकुचित हो, लेकिन इतना उसका क्षेत्र हो, कि हमें

उस पर काम करने के लिए, उसमें कोई नई बात प्राप्त करने के लिए, पूर्ण अवकाश हो। दूसरी बात है परिपूर्णता की। मैं समझता हूँ सिद्धांततः यह आवश्यक होता है कि जो जिस विषय पर अनुसंधान करने जा रहा हो उसको उसके इतिहास का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए, और उसमें उसकी पूरी पैठ तथा निष्ठा होनी चाहिए। उसे अपनी ओर से यह कहने में संकोच न हो कि मैंने उसको अपनी शक्ति भर पूर्ण बनाने की चेष्टा की है। तीसरी बात सिद्धांततः यह है कि उक्त बातों के साथ साथ जहाँ तक उससे बन पड़ा है वहाँ तक उसने प्रतिपादन को वस्तुनिष्ठ बनाने की चेष्टा की है। वस्तुनिष्ठ बनाने और व्यक्तिपरक न होने देने के माने यह नहीं कि उसमें उसका अपना व्यक्तित्व नहीं रहेगा या उसमें प्रस्तुत ज्ञान उस व्यक्ति से नितांत असंबद्ध हो जायगा। ऐसी बात नहीं है, लेकिन जो मूल बात है वह यह है कि कहीं आप विषय-वस्तु को व्यक्तिपरक समझ कर असंगत भावना में न बह जाएँ और व्यक्तिगत ऐसे ही निष्कर्ष आप प्रस्तुत न कर दें। अधिकांशतः जिनकी न परीक्षा ठीक हुई होती है और न जिनके लिए प्रमाण मिलते हैं, न जिनके लिए कोई इतिहास हमारे सामने प्रस्तुत होता है ऐसी बातें भी हम लिख देते हैं। क्योंकि मुझे कोई चीज जँच रही है कि वह इस प्रकार की है, या मुझे कुछ लिखना है, इसलिए मैंने कुछ भी लिखकर उसको प्रस्तुत कर दिया। ऐसी व्यक्ति-परकता वर्जित है। क्योंकि इसमें अप्रामाणिकता, अनर्गलता, विरोधान्वय, वस्तुक्षति ज्ञानक्षीणता, आदि दोष स्वयमेव आ जाते हैं। आप किसी 'सत्य' का उद्घाटन करने के लिए ही प्रवृत्त हुए हैं। उसके लिए ही आपका अनुसंधान या गवेषणा है। वह 'सत्य' ज्ञान का सत्य है। भाव का सत्य भी ज्ञान का सत्य होकर आना चाहिये। वस्तु-निष्ठ होने का अभिप्राय यह है कि जिस बात को आप कहें वह भले ही ही आपकी व्यक्तिगत धारणा हो लेकिन वह बाहरी प्रमाणों से, इतिहास से, युक्तियों से इस प्रकार से पुष्ट हो कि वह आपकी व्यक्ति-निष्ठ न रहकर वस्तुनिष्ठ प्रतीत हो। यह एक बहुत बड़ी चीज है। यदि हम इसको ध्यान में नहीं रखते तो प्रत्येक अनुसंधान-प्रबंध या तो कविता बन जायगा या हलकी काव्यात्मक भावनाओं का या भावावेशों का उद्गार मात्र हो जायगा। साहित्यिक अनुसंधानों में इस प्रकार की व्यक्ति-निष्ठता का बहुत भय होता है। मान लीजिए सूरदास जी पर आप प्रबंध लिख रहे हैं या लोकसाहित्य पर लिख रहे हैं तो इसमें आपको अनेकों भावोत्कर्षक स्थल मिलेंगे। अब यदि आप ऐसे स्थलों पर अपनी मुग्धता या अपने ही भावावेश का वर्णन करने लग जायेंगे, या अपने आनंद के आस्वाद को ही लेखनीबद्ध करने लगेंगे तो आप सूर या लोकसाहित्य के सत्य का उद्घाटन नहीं कर रहे होंगे। आप उसकी प्रतिक्रिया में अपनी अनुभूति या अपने आनंद के सत्य का वर्णन कर रहे होंगे। यदि इसे थीसिस कहें तो फिर इसे एकेडेमिक तो, कम से कम, नहीं कहा जा सकेगा। तो इसलिए यह बहुत आवश्यक है, हम उसको इस प्रकार की व्यक्तिपरकता से बचायें और वस्तुनिष्ठ बनाने की चेष्टा करें। वस्तु के स्वरूप को हृदयंगम करें, उसका विश्लेषण कर वस्तुरूप में उन तत्वों को उद्घाटित करें जिनसे उसका निर्माण हुआ है, उन तत्वों का वर्गीकरण करें, उनके इतिहास, स्रोत और विकास को देखें, उसमें सौन्दर्य के मूल्य का निरूपण करें। वस्तुनिष्ठ बनाने के साथ ही उसकी वैज्ञानिकता का

सम्बन्ध है। हम जो प्रबंध प्रस्तुत करें वह वस्तुनिष्ठ तो हो ही। उसे वैज्ञानिक स्तर भी प्राप्त हो। और वैज्ञानिक स्तर प्राप्त करने के लिए मैं समझता हूं कि जहाँ इस प्रकार की परिपूर्णताकी जरूरत है वहाँ उसमें युक्त वस्तुनिष्ठता या युक्तियुक्तता होने की भी तर्क युक्तता आवश्यकता है, कार्य-कारण परंपरा में गुथे होने की आवश्यकता है। इस बात की बहुत आवश्यकता है एक पुष्ट कार्य-कारण परंपरा में बांध कर आप अपने अनुसंधान को चलायें। कार्य-कारण की पुष्ट परंपरा इसलिए कि 'तर्क-प्रणाली' में भौतिक कार्य-कारण परंपरा के जैसा ठोस धरातल नहीं होता। अतः यह सावधानी रखने की आवश्यकता है कि प्रत्येक युक्ति और उसका आधार यथा संभव निर्भ्रम हो। उसमें कोई लाजिकल फैलेसी (Logical fallacy): या तर्क-दोष न हो। यह तार्किक विचारणा की एक परंपरा रिसर्च के कार्य में अवश्य होनी चाहिए। इस परंपरा का जहां हमें अभाव दिखलाई पड़ता है वहीं मालूम पड़ता है कि या तो इसका एकेडैमिक स्तर गड़बड़ा रहा है या कि लेखक उसके साथ ईमानदारी नहीं बरत रहा; अपने विषय के साथ ईमानदारी नहीं कर रहा है, या वह स्वयं अपने साथ ईमानदारी नहीं कर रहा है और टालने के लिए या प्रमाद में या हलके रूप में इस कामको समाप्त करने के लिए इसको इस प्रकार से वह प्रस्तुत कर रहा है। यह भी कहा जा सकता है कि संभवतः उसमें उस स्तर तक पहुँचने की क्षमता ही नहीं है। क्षमता का न होना बहुत भयानक कमी है।

वास्तविक महत्व की बात यह है कि आप ठोस रूप में ठोस निष्कर्षों के रूप में प्रत्येक बात लिखें। ऐसे निष्कर्षों के रूप में जिनको कि आपने प्रमाण से पुष्ट कर रखा है, जिनको कि आपने युक्ति से सिद्ध कर रखा है और जिनको कि आपने, अगर आपके पास ऐसी अपेक्षित मेधा है कि आप उसे अधिक से अधिक गणितीय अंक-संकलन, रेखा-चित्रांकन आदि संपुष्ट बनाकर के आपने प्रस्तुत किया है। इन्हें ही आपने अपने अनुसधान में स्थान दिया है। में इस बात को मानता हूँ कि साहित्य को भी मैथैमैटिकल स्तर पर प्रस्तुत किया जा सकता है। गणितीय विधान से साहित्य का भी अध्ययन प्रस्तुत किया जा सकता है, और उनका उपयोग अनेकों प्रकार से होता है। यह भी हो सकता है कि कोई कहे साहित्य की तो इस तरह से आप हत्या ही कर देना चाहते हैं तो फिर उसमें रस ही नहीं रह गया, साहित्य ही क्या रह गया? पर यथार्थ बात यह है कि जब डाक्टर शरीर की चीर-फाड़ करता है, तो वह न स्पंदन की चिंता करता है, और न रक्त की चिंता करता है, और न वह यह सोचता है कि उसमें प्रेम की धारा बहरही है उस मनुष्य में या करुणा की धारा बह रही है या इसमें घृणा की धारा बह रही है। वह तो अपना काम करता है। तो जो अनुसंधित्सु है वह भी जब तक रस की ही बात न करें, रस के ही ऊपर जबतक विचार न करें तब तक उसको विज्ञान के अन्दर बाँध कर, गणित के अन्दर बाँध कर, रेखाओं के अन्दर बाँध कर उसका एक विशेष रूप आपके सामने रख देगा और कहेगा कि यथार्थ रूप तो यह है और जो कुछ है वह तो केवल हड्डी के ऊपर मांस इत्यादि आपने चढ़ाकर उसे प्रस्तुत कर दिया है। वह कला-कृति आप

करते रहे लेकिन यथार्थ उसका शुद्ध रूप यह है। यही शुद्ध ज्ञान की जिज्ञासा, शोध की व्युत्पति जो आपको बतायी वह है। तो शुद्ध ज्ञान के लिए तो इस प्रकार की चीज आवश्यक होती है। तो मैं यह समझता हूँ कि साहित्यिक अनुसंधान में भी हम इस प्रकार की प्रणालियों का उपयोग कर सकते हैं और इस प्रकार से कुछ मूल सिद्धान्तों को हम अपने सामने रख सकते हैं।

स्तर विषयक शिकायतें--

यह सामान्य धारणा है कि हिन्दी के प्रबन्धों का स्तर या तो कुछ होता ही नहीं, या अत्यंत नीचा होता है।

बहुधा तो ऐसी आलोचनाएँ वे करते हैं जो हिन्दी से यथार्थ में परिचित नहीं होते जो स्वयँ डाक्टर होते हैं, और प्राचीन परिपाटी में डाक्टरी प्राप्त करने के कारण जिन्होंने एक रौब भी साथ साथ प्राप्त किया है-ये जब किसी हिन्दी डाक्टर से मिलते हैं तो इन पर यह प्रभाव पड़ता है कि :

१. यह हिन्दी वाला कुछ ढीला ढाला है, कुछ रौब दौब की बात नहीं करता, कुछ डाक्टरीपन हाँकता' नहीं ।

२. यह बात करता भी है तो देश-विदेश के विद्वानों के नाम नहीं गिनाता। कुछ ऐसे लोगों के नाम गिनाता है जिनसे वह विदेशी मानसी परिचित नहीं ।

३. वह यह भी समझता है कि इसे न तो विदेश जाना पड़ा, न इसका परीक्षक ही कोई विदेशी हुआ; भारतीय परीक्षक के पास ज्ञान कहाँ।

४. वह कहता है कि मैं देखता हूँ कि हिन्दी वाले परिश्रम करते ही नहीं, इन्हें मैं कभी पुस्तकालयों में बैठकर पढ़ते नहीं देखता।

५. वह कहता है कि हिन्दी वालों को उपाधि खुशामद और भागदौड़ मात्र से मिल जाती है।

६. यह भी वह कह सकता है कि अन्य विषयों के प्रबन्धों की चर्चा विदेशों के विद्वानों में और पत्रों में होती है, हिन्दी की कहाँ होती है।

ऐसी आलोचनाओं और धारणाओं का मुख्य कारण हिन्दी के डाक्टरों का स्टेटस है। आलोचक की अपनी हीनता भाव-ग्रन्थि का भी इसमें दायित्व है। वह हिन्दी को अंग्रेजी शासकों और मुसलमानी शासकों की परंपरा में ही नहीं संस्कृतज्ञों की परंपरा में भी गँवारी भाषा समझता आया है, वह बहुत से विद्वानों' की तरह यह भी समझता रहा है कि हिन्दी तो कल से शुरू हुई है, उसमें है ही क्या ? आदि। फिर पहली आलोचना हिन्दी तत्वों के शील की आलोचना हैं, ।

दूसरी आलोचना का संबंध हिन्दी से इसलिए नहीं कि हिन्दी के विद्वान भारत में ही हैं वह विदेशों के विद्वानों के प्रमाण पर नहीं पनपती, जैसे अन्य विषय पनपते हैं। और यह गौरव की ही बात है।

यही बात तीसरी युक्ति के संबंध में है। हिन्दी वाला तो यह प्रतीक्षा कर सकता है कि उसके प्रमाण के लिए विदेश से लोग हिन्दी सीखने भारत में आयेंगे।

चौथी बात के संबंध में तथ्य यह है कि आज इस स्वतंत्र भारत में भी हिन्दी प्रदेश के ही महाविद्यालयों के पुस्तकालयों में वह पुस्तकें और वह सामग्री नहीं जिसे पढ़ने के लिए हिन्दी अनुसंन्धित्सु पुस्तकालयों में जाये वह पुस्तकें और वह सामग्री नहीं जिसे पढ़ने के लिए हिन्दी अनुसंन्धितु पुस्तकालयों में बैठे। उसे तो एक एक पुस्तक के लिए दर दर भटकना पड़ता है। इतिहास और अर्थशास्त्र, अंग्रेजी आदि की पुस्तकें तो पुस्तकालय से मिल जायेंगी, हिन्दी की नहीं। अतः यदि हिन्दी का अनुसंधित्सु परिश्रम करता भी है तो वह दूसरों को ऐसे रूप में दिखायी नहीं पड़ता-जब कि यथार्थ परिश्रम उसे दूसरों से अधिक पड़ जाता है।

पाँचवीं बात यदि सत्य है तो प्रत्येक विषय के लिए सत्य है। और खेर व्यक्ति विशेष से संबँधित हो सकती है, विषय की अपनी योग्यता से इसका कोई संबंध नहीं।

छठी बात का वही उत्तर है जो दूसरी तीसरी का है।

फलतः इस कोटि की आलोचनाओं में तथ्य कम और अहंकार और अज्ञान अधिक होता है। इनके आधार पर हिन्दी के स्तर को क्षुद्र मानने का कोई कारण नहीं।

किन्तु दूसरी कोटि के आलोचक हैं जो कहते हैं कि निश्चय ही हिन्दी के प्रबन्धों का स्तर नीचा है—क्यों कि–

१. हिन्दी के अनुसंधितनु सामान्य पुस्तक और प्रबन्ध ग्रंथों में अन्तर ही नहीं समझते?

२. उनकी अनुसंधान-प्रणाली और रूप-रेखा में वैज्ञानिकता का अभाव रहता है।

३. उनके यहाँ अनुसंधान की पुष्ट परंपरा नहीं, और योग्य निर्देशक मिलते ही नहीं।

४. वे अपने प्रबन्धों में वैज्ञानिक तार्किकता नहीं ला पाते।

५. वे वास्तविक प्रमाण प्रस्तुत नहीं कर पाते क्यों कि वे नहीं जानते कि किस कोटि के प्रमाण को मान्यता दी जानी चाहिए। और किस कोटि के प्रमाणों को नहीं।

६. वे प्रबन्ध में दिए गये लक्ष्यों को निर्भ्रान्त करने के लिए कोई उद्योग नहीं करते, अतः तथ्य विषयक भूलें भी रहती हैं।

७. वे किसी भी तथ्य को उपयुक्त परम्परा और तारतम्य में देखने के अभ्यस्त नहीं।

८. वे शब्दों के विज्ञान से अपरिचित हैं—

९. वे साहित्य और कला का निजी ज्ञान नहीं रखते।

१०. उनके अध्ययन की सीमा बहुत संकुचित रहती है, वे उसे विस्तृत नहीं करना चाहते।

११. वे यह भी नहीं जानते कि क्या सम्मिलित किया जाय क्या छोड़ा जाय ?

१२. न वे यह जानते हैं कि एक अनुसंधान के प्रबन्ध को किस शैली में प्रस्तुत किया जाय।

१३. भाषा भी उनकी सदोष होती है। ऐसी स्थिति में थीसिस का स्तर क्या हो सकता है।

यथार्थ यह है कि उक्त बातों पर ही किसी अनुसंधान और प्रबन्ध का स्तर निर्भर करता है। उक्त बातों पर ही हम लोग किंचित विस्तार से चर्चा करें—

पहली बात सामान्य पुस्तक और प्रबन्ध के भेद की है। यदि अनुसंधित्सु इस भेद को नहीं जानता तो वह कुछ भी नहीं जानता। कई भेद इस संबंध में बहुत स्पष्ट हैं—

१. सामान्य पुस्तक सामान्य मान्यताओं के आधार पर होती है वह प्रत्येक बात और प्रत्येक शब्द की प्रामाणिकता के लिए व्यग्र नहीं होती। प्रबन्ध में प्रत्येक शब्द सप्रमाण होता है।

२. सामान्य कृति की शैलीमें लालित्य, माधुर्य और भाव संस्पर्श आदि सभी के लिए स्थान है। उसको रोचक बनाने के लिए आप कुछ इधर-उधर की बातें भी ढंग से दे देंगे तो बुरा नहीं माना जायेगा—नहीं ये वरन् अच्छा माना जायगा।

३. सामान्य कृति में यदि आप अपने मन, रुचि और अध्ययन की कोई वस्तु यों भी दे दें तो वह चल जायगी, किन्तु प्रबन्ध में एक वाक्य भी अनावश्यक नहीं सहन किया जा सकता।

४. सामान्य कृति का उद्देश्य सर्व साधारण को आकर्षित करने का होता है, प्रबन्ध का विशिष्ट क्षेत्र होता है।

५. सामान्य कृति सामान्य भाषा में होती है, प्रबन्ध पारिभाषिक तथा लाक्षणिक शब्दों में लिखा जाता है।

६. सामान्य कृति मे सामान्य वर्णन पर्याप्त है, प्रबन्ध में 'थौरोनैस" समग्र चूड़ान्त वर्णन होता है।

७. प्रबंध कृति के लिए वैज्ञानिकता अनिवार्य है।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि प्रबन्ध और सामान्य कृति में मौलिक अन्तर है। जो सामान्य कृति के लेखक होते हैं वे जब "प्रबन्ध" लिखने बैठते हैं तो उनका धैर्य साथ छोड़ देता है क्यों कि उन्होंने जिन तत्वों को अपने लेख में समावेश करने का अभ्यास किया है वे यहाँ त्याज्य होते हैं। वह एक दो चलती पुस्तकों से कुछ सामग्री ग्रहण कर अपन निबन्ध तथा ग्रंथ का रूप खड़ा कर देता है, प्रबन्ध के समय उसे आधार ग्रंथ की प्रामाणिकता भी देखनी होती है, और उस विषय पर लिखी गई उस समय तक की प्रत्येक पंक्ति पढ़नी पड़ती है। सामान्य कृति में भुस में दाना रखा जाता है, प्रबन्ध में भुस में से दाने निकाल-निकाल कर संजोये जाते हैं। सामान्य लेखक प्रबन्ध लिखते समय इस भुस-त्याग की चेष्टा से घबड़ा उठता है, वह भुस और दाने के भेद को भी कभी-कभी नहीं समझ पाता।

अतः यह अन्तर अवश्य ही समझ लेना चाहिए और स्पष्ट ही प्रबन्ध लेखन के लिए आवश्यक मनोवृत्ति बना ली जानी चाहिए।

इस तथ्य को समझने के उपरान्त सब से मुख्य कार्य है अपने अनुसंधान की प्रणाली निश्चित करना और उसके लिए रूप-रेखा बनाना।

यह सबसे कठिन कार्य भी माना जा सकता है। इस संबध में कुछ बातें तो विशेषतः ध्यान में रखनी चाहिए।

पहली यह कि यथासंभव यह प्रणाली अनुसंधाता को ही निश्चित करनी चाहिए। प्रणाली के संबंध में उसे रूप-रेखा बना लेना चाहिए--हम इस तैयारी में कभी-कभी महीनों लगा सकते हैं। क्यों कि पहले तो उसे यथासंभव समस्त प्राप्य सामग्री का ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए—

१. जितनी भी प्रकाशित तथा प्राप्य पुस्तकें हैं उसकी सूची उसे बना लेनी चाहिए।

२. वे कहाँ प्राप्य हैं इसका भी पता लगा लेना चाहिए।

३. उनमें कौन-कौन से विषय और अध्याय पठनीय हैं इसका संकेत लिख लेना चाहिए।

फिर, उसे यह देख लेना चाहिए कि उस समस्त विषय का ऐसा कौनसा अंश या पहलू है जिस पर अभी प्रकाश नहीं डाला गया है। उसी को अपने लिए अनुसंधान का विषय बना लेना चाहिए—तब यह सोचना चाहिए कि वह इसका अनुसंधान किस प्रणाली से करेगा।

अनुसंधान की संभवतः निम्न लिखित वैज्ञानिक प्रणालियाँ हो सकती हैं—

१. सामग्री का संग्रह संकलन और उनका वैज्ञानिक वर्गीकरण

२. विस्तृत क्षेत्र विषयक—व्यापक अनुसंधान

 अ. युग का समस्त विषय विषयक

 आ. युग के किसी विषय-विशेष विषयक

 इ. युग की प्रवृत्ति-विशेष विषयक

 ई. युग की पृष्ठि भूमि विषयक।

३. संकुचित क्षेत्र विषयक:

 १. विशेष कवि

 २. विशेष प्रवृत्ति

 ३. विशेष भाव

 ४. विशेष शब्द प्रयोग

इन प्रणालियों के साथ ये प्रणालियाँ विशेष उल्लेखनीय हैं—

१. संग्रह संकलन वर्गीकरण प्रणाली

२. विश्लेषण प्रणाली

३. विचारानुसंधान प्रणाली
४. ऐतिहासिक प्रणाली
५. विकासानुसंधान प्रणाली
६. तुलनात्मक प्रणाली
७. अन्वय-व्यतिरेक प्रणाली
८. व्याख्या विवेचन प्रणाली
९. मूल्यांकन प्रणाली

और प्रणालियों को निर्धारित कर रूप-रेखा के अनुसार वह अनुसंधान में प्रवृत्त हो सकता है ।

डॉ० रामकृष्ण गणेश हर्षे

अनुसंधान की तैयारी

१. व्याख्या—

प्रस्तुत प्रसंग में अनुसंधान शब्द की व्याख्या इस प्रकार की जा सकती है। एक निश्चित उद्देश्य के साथ किसी विषय की बार-बार उस समय तक खोज करना जब तक कि एक नवीन विचार प्रणाली प्रस्तुत न की जा सके, जिसे तत्सम्बन्धित विषय में एक ठोस योगदान समझा जा सके।

२. सामान्य भूमिका—

सामान्यतः यह पहले ही कल्पना कर ली जाती है कि अनुसंधित्सु को कम से कम 'डबल ग्रेजुएट' होना चाहिए और अधिकांश विश्वविद्यालयों में तो बिना एम०ए० किए हुए किसी भी छात्र को स्नातकोत्तरीय अनुसंधान कार्य करने की अनुमति नहीं दी जाती है। अन्य सभी उपाधि परीक्षाओं की भाँति पी-एच०डी० की उपाधि प्राप्त करने के लिए भी बहुतेरे विद्यार्थी प्रयत्न करते हैं और यही कारण है कि आगरा विश्वविद्यालय प्रति वर्ष लगभग १०० पी-एच०डी० विद्यार्थियों को पी-एच०डी० की उपाधि प्रदान करता है।

३. कुछ आवश्यक प्रतिबन्ध—

विश्वविद्यालयों द्वारा अनुसंधान कार्य पर कुछ प्रतिबंध लगाए गए हैं जैसे विद्यार्थी ने अंको का उच्च प्रतिशत प्राप्त किया हो जो द्वितीय श्रेणी से कम न हो। आगरा विश्वविद्यालय एम०ए० पास करने के तुरन्त बाद ही नहीं, अपितु तीन वर्ष पूरा हो जाने के पश्चात् ही पी-एच०डी० के लिए नामकरण की अनुमति देता है। इसी प्रकार यह आशा की जाती है कि पी-एच०डी० का छात्र अपना शोध-प्रबन्ध 'रजिस्ट्रेशन' कराने के दो वर्ष बाद पूरा कर लेगा। बहुत से विश्वविद्यालयों में यह अवधि दो साल के लिए और भी बढ़ायी जा सकती है।

रूढ़ि—

परम्परानुसार ऐसा माना जाता है कि अंको का उच्च प्रतिशत प्राप्त कर एम० ए० की परीक्षा उत्तीर्ण करने वाला कोई भी विद्यार्थी शोध-प्रबन्ध लिखकर पी-एच०डी० को उपाधि प्राप्त कर सकता है। इसी कारण आजकल पी-एच०डी० करने वालों की एक बाढ़ सी आ गई है। लेकिन यदि हम पी-एच०डी० विद्यार्थियों के कार्य का मूल्यांकन, उनके इस लोलुप उपाधि को प्राप्त कर लेने के पश्चात् करें तो हम पायेंगे कि अधिकांशत: पी-एच०डी० की उपाधि ही उनके लिए सब कुछ होती है और इस उपाधि को प्राप्त कर लेने के पश्चात् उनके अनुसंधान-जीवन की समाप्ति हो जाती है और उसके बाद उनके द्वारा कोई भी महत्त्वपूर्ण योगदान नहीं किया जाता।

५. अनुसंधान की विशिष्ट प्रवृत्तियाँ—

एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण चीज जो भुला दी जाती है वह यह है कि अनुसंधान के लिए एक विशिष्ट प्रवृत्ति की आवश्यकता होती है और अनुसंधान करने के लिए किसी विद्यार्थी का विश्वविद्यालय की परीक्षा को केवल विशेष योग्यता के साथ उत्तीर्ण कर कर लेना ही पर्याप्त नहीं है। विस्तृत सामान्य ज्ञान, असीम श्रम करने की क्षमता, धैर्य, शोध की जाने वाली समस्याओं को पकड़ने की नैसर्गिक अन्तर्दृष्टि, सूक्ष्म चीजों की टिप्पणी लेने की दक्षता, विश्लेषण और पुनर्निबन्धन की शक्ति, सत्यशीलता शोध-प्रबन्ध के प्रत्येक महत्त्वपूर्ण विधान के लिए प्रामाणिकता का आग्रह, ये कुछ अनुसंधान-कर्त्ता के आवश्यक गुण हैं। एक अनुसंधित्सु का विस्तृत सामान्य ज्ञान उस विद्यार्थी के विशिष्ट ज्ञान से पूर्णतया भिन्न होता है, जो किसी परीक्षा की तैयारी कर रहा है। जो कुछ उसने किया है उसे केवल तीन घंटे के सीमित समय में प्रस्तुत कर देने तक ही उसकी कार्य-क्षमता सीमित नहीं होती है अपितु ग्रंथ-सूची का बनाना, टिप्पणियाँ लेना, विविध स्रोतों से सामग्री संकलन करना और फिर इसे इस प्रकार सूचीबद्ध और पुनर्नियोजित करना जिससे कि एक नयी सृष्टि का निर्माण हो सके, उसके लिए अपेक्षित है। वह तब तक संतोष पूर्वक बैठ नहीं सकता जब तक कि सभी विशिष्ट विषय और समाधान पर्याप्त रूप से प्रामाणिक सिद्ध नहीं कर दिए जाते और उनके लिए आवश्यक आधार प्रस्तुत नहीं कर दिए जाते। यह परीक्षक के संतोष से अधिक अनुसंधित्सु के अपने बौद्धिक विश्वास का प्रश्न है। उसकी बौद्धिक क्षमता और रचनात्मक कल्पना एक नैसर्गिक-अन्तर्दृष्टि और अन्तर्ज्ञान के द्वारा किसी प्राचीन विषय पर प्रकाश डालते हुए, जो प्रश्न-पत्रों के लिखने में अपेक्षित नहीं है, पूर्ण प्रस्फुटित होती है। अनुसंधान में छोटी से छोटी और सूक्ष्म से सूक्ष्म चीजें बहुत ही महत्त्वपूर्ण होती हैं, जिनका पारायण कर एक नये मार्ग की पुन:स्थापना होती है। जहाँ परीक्षा में इन छोटी-छोटी बातों का कोई महत्त्व नहीं होता है वहाँ तो एक संतुलित सीमा में केवल मुख्य-मुख्य विषय रख दिए जाते हैं। अनुसंधित्सु द्वारा संकलित की गई विस्तृत सामग्री की व्याख्या से शोध-प्रबन्ध के शरीर का निर्माण होता है और एक सुसम्बद्ध एवं सुसंगठित कलापूर्ण प्रस्तुति उस शरीर को जीवन प्रदान करती है। किसी भी शोध-प्रबन्ध का उस समय तक कोई वैज्ञानिक मूल्य नहीं होता जब तक कि उसका आधार सत्य न हो और उस सत्य

के लिए स्थिर, सुदृढ़ प्रमाण से संदर्भ उद्धृत किए गए हों। यह एक सर्वथा भिन्न कार्य प्रणाली है। इसमें खोज करने वाले व्यक्ति की खोज के लिए साहस और निराशा भी रहती है और साथ ही साथ एक नई खोज का आनन्द भी। लेकिन यदि दुर्भाग्य से उसका गलत निर्देशन होता है तो उसका सारा प्रयत्न मिट्टी में मिल जाता है। इसीलिए मैं इस बात से सहमत नहीं हूँ कि तथाकथित शिक्षा-संस्थाओं की उपाधि प्राप्त करने वाला व्यक्ति ही आवश्यक रूप से एक सफल अनुसंधित्सु हो सकता है। एक सच्चे अनुसंधित्सु के बारे में मेरा यह विचार है कि चाहे उसके पास कोई उपाधि हो या न हो, चाहे वह किसी भी परिस्थिति में क्यों न हो, वह सांसारिक सफलता की चिन्ता किए बिना जीवन पर्यन्त अपना अनुसंधान कार्य जारी रखता है। अनुसंधान के प्रति उसकी भक्ति एक प्रकार का दैवी उन्माद होता है, जो उसके जीवन के साथ लगा रहता है और इसीमें उसके जीवन का यश, वैभव और आनन्द है यद्यपि वह अपने परिश्रान्त पथ को अकेला ही तय करता है।

मुझे ऐसे व्यक्तियों के उदाहरण मालूम हैं, जिन्होंने कोई उपाधि न रहते हुए भी अनुसंधान की बहुत बड़ी सेवा की है। राव बहादुर सर देसाई केवल एक सामान्य श्रेणी के स्नातक हैं, लेकिन वह हमारे अग्रगण्य इतिहासज्ञों में से एक हैं। राव बहादुर डी० बी० पारसनीस शायद 'मैट्रीक्यूलेट' भी नहीं थे, लेकिन वे महाराष्ट्र के आदि अनुसंधाताओं में से हैं, जिन्होंने महाराष्ट्र के बाहर और भीतर भी ऐतिहासिक अनुसंधान में बहुत से राजाओं को प्रेरित और उत्सहित किया है। डॉ० संकलिया ने केवल एम० ए० में थीसिस के द्वारा प्रथम श्रेणी प्राप्त कर ली थी, अन्यथा 'यूनिवर्सिटी कैरियर' बहुत उज्ज्वल नहीं था, लेकिन आज वह भारत के अग्रगण्य पुरातात्विक हैं। और प्रागैतिहासिक अनुसंधान के लिए अंतर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर ली है। इस प्रकार इस क्षेत्र में उन्होंने अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया है।

फिर भी यह मानना पड़ेगा कि विश्वविद्यालय की उपाधि प्राप्त करने वालों में एक प्रकार की सुसम्बद्ध सूक्ष्मता आ जाती है लेकिन संस्थागत उच्चस्तरीय योग्यता को ही अनुसंधान के लिए आवश्यक समझकर उस पर असाधारण जोर देना अनुसंधान के लिए बहुत ही हानिकारक है। बिना किसी प्रतिबन्ध के विद्वत्ता का द्वार सब के लिए खुला रखना चाहिए और अनुसंधान की असाधारण उपलब्धियों के लिए अपेक्षित गुणों की मान्यता प्रत्येक व्यक्ति को मिलनी चाहिए। इसके साथ ही साथ यह भी भूलना नहीं चाहिए कि किसी दिए हुए विषय पर उपाधि प्राप्त करने के लिए शोध-प्रबन्ध के लिखने और अपनी नैसर्गिक प्रतिभा के साथ स्वतः अनुसंधान-क्षेत्र में प्रविष्ट होने की प्रवृत्ति में मौलिक भेद है। यह एक प्रसन्नता की बात है कि विश्वविद्यालय अपने स्नातकोत्तरीय अनुसंधान क्षेत्र का तेजी के साथ विकास कर रहे हैं लेकिन केवल उपाधि प्रदान करना मात्र ही नहीं अपितु ठोस अनुसंधान कार्य उनका अभीष्ट होना चाहिए।

६. प्रारंभिक प्रशिक्षण

हमारे देश में जिस प्रकार की शिक्षा दी जाती है उसके स्तर और आदर्श तथा अध्यापकों और विद्यार्थियों द्वारा गृहीत शिक्षा और परीक्षा-प्रणाली को देखते हुए एक

अनुसंधित्सु के लिए यह आवश्यक होना चाहिए कि वह अपनी शिक्षा समाप्त करने के पश्चात् कुछ समय प्रशिक्षण में लगाए और जिस विषय में उसकी रुचि है, जिस विषय पर वह अनुसंधान करना चाहता है, उस विषय के ज्ञान को सामान्य अध्ययन द्वारा आगे बढ़ाए। उसके लिए, विविध विद्वानों द्वारा अपने शोध-प्रबन्ध में गृहीत विधियों और प्रणालियों से तथा अनुसंधान-साहित्य से पूर्णतया परिचित होना अत्यन्त आवश्यक है। क्षेमेन्द्र ने अपने कवि कंठाभरण में कवियों के प्रशिक्षण के लिए एक व्यावहार-विधि की व्यवस्था की है। इसी प्रकार अनुसंधाताओं के लिए भी एक प्रकार की सामान्य शिक्षा प्रणाली की व्यवस्था अपेक्षित है। आज के वैज्ञानिक युग में अन्य सभी वस्तुओं की भाँति अनुसंधान भी एक यांत्रिक प्रक्रिया बन गया है। इसलिए अनुसंधान के सभी उपकरणों से परिचित होना अत्यन्त आवश्यक है।

७. पुस्तकालय

कुशल विशेषज्ञों द्वारा सुसज्जित पुस्तकालय, अनुसंधान की एक मूलभूत आवश्यकता है। पुस्तकालय भी कई प्रकार के होते हैं लेकिन अनुसंधान के लिए तो अनुसंधान-ग्रंथालय ही उपयोगी होते हैं। इस प्रकार के सुव्यवस्थित पुस्तकालयों के बिना अनुसंधान की ऊंची-ऊंची बातें करना बिल्कुल बेकार है। यूरोप और अमरीका के ग्रंथागारों की भाँति भारतीय ग्रंथागारों के पुस्तकों की गणना लाखों में न होकर केवल हजारों में ही होती है और इसके साथ ही साथ हमारे देश में जहाँ तक पुस्तकालयों की व्यवस्था का प्रश्न है वह अभी तक अपने प्रारंभिक अवस्था में ही है। हमारे बुजुर्ग लोग अब भी यह अनुभव करते हैं कि क्लर्क और चपरासियों के द्वारा पुस्तकालय चलाया जा सकता है। वे वर्तमान काल के प्रशिक्षित कुशल पुस्तकाध्यक्षों के विविध कार्यों और उनकी प्रभूत सेवा से अभी पूर्णतया अनभिज्ञ हैं और जब तक इस प्रकार की कार्य प्रणाली में सुधार नहीं किया जाता, विश्व के ज्ञान-भांडार में किसी भी प्रकार के योगदान दिए जाने की आशा दुराशा मात्र है। इसी कारण सभी ओर भारतीय विद्वत्ता की अवहेलना हुआ करती है। लेकिन आज भी हमारे विश्वविद्यालय और कालेज सभी प्रकार के ज्ञान के मूल स्रोत और अनुसंधान को जीवन प्रदान करने वाले तत्व की उपेक्षा कर केवल इमारतों पर ही आँख मूँद कर रुपए खर्च कर रहे हैं।

८. पुस्तक-प्रेम

एक अनुसंधित्सु के लिए यह अपेक्षित है कि कम से कम वह पुस्तक-प्रेमी अवश्य हो। तत्सम्बन्धित विषय की पुस्तकें कहाँ उपलब्ध हो सकती हैं, इसका उसे पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। उसे ग्रंथ-सूची, पुस्तक-विवरण के विस्तृत साहित्य, और पांडित्य-पूर्ण पुस्तकों के अन्त में दी हुई ग्रंथ-सूची का भी ज्ञान होना चाहिए। पुस्तकालय की पुस्तकों का बाह्य परिचय भी बहुत उपयोगी होता है। इन पुस्तकों के अतिरिक्त यूरोप और अमरीका में बहुत सी विशिष्ट पत्र पत्रिकाएं और भारत में भी कुछ सामान्य पत्रिकाएँ निकलती हैं जिनमें ग्रंथों के बारे में महत्त्वपूर्ण लेख प्रकाशित होते रहते हैं। हमारे देश के लोगों ने सभी प्रकार के अध्ययन के लिए ग्रंथ-सूची को एक अपरिहार्य आवश्यकता के रूप में अनुभव किया है। अभी जल्द ही भारतीय पत्रों की एक वैज्ञानिक और पूर्ण

सूची पूना से प्रकाशित हुई है। जहाँ तक भारतीय भाषाओं का सम्बन्ध है सुपर-रायल आकार के १२०० पृष्ठों की, मराठी साहित्य की वर्गीकृत ग्रंथ-सूची भारत में अपने ढंग का सबसे पहला प्रयास है। यह अकेले एक व्यक्ति के अथक परिश्रम का परिणाम है जिसने लगातार १० वर्ष तक बिना किसी सहायता के काम किया। 'यूनेस्को' ने विविध-विषयों के आन्तरराष्ट्रीय पुस्तक सूची के प्रकाशन का काम अपने हाथ में लिया है। गैर सरकारी तौर पर भी इंगलैण्ड, फ्रान्स और जर्मनी आदि देशों में कुछ ऐसी विशिष्ट संस्थाएँ हैं जो पत्रिका के रूप में विविध प्रकार की पुस्तक-सूची को प्रकाशित करती हैं। कुछ प्रसिद्ध प्रकाशकों के वर्गीकृत ग्रंथ-सूची से भी लाभ उठाया जा सकता है। यूरोप के प्रकाशकों ने मिलजुलकर सार्वजनिक उपयोग और विज्ञापन के लिए अपनी सभी प्रकाशित पुस्तकों का एक संदर्भ ग्रंथालय (Reference library) स्थापित किया है। भिन्न-भिन्न पुस्तकालयों की छपी हुई पुस्तक सूची भी, सूचनाओं का एक मुख्य स्रोत है।

९. शब्द कोषों का उपयोग

विद्यार्थिओं को शब्द कोष का उपयोग बताया जाना चाहिए। मैं ऐसे स्नातकोत्तरीय विद्यार्थियों को जानता हूँ जिन्होंने अपने जीवन में कभी एक साधारण कोष को भी नहीं देखा है और न तो वे यही जानते हैं कि कोष में वर्णमाला के क्रमानुसार शब्द रखे जाते हैं। यह सब 'नोट्स' और 'गाइड्स' (टिप्पणी-पुस्तक और प्रदर्शिकाओं) का ही परिणाम है। अंग्रेजी में 'इनसाइक्लोपीडिया' से लेकर डिक्शनरी आफ रिलीजन एण्ड एथिक्स (Dictionary of Religion and Ethics) और डिक्शनरी आफ नेशनल बिओग्राफीज (Dictionary of National Biographies) जिनमें विद्वानों द्वारा हर तरह के विषय पर उच्चस्तरीय लेख लिखे गए हैं, ऐसे सभी प्रकार के विशिष्ट कोष प्राप्त हैं। इन सब साधनों के द्वारा नयी से नयी सूचना प्राप्त की जा सकती है। 'गजेटियर' 'ईयर बुक' और सभी तरह के 'सर्वे रिपोर्टों' से भी अनुसंधान के सैकड़ों विषय लिए जा सकते हैं।

१०. विद्या की दुनियाँ (The World of Learning)

इन सब स्थानीय सहायक उपकरणों के अतिरिक्त आज सारे संसार में अपने विषय के विद्वानों द्वारा व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित करना भी संभव हो गया है, जो हमारे लिए बहुत उपयोगी है। इस प्रकार का सम्पर्क 'यूनेस्को' जैसी किसी संस्था के माध्यम से स्थापित नहीं किया जाता है अपितु 'दि वर्ल्ड आफ लर्निंग' (The world of Learning) नाम निर्देशक-ग्रंथ की सहायता से, जिसके द्वारा संसार भर के विद्वानों तथा साथ ही साथ विश्वविद्यालय, कालेज तथा इसी प्रकार के विविध संस्थाओं में कार्य करने वाले अध्यापकों के विषय की भी सूचना हमें मिलती है। इसका प्रकाशन प्रतिवर्ष होता है और इसमें बहुत ही नवीनतम सूचनाएँ दी जाती हैं। इस प्रकार के मौलिक सहायक उपकरणों को अनुसंधान करने वाले विद्यार्थियों की पहुँच में रहना सर्वथा अपेक्षित है।

११. व्यक्तिगत पुस्तकालयः—

यूरोप में प्रत्येक उच्च कोटि के विद्वान के पास अपना एक व्यक्तिगत ग्रंथागार रहता है। जिसे वह अपनी आर्थिक शक्ति के अनुसार अपने निर्वाचित विषय के क्षेत्र में नवीनतम रखने का प्रयत्न करता है। संसार के प्रसिद्ध वैदिक विद्वान प्रो० लूई रनू (Prof. Louis Renou) का विशाल अध्ययन-कक्ष, दिवाल से लगी हुई १०-१० फीट तक ऊँची रोल्फों से घिरा हुआ है। प्रो० जूल ब्लाक (Prof. Jules Bloch) के घर में, उनके अध्ययन कक्ष तक पहुँचने के पहले हमें किताबों कि बीच से होकर जाना पड़ता था। इन विद्वानों का पुस्तकों के प्रति यह मोह पूर्णतया स्वाभाविक है। लेकिन हमें अभी इस तरह की आदत का विकास करना है। यह केवल रुपए पैसे का ही प्रश्न नहीं है। यूरोप में भी अन्य देशों की भाँति विश्वविद्यालय के अध्यापक वेतन कम पाते हैं लेकिन उनके पुस्तकों का शुद्ध प्रेम लोक-प्रसिद्ध है। और यही उनकी एकमात्र सम्पत्ति है। हमारे कक्षा अध्यापक पुस्तकों पर एक पाई भी खर्च नहीं करते हैं और अपने मुख्य कार्य की उपेक्षा कर अपने को अतिरिक्त कार्यों में लगाए रखते हैं। यही कारण है कि भारत में विश्वविद्यालय के प्राध्यापकों द्वारा जो कुछ भी योगदान हुआ है वह बहुत ही तुच्छ और सारहीन है, जो यूरोपीय विद्वानों के लिए गंभीरता और चिंतन का विषय बिल्कुल ही नहीं है। यदि इस स्थिति को बदल कर एक स्वस्थ परम्परा का प्रतिष्ठापन किया जाय तो हमारे प्राध्यापक और विद्यार्थी दोनों ही उच्चस्तरीय तथा चुने हुए व्यक्तिगत ग्रंथालयों का विकास कर सकेंगे। अनुसंधान के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण चीज विचारों की खोज है और उसमें थोड़ा सा भी विलम्ब असहनीय हो जाता है। इसके साथ ही साथ विषय को प्रामाणिक बनाने के लिए तत्कालीन प्रसंग निर्देशक अनुसंधान की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है, जिसके बिना अनुसंधान निर्जीव सा हो जाता है। इसलिए ऐसे अवसरों पर व्यक्तिगत पुस्तकालय एक वरदान सिद्ध होते हैं।

१२. विषय का निर्वाचन और निर्देशक:—

जब तक कि विद्यार्थी को अपने विषय की अच्छी जानकारी नहीं है और खोज करने के लिए अपनी समस्याएँ नहीं हैं, जो कि बहुधा कम ही होता है, विद्यार्थी को प्राध्यापक के द्वारा किंचित मार्ग-प्रदर्शन की आवश्यकता पड़ती है जिसके आधीन वह अपने शोध-प्रबन्ध के विषय निर्वाचन के अनुरूप कार्य करना चाहता है। जब एक स्नातकोत्तरीय अनुसंधान संस्था अपने विभागीय कार्य की योजना बनाती है और समस्याओं की नयी खोज में प्रवृत्त होना चाहती है तब प्राध्यापकों के समयाभाव के कारण उन खोजों में अनुसंधित्सुओं को लगा देने से यह समस्या कुछ सरल हो जाती है। किसी विषय-विशेष में विद्यार्थी का मार्ग-दर्शन कराने के लिए निर्देशक को उस विषय का सामान्य ज्ञान होना अति आवश्यक है। और उसे अनुसंधान को आगे बढ़ाने के हेतु उन समस्याओं पर विशिष्ट अध्ययन करने के लिए हमेशा तैयार रहना चाहिए जिसे विद्यार्थी समय समय पर उससे मिलकर उसके सामने रखता है। शोध-प्रबन्ध का उत्तरदायित्व जिस प्रकार विद्यार्थी पर होता है उसी प्रकार उसके निर्देशक पर भी होता है। यदि कोई विद्यार्थी अपने निर्देशक

के निर्देशानुसार नहीं चलता है, तो यह दूसरी बात है लेकिन यदि वह ऐसा करता है तो उसका निर्देशन, मार्ग-दर्शन उसके अभीष्ट उद्देश्य तक होना अत्यन्त आवश्यक है। यदि निर्देशक अपने इस उत्तरदायित्व को समझ लेते हैं तब किसी प्राध्यापक को एक समय ५ या ६ से अधिक विद्यार्थियों का निर्देशन स्वीकृत करना संभव नहीं होगा।

मुझे ऐसे प्राध्यापकों के उदाहरण मालूम हैं, जो विषय के उपयुक्त ज्ञान के अभाव में विद्यार्थी का गलत पथ प्रदर्शन करते हैं जिसके परिणामस्वरूप उनमें से कुछ के जीवन का बहुमूल्य २-३ वर्ष का समय बरबाद हो जाता है। उदाहरण स्वरूप एक विद्यार्थी को हिन्दूधर्म की संस्कार विधियों का विकास (Development of Hindu Sacraments) विषय अनुसंधान के लिए दिया गया लेकिन जैसा कि धार्मिक विधियाँ अपने पूर्ण विकसित रूप में परम्परानुसार गृह्य-सूत्र में हमारे पास तक आई हैं, गृह्य-सूत्र के पूर्ववर्ती साहित्य में इस विषय के लिए कोई भी सामग्री प्राप्त न हो सकी। तब उसे महाभारत से सामग्री संकलन करने के लिए कहा गया। वह बेचारा अठारहों पर्व छान गया लेकिन कुछ भी हाथ नहीं लगा। तब उसे अपनी धार्मिक विधियों की तुलना पारसी विधियों से करने और वहाँ विकास के सूत्र को ढूँढने के लिए कहा गया। वहाँ फिर उसे निराश होना पड़ा। और फिर अन्त में एक शब्द भी शिकायत किए बिना उसे पी-एच० डी० की उपाधि लेने के विचार को छोड़ देना पड़ा।

एक दूसरे विद्यार्थी को स्थानों के नाम का अध्ययन (The Study of Place-names) नामक विषय अनुसंधान करने के लिए एक प्राध्यापक द्वारा दिया गया और उससे लगभग ५००० स्थानों के नाम संग्रह करने को कहा गया। उसने इस काम को एक वर्ष के अन्दर पूरा कर लिया और फिर उस प्राध्यापक के पास आगे के निर्देशन के लिए गया। लेकिन उसको अनुसंधान की उपयुक्त प्रणाली और अभीष्ट ज्ञान देने के बजाय उस प्राध्यापक ने उसे ५००० और नामों का संग्रह करने के लिए कहा। उसने तत्परता के साथ दूसरे साल काम किया और ५००० नामों के स्थान पर ७००० नामों का संग्रह कर लिया, इस आशा से कि वह शीघ्र ही अपना अनुसंधान कार्य समाप्त कर लेगा। सब मिलाकर उसने १२००० नामों का संग्रह किया, जो कि एक बहुत बड़ा कार्य था, लेकिन उसके शोध-प्रबन्ध को तैयार करवाने के लिए प्राध्यापक के मस्तिष्क में कोई भी स्पष्ट रूपरेखा नहीं थी। इसलिए और अधिक समय लेने के लिए उससे २०००० नामों की संख्या पूरा करने के लिए कहा गया। इस पर बहुत ही उद्विग्नता के साथ विद्यार्थी ने एक पत्र भेज कर उस प्राध्यापक की भर्त्सना की और इस कटु अनुभव के साथ उसे अपना सभी अनुसंधान कार्य समाप्त करना पड़ा।

१३. निर्देशक का उत्तरदायित्व:—

इन उदाहरणों के देने का मुख्य प्रयोजन यह है कि निर्देशक को अपने उत्तरदायित्व से पूर्णरूपेण सचेत रहना चाहिए और उसे अन्त तक उस अनुसंधान कार्य की प्रगति का निरीक्षण करते रहने के लिए इच्छुक रहना चाहिए जिसे उसने अनुसंधित्सु के लिए निर्धारित किया है। उसे अच्छी तरह सुव्यवस्थित रूप में शोध-प्रबध की रूप

रेखा विद्यार्थी के सम्मुख प्रस्तुत करनी चाहिए और स्वयं समय-समय पर दिए गए निर्देशनों का एक लेखा भी उसको अपने पास रखना चाहिए।

१४. रूपरेखा और संक्षिप्त विवरण—

यहाँ पर मुझे, विश्वविद्यालयों द्वारा शोध-प्रबन्ध के विषय की स्वीकृति कराने के लिए, अनुसंधान के आरम्भ में ही, विद्यार्थियों द्वारा दिए जानी वाली रूपरेखा की अद्‌भुत प्रणाली की याद आती है। जैसा कि निर्देशक एकेडेमिक-कउंसिल का सदस्य होता है, (अगर नहीं होता है तो होना चाहिए) और जो विषय वह अनुसंधित्सु को देता है उस विषय का ज्ञाता होने के कारण, अनुसंधान कार्य की स्वीकृति के हेतु उसके अभिमत और प्रस्ताव को पर्याप्त समझकर औपचारिक रूप से उसे मान्यता प्रदान कर देनी चाहिए। यह उसका कर्त्तव्य है कि वह अनुसंधित्सु द्वारा किए जाने वाले अनुसंधान के क्षेत्र की व्याख्या करे। इस प्रकार उसे अनुसंधान का पूर्ण उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेना चाहिए और यदि उसके किसी विषय के पक्ष-समर्थन के पश्चात् उसका प्रस्ताव ठुकरा दिया जाता है तो यह उसके न्याय और निर्देशन शक्ति का अभाव समझना चाहिए। इस प्रकार के उत्तरदायित्व-पूर्ण अनुसंधान का ही परिणाम फलप्रद होगा।

यदि विद्यार्थी अपने अनुसंधान का परिणाम पहले से ही जानता हो, तो फिर अनुसंधान करने की बिल्कुल ही आवश्यकता नहीं। दूसरे प्रदेशों में यह प्रथा है कि शोध-प्रबन्ध के प्रस्तुत करने के एक महीना पहले, या अधिक से अधिक तीन महीना पहले उस विषय की रूपरेखा प्रस्तुत की जाती है जिसका अभिप्राय यह होता है कि वह शोध-प्रबन्ध पूर्णतया तैयार हो गया है और एक निश्चित समय के अन्दर उसे प्रस्तुत किया जा सकेगा।

१५. अनुसंधान के प्रकार—

जिन विषयों पर स्नातकोत्तरीय अनुसंधान कार्य होता है। उनके भिन्न-भिन्न वर्ग हो सकते हैं—

(अ) एक नये क्षेत्र का उद्‌घाटन्—

इसमें किसी एक ऐसे विषय पर अनुसंधान किया जाता है जिस पर पहले कोई काम नहीं हुआ हो। यहाँ अग्रगामियों से उपयुक्त निर्देशन न मिलने के कारण, कार्य में उसे कठिनाइयाँ आती हैं, जिसका समाधान विद्यार्थी और निर्देशक दोनों की कल्पना-शक्ति पर प्रहार करता है। यदि अनुसंधान-कार्य वैज्ञानिक आधारों पर होता है तो यही उस कार्य का एक मात्र महत्त्व है।

(ब) क्षुण्ण-पथ—

एक जाने-सुने विषय पर शोध-प्रबन्ध लिखना और भी कठिन है जबकि प्रत्येक व्यक्ति इसके बारे में कुछ न कुछ जानता है। जब तक आप किसी नये तथ्य की खोज न करें, सफलता की आशा रखना व्यर्थ है। उसका अन्तिम आधार, उपलब्ध

सामग्री को समाधानकारक प्रमाणों से पुष्ट और पुर्नियोजित कर उसे नये प्रकाश में प्रस्तुत करना है।

(स) **व्यापक विचार—**

इस प्रकार के अनुसंधान का एक आदर्शभूत उदाहरण प्रो० जूल ब्लॉक (Prof. Jules Bloch) का शोध-प्रबन्ध 'लेंडो आर्यां' ('L' Indo Aryen') है जिसमें उन्होंने 'रायल आक्टेवों' आकार के ३३५ पृष्ठों में लगभग २५०० वर्ष के आर्य भारतीय भाषाओं के इतिहास और विकास का निरुपण किया है। इसका प्रत्येक पृष्ठ पूर्ण रूप से विवेचित दृष्टान्तों और ठोस शैली से गुँथा हुआ है जो लेखक के असीम कष्ट सहिष्णुता का परिचय देता है। काल-खण्ड के लम्बे होने पर भी उन्होंने अपने विषय के यथार्थ स्वरूप को बहुत ही सफलता के साथ थोड़े में ही प्रस्तुत किया है।

(द) **सूक्ष्म अध्ययन—**

इसके अन्तर्गत किसी विषय के सभी पहलुओं का सूक्ष्म अध्ययन किया जाता है। इसके सम्बन्ध में पेरिस विश्वविद्यालय के डॉ० जाँ फिल्योजा (Dr. Jean Filliozat) की दो कृतियों का उदाहरण देना चाहूँगा। रावण का कुमारतंत्र (Kumāra Tantra of Rāvana) एक छोटा सा निबन्ध है जिसमें केवल १२ पद्य हैं। लेकिन इसके लिए उन्होंने पूरे एशिया महाद्वीप में प्राप्त उसके तुलनात्मक पाठों का अध्ययन किया है और 'क्राउन साइज' के १९२ पृष्ठों को आपने गहन अध्ययन में लगाया है। उनकी दूसरी कृति में इस बात का विवेचन किया गया है कि हिन्दू परम्परागत धारणाओं के अनुसार आयुर्वेद को किस प्रकार वेदों का उपवेद कहा जा सकता है। उन्होंने अपने इस ग्रंथ में वैदिक और वैदिकोत्तर पाठों का तुलनात्मक अध्ययन कर अपने इस विचार को रायल आक्टेवो आकार के २२७ पृष्ठों में पूर्ण विस्तार के साथ प्रस्तुत किया है जिसका शीर्षक 'ला' दॉक्त्री क्लास्सीक द ला मेद्सीन अँदीयन्न ("La Doctrine classique de la Medicine Indienne")।

(य) **साहित्यिक अनुसंधान—**

अनुसंधान का एक और प्रकार भी होता है जिसे विशुद्ध साहित्यक कह सकते हैं। यह मुख्य रूप से प्रकाशित ग्रंथों पर आधारित होता है। इसमें दूसरे के द्वारा किसी विषय पर कही गई बातों का पुनरावलोकन करते हैं और शोध-प्रबन्ध में प्रस्तावित विचार धारा को प्रामाणिक सिद्ध किया जाता है। साहित्यिक आलोचना के सभी शोध-प्रबन्धों को इस वर्ग के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

१६. अनुसंधान की विधि—

अनुसंधान किसी भी प्रकार का क्यों न हो उसकी विधि एक ही होती है। एक निश्चित दृष्टिकोण, व्यवस्थित कार्य-प्रणाली, तर्क संगत विवेचन और प्रतिपाद्य विषय की प्रामाणिकता, यही अनुसंधान के मूल तत्त्व हैं। अनुसंधान की मूलभूत समस्या आपके विशिष्ट विचारों की नहीं अपितु उस विचार को प्रामाणिक और सुव्यवस्थित ढंग से प्रस्तुत करने की है। यह याद रखना चाहिए कि साहित्यिक आलोच-

नाम्रों के विषय में कोई एक अन्तिम मत प्रतिष्ठापित नहीं किया जा सकता। इस प्रकार के निबन्धों का अनुसंधान की दृष्टि से कम महत्व रहता है। यदि आपके विचार से शोध-प्रबन्ध के परीक्षक के विचार नहीं मिलते हैं तो आपके अहित हो जाने का डर बना रहता है, और आपके अपने प्रयास में असफल न होने पर भी उसके लिए अपेक्षित सम्मान नहीं मिलता है।

१७. विषय--

शोध-प्रबन्ध के विषयों का विविध वर्गीकरण, किया जा सकता है। साहित्य सम्बन्धी विषय निम्न प्रकार के हो सकते हैं।

१. भाषा वैज्ञानिक।
२. ऐतिहासिक अध्ययन।
३. टेक्निकल और वैज्ञानिक अध्ययन।
४. साहित्यिक आलोचना।
५. तुलनात्मक अध्ययन।
६. अप्रकाशित ग्रंथों का आलोचनात्मक प्रकाशन और,
७. क्षेत्रीय सामग्री संकलन, उसका प्रकाशन, प्रतिवेदन और अध्ययन आदि।

१८. अनुसंधान की सुविधाएँ--

(१) विद्यापीठ का पुस्तकालय--

यह बहुत संतोष की बात है कि हमारे विद्यापीठ के पुस्तकालय में १०,००० पुस्तकों का संग्रह है। यह भी आशा की जाती है कि जैसे ही पुस्तक-सूची तैयार हो जायगी, जिससे विद्यार्थियों को यथासंभव हर तरह की सुविधा हो जायगी। लेकिन यह स्मरण रखना चाहिए कि अनुसंधान के लिए संदर्भ ग्रंथालय (Reference Library) होने के कारण, विद्यापीठ के बाहर इसकी किसी भी पुस्तक को ले जाने की अनुमति नहीं दी जा सकती है। विद्यार्थियों के लिए एक खुले हुए अध्ययन-कक्ष की व्यवस्था करने का भी विचार हम कर रहे हैं, जिसको शीघ्र ही क्रियान्वित किया जायगा।

(२) विश्वविद्यालय का ग्रंथागार--

विद्यापीठ के पुस्तकालय के अतिरिक्त, यहाँ के विद्यार्थी विश्वविद्यालय के पुस्तकालय का भी उसके नियमानुसार लाभ उठा सकते हैं। स्नातकोत्तरीय अनुसंधान कार्य के लिए यहाँ पर विशेष प्रकार के अध्ययन-कक्षों की व्यवस्था है, जिन्हें नियमित कार्य करने वाले विद्यार्थियों के लिए सुरक्षित किया जा सकता है। विश्वविद्यालय का पुस्तकालय, विद्यार्थियों के लिए डाक और रेल खर्च देने पर उनके लिए बाहर के दूसरे पुस्तकालयों से भी पुस्तक मँगाने की व्यवस्था कर सकता है।

(३) संस्थागत ग्रंथ उधार लेने की सुविधाएँ—

जैसे ही हमारे विद्यापीठ का ग्रंथालय सुव्यवस्थित हो जाएगा, वह बाहर से भी पुस्तकों के उधार लेने की सुविधा प्रदान कर सकेगा। पुस्तकों के उधार लेने की यह पद्धति डेक्कन कालेज पोस्ट ग्रेजुएट एण्ड रिसर्च इंस्टीट्यूट (Deccan College Postgraduate & Research Institute) में बहुत सफलीभूत हुई है और पूना में भी अन्तर्संस्थागत उधार लेने की पद्धति विकसित हो गई है। यदि हमारे पास बहुमूल्य और दुर्लभ पुस्तकों का संग्रह हो जाय और यदि हम बाहर के लोगों को भी पुस्तकें प्रदान करने की स्थिति में आ जायें तो यह उधार लेने की व्यवस्था यहाँ भी विकसित की जा सकती है।

(४) फोटो स्टाट कापी

माइक्रोफिल्म और फोटो स्टाट के साधन विद्यापीठ में पहले से ही विद्यमान हैं। एक 'माइक्रोफिल्म रीडर' भी है और अनुसंधित्सुओं के लिए 'प्रिंट्स' भी सुलभ किये जा सकते है। इस तरह की सुविधाएँ प्रत्येक संस्था और प्रमुख ग्रंथागारों में प्रदान की जाती हैं। हस्तलिखित ग्रंथों और अति दुर्लभ पुस्तकों के सम्बन्ध में विदेशों से सस्ते दर पर माइक्रोफिल्म या फोटो स्टाट प्रिंट करवाना भी आज संभव हो गया है। यदि हम ऐसी ही बाह्य संस्थाओं से पारस्परिक सम्पर्क स्थापित करने में सफल हो सकें तो संसार में कोई भी ऐसी पुस्तक नहीं होगी, जिसके अभाव में हमारा अनुसंधान कार्य रुकता हो, हम विद्यापीठ में मंगा न सकें। ऑफ्रेक्ट (Aufrecht) की ३ विभागों में पूरी ग्रंथ सूची, जो कि बहुत ही उपयोगी और दुर्लभ है तथा भारतीय दर्शन में किसी भी प्रकार के कार्य के लिए अत्यन्त आवश्यक हैं, उसका माइक्रो फिल्म और प्रिंट डेकन कॉलेज के संदर्भ ग्रंथालय विभाग में उपलब्ध है। लेकिन इस प्रकार के कार्य कम ही होते हैं और तभी होते हैं जब उसके लिए अन्य कोई साधन संभव नहीं होता।

(५) 'टेपरेकॉर्डर'

भाषाविज्ञान और लोक साहित्य के अध्ययन के लिए विद्यापीठ में 'टेपरेकॉर्डर' मशीन भी है जिसका उपयोग आजकल अनुसंधान कार्य के लिए बहुतायत के साथ किया जा रहा है। और जिसने अनुसंधान के एक नये क्षेत्र का द्वार खोल दिया है।

(६) शोध-संस्थाओं की सदस्यता

मैं इस समय प्रत्येक अनुसंधित्सु को विविध प्रकार के अनुसंधान संस्थाओं के सदस्य होने की सलाह दूँगा क्योंकि वे अपने सदस्यों को सभी प्रकार की अनुसंधान-सम्बन्धी सुविधाएँ प्रदान करती हैं। सबसे पहले तो किसी शोध-संस्था का सदस्य होना ही गौरव की बात है। आप उनसे पुस्तकें उधार ले सकते हैं, कम मूल्य पर उनकी प्रकाशित पुस्तकें प्राप्त कर सकते हैं। प्रायः वे अपने सदस्यों को निःशुल्क पत्रिकाएँ देती हैं और उनके द्वारा दी जाने वाली सुविधाओं की अपेक्षा उनका सदस्यता शुल्क भी कोई अधिक नहीं है। इस प्रकार आप स्वयं अपने नाम से पुस्तकें प्राप्त कर सकते हैं, उनके विश्वासपात्र बन सकते हैं और यदि आपको उनके वार्षिक सत्र और सभाओं में सम्मिलित होने का अवसर प्राप्त हो तो आप देश के उच्चकोटि के अनुसंधाताओं के साथ सम्पर्क भी स्थापित कर सकते

हैं। इस प्रकार की उच्चकोटि की संस्थाओं के सदस्यता व्यय को, अपने उपाधि प्राप्त करने के लिए किए जाने वाले व्यय का ही एक अंश समझना चाहिए और अन्ततोगत्वा जो आप इससे लाभ उठाते हैं वह आपके खर्च से कई गुना अधिक होता है।

(७) अनुसंधान-छात्रवृत्ति

बहुत सी संस्थाएँ अपने विद्यार्थियों को अनुसंधान के लिए छात्रवृत्ति प्रदान करती हैं। लेकिन इन छात्रवृत्तियों के अतिरिक्त प्रान्तीय और केन्द्रीय सरकार से भी कुछ छात्र वृत्तियाँ मिलती हैं। ये छात्रवृत्तियाँ बहुत उपयोगी होतीं हैं इसलिए हमारे विद्यापीठ के छात्रों को इस प्रकार की छात्रवृत्तिओं को प्राप्त करने की सुविधा हाथ से जाने देना नहीं चाहिए।

(८) छात्र-संगठन

यूरोप में विद्यार्थियों के लिए बहुत सी सुविधाएँ विद्यमान् हैं। प्रत्येक देश में छात्र-संगठन होते हैं जो समय समय पर विद्यार्थियों को प्राप्त होने वाली सुविधाएँ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित करते रहते हैं। यह सुविधाएँ कई प्रकार की होती हैं। निवास-स्थान की सुविधा, भोजन की सुविधा, व्यक्तिगत प्रशिक्षण की व्यवस्था, सायङ्कालीन कक्षाएँ, ग्रीष्म ऋतु में अध्ययन की व्यवस्था, विशिष्ट काल तक चलने वाले अभ्यास क्रम, छात्रवृत्ति और यात्रा-व्यय आदि की सुविधाएँ वे प्रदान करते हैं। हमें इस तरह की संस्थाओं का अभी विकास करना है लेकिन यदि इस तरह की संस्थाएँ कहीं हों, तो अनुसंधित्सुओं को उनसे पूरा पूरा लाभ उठाना चाहिए।

(९) विदेशी छात्रवृत्तियाँ

विदेशों में घूमने के आकर्षण के अतिरिक्त वहाँ के प्रशिक्षण का अपना अलग महत्व होता है। बहुत से देशों ने अनुसंधान करने वाले छात्रों को छात्र-वृत्ति प्रदान की है। विदेश में और हमारे देश में भी ऐसी बहुत सी परोपकारी संस्थाएँ हैं जो महत्वाकांक्षी विद्यार्थियों की सहायता कर सकती हैं।

(१०) सूचना-केन्द्र

यह बहुत आवश्यक है कि आगरा विश्वविद्यालय एक सूचना केन्द्र खोले जहाँ पर प्रान्तीय और केन्द्रीय सरकार की छात्रवृत्ति, कॉमनवेल्थ तथा अन्य देशों की छात्रवृत्तियाँ विद्यार्थिओं के लिए खोले जाने वाले विविध प्रकार के अध्ययन की व्यवस्था, यात्रा व्यय तथा इसी प्रकार की अन्य सभी सूचनाएँ मिल सकें।

(११) यात्रा-व्यय

अनुसंधान को एक विलास का काम समझा जाता है जिससे कुछ थोड़े से लोग ही लाभ उठा सकते हैं। लेकिन यह कहना कि जो लोग आर्थिक दृष्टि से समृद्ध हैं, केवल वही अनुसंधान कार्य में प्रवृत्त हों इसमें कोई अर्थ नहीं है। यात्रा-व्यय प्रायः निर्धन और प्रतिभासम्पन्न विद्यार्थिओं को ही दिया जाता है जिसे वे इस प्रकार के व्ययशील और अनार्थिक काम में लगा सकें। इस प्रकार केवल योग्य छात्रों को ही उनकी सामग्री-संकलन के हेतु यात्रा-व्यय दिया जाना वाँछनीय है।

१९. विषय का निर्वाचन और उसके पश्चात्

जब विषय का निर्वाचन हो जाता है तब सबसे पहले उस विषय के लिए ग्रंथ-सूची और आलेख तैयार करना आवश्यक है। पुस्तक-सूची तैयार करते समय, पुस्तक का शीर्षक, उसके लेखक का नाम, प्रकाशक का नाम और पता, प्रकाशन तिथि, संस्करण और शोध-प्रबन्ध में प्रयोग किये जाने वाले अंशों की सावधानी के साथ टिप्पणी ले लेनी चाहिए। आपको अपने शोध-प्रबन्ध में पुस्तक सूची देने की जरूरत पड़ती है और इसको प्रबन्ध का अत्यन्त आवश्यक और अनिवार्य परिशिष्ट समझा जाता है। बहुत से विद्यार्थी उन पुस्तकों का नाम देकर अपनी पुस्तक-सूची का आकार बढ़ा देते हैं जिन्हें वे कभी देख या पढ़ भी नहीं पाते हैं। मुझे एक ऐसे विद्यार्थी का उदाहरण मालूम है जिसका शोध-प्रबन्ध गलत पुस्तक-सूची देने के ही कारण अस्वीकृत कर दिया गया। इसलिए आरंभ से ही पुस्तक-सूची को ठीक-ठीक बनाने की सावधानी रखनी चाहिये।

२०. टिप्पणी लेने की पद्धति

मैं अपनी ओर से विद्यार्थियों को यह सुझाव देता हूँ कि पढ़ी हुई पुस्तकों से टिप्पणी लेने के लिए चिटों का प्रयोग करें। प्रत्येक छोटे-छोटे विषय के लिए अलग-अलग चिट होनी चाहिए और टिप्पणी लेते समय सावधानी के साथ पुस्तक का संक्षिप्त शीर्षक और पृष्ठ संख्या लिख लेना चाहिए। प्रत्येक चिट पर विषयगत शीर्षक लिखना चाहिए। किसी एक विशेष पुस्तक के अध्ययन को समाप्त कर लेने के पश्चात् वर्णमाला के क्रम से इन चिटों को व्यवस्थित कर देना चाहिए जिसके बाद में उनका प्रसंग सरलता पूर्वक ढूंढा जा सके। यदि प्रत्येक शीर्षक में एक से अधिक चिटें हो जाती हैं तो उनको एक साथ मिलाकर और उनके दोनों ओर गत्ते के टुकड़े लगाकर सुरक्षापूर्वक बाँध कर रख लेना चाहिए। उनके सिरों पर पुस्तक का नाम भी लिख देना चाहिए। खुले कागजों पर टिप्पणी लेने की प्राचीन-प्रणाली बहुत बेतुकी है और इसमें बार-बार पढ़े प्रसंगों के ढूढने से समय की बरबादी होती है। चिट की प्रणाली अपनाकर जैसे-जैसे आप आगे बढ़ते हैं आप का शोध-प्रबन्ध तैयार होता जाता है। और विषयगत शीर्षक के अन्तर्गत आपको बहुत से उपकरण विषय पर लिखने के लिए मिल जाते हैं। इसके बाद आप को उस चिट की सामग्री को विधिवत क्रमानुसार व्यवस्थित करना और फिर उनको अध्ययन कर विषय के क्रम से शोध-प्रबन्ध लिखना ही शेष रह जाता है।

२१. व्यक्तिगत परिश्रम का महत्व

बहुत से उच्चकोटि के विद्वान अपने अनुसंधान के लिए नकल करने का काम और इसी प्रकार के अन्य क्लर्की के काम को अपमानजनक समझते हैं। वे दूसरों को सामग्री-संकलन के लिए इस काम में लगाते हैं और तब फिर शोध-प्रबन्ध लिखते हैं। लेकिन काम में लगे हुए व्यक्ति के विश्वसनीय और प्रामाणिक होते हुए भी ऐसे कामों में प्रतिपाद्य विषय में सुसम्बद्ध एकरूपता का अभाव रहता है। उसमें एक प्रकार की कृत्रि-मता आ जाती है और उसकी आत्मा लुप्त हो जाती है। काम को अपने आप करने से हमें अपने विषय के आधार का पूर्ण विश्वास रहता है। जो कुछ हमने छोड़ दिया है

या ग्रहण किया है उसका हमें ज्ञान रहता है और उससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि जब नकल करने का काम यंत्रवत होता रहता है तो उस समय हमारे मस्तिष्क में अनजान रूप से बहुत से विचार उठते रहते हैं, जो बहुत ही मूल्यवान होते हैं। मैं कुछ और आगे बढ़कर यह कहना चाहूंगा कि इन विचारों को भी अलग से नोट कर लेना चाहिए जिनका फिर सामग्री संकलन करते समय या शोध-प्रबन्ध लिखते समय उपयोग करना चाहिए। वैतनिक सहायक के द्वारा किया हुआ काम बहुधा अविश्वसनीय, अप्रामाणिक और सामान्य स्तर का होता है। इसी कारण महामहोपाध्याय डा० पी० वी० काणे ने अपने 'धर्मशास्त्र का इतिहास' (History of Dherma Shastra) के प्रसंगों का निरीक्षण करने के लिए स्वयं १००,००० से भी अधिक प्रसंगों को देखा और उसको मौलिक कृति के साथ बहुत ही धीरता पूर्वक मिलाया। इस प्रकार का व्यक्तिगत सर्वेक्षण कार्य के महत्त्व को बहुत बढ़ा देता है।

२२. ग्रंथ का पूर्ण अध्ययन

यदि अनुसंधान किसी ग्रंथ विशेष तक ही सीमित है तो कई बार गहन, गंभीर और पूर्ण अध्ययन करना अत्यन्त लाभदायक है। प्रत्येक बार नये अध्ययन में आपको कुछ नये विचार मिलेंगे जिनसे आपके प्रतिपाद्य विषय में गहराई आती है।

२३. शोध-प्रबन्ध का लिखना

जब सामग्री का संकलन पूर्ण हो जाता है हम शोध-प्रबन्ध के लिखने की बात सोच सकते हैं। नयी सामग्री को प्राप्त करने की कठिनाइयाँ तो सर्वदा बनी रहेंगी। इसलिए इस विषय में अपने निर्देशक से परामर्श कर लेना ही अच्छा रहेगा। कुछ ऐसे भी छात्र होते हैं जो अपने निर्देशन या परामर्श के लिए दूसरे विद्वानों से भी सहायता लेते हैं। साधारणत: ऐसा करने में कोई हानि नहीं है। लेकिन जैसा कि मानव-स्वभाव होता है, ऐसा करने में आपके गुरु जी के अप्रसन्न हो जाने का डर बना रहता है। इसके अतिरिक्त बाहरी विद्वान द्वारा समय-समय पर किए गए चर्चा और निरूपण से आपके मौलिक चिन्तन का आधार अव्यवस्थित हो जाता है। और फिर आप उस बुढ्ढे आदमी और खच्चर की कहानी की भाँति इधर-उधर दुविधा में भटकते रहेंगे। इस तरह आपके गुरु के प्रति आपकी भक्ति कम हो जाती है और यदि आपके गुरु आप में रुचि नहीं रखते हैं और आपके प्रति उदासीन हैं तो इससे आपको हानि उठानी पड़ती है। इसलिये सोच समझकर अपना गुरु चुनिये, दृढ़ता के साथ उनका अनुसरण करिये, अपनी समस्याओं और विचारों को निर्भय होकर उनके सामने रखिये और जब भी आपकी प्रगति के मार्ग में कोई बाधा उठ खड़ी हो तो सहायता लीजिए। अपनी लगन और सच्चे कार्य के द्वारा उनकी शुभकामना तथा स्नेह प्राप्त करिये। वह आपको अपने लक्ष्य की प्राप्ति में सदैव सहायता प्रदान करते रहेंगे।

प्रभातकुमार बनर्जी

पुस्तकालय का उपयोग

जो सज्जन खोज के लिये प्रस्तुत होते हैं, वह सबसे पहले पुस्तकालय में ही आते हैं और यह तो मान ही लेना चाहिये कि पुस्तकालय को व्यवहार में लाने की जो प्रणालियां हैं वे उनसे अनभिज्ञ न होंगे। किन्तु कभी-कभी ऐसा भी अनुभव किया है कि पुस्तकालय का पूर्ण रूप से उपयोग करने के लिये जो सामान्य ज्ञान की आवश्यकता होती है, वह बहुधा लोगों में नहीं होती। इसलिए ग्रन्थागार में ग्रंथों के होते हुये भी लोग अपनी अनभिज्ञता के कारण इधर-उधर भटकते फिरते हैं और अन्त में पुस्तकालय व पुस्तकाध्यक्ष को कटु शब्द कहते हुये घर चले जाते हैं। स्वयं बहुत दिनों से इस विषय पर विचार कर रहा था कि किस प्रकार से लोगों में पुस्तकालय के विषय में जानकारी कराई जावे। जब डाइरेक्टर महोदय का आदेश मिला, मैं उसे सहर्ष पालन को प्रस्तुत हो गया; क्योंकि मैंने समझा कि कदाचित आपके समक्ष उपस्थित होकर यदि मैं अपने दो चार शब्दों में आपको कुछ समझा सकूँ तो शायद आपको और पुस्तकालय को कुछ लाभ पहुंचे। अस्तु, पुस्तकालय से प्राय: लोगों की यही धारणा है कि एक ऐसा स्थान जहां पर पुस्तकें रक्खी हुई हैं। तर्क की दृष्टि से यह संज्ञा ठीक ही बैठती है; परन्तु विचार पूर्वक देखने पर हमें यही प्रतीत होगा कि ग्रन्थागार केवल ग्रंथों की समष्टि मात्र ही नहीं है। यदि ऐसा ही होता तो पुस्तकालय और किसी पुस्तक-विक्रेता के भंडार में कोई बहुत अन्तर नहीं होता। इसलिये हमको कोई दूसरी संज्ञा खोजने की चेष्टा करनी पड़ेगी। मैं अपनी स्थूल दृष्टि से तथा अनुभव से पुस्तकलय को एक संस्था-मात्र ही नहीं समझता। पुस्तकलय वही है जहां पर प्रत्येक अन्वेषक को अपनी आवश्यकतानुसार और प्रयोजन संबंधी सारी आवश्यक सामग्री उपलब्ध हो और जहां पहुँच कर अन्वेषक एक भिन्न वातावरण अनुभव करे और अपने कार्य में दत्तचित्त होने का अवसर प्राप्त हो। पुस्तकालय में विभिन्न विषयों की पुस्तकें एक विशेष रीति से रखी जाती हैं और पाठक वर्ग को उस रीति का सामान्य ज्ञान होना चाहिये। इसी को पुस्तकालय विज्ञान की भाषा में वर्गीकरण (Classification) कहते हैं। इस विषय में आगे विस्तार पूर्वक आलोचना की जावेगी। इस समय मैं आपको पहले पुस्तक-संग्रह की विविध प्रणालियों के ऊपर कुछ बताऊँगा।

जिस समय पुस्तकाध्यक्ष अपने पुस्तकालय के लिये पुस्तक-संग्रह करता है, वह सबसे पहले इस विषय को ध्यान में रखता है कि जो भी पुस्तकों का क्रय हो उनकी वास्तविक आवश्यकता है या नहीं। ऐसे तो प्रतिदिन सैकड़ों पुस्तकें प्रकाशित होती हैं किन्तु सभी को पुस्तक कहना अनुचित होगा। बहुत सी पुस्तकें ऐसी होती हैं जिनका आवेदन बहुत ही क्षणिक होता है। और इनके विषय में बहुत थोड़े दिनों में ही हम लोग भूल जाते हैं। इसलिये एक बड़े ग्रंथागार में केवल उन्हीं पुस्तकों का स्थान होना चाहिये, जिनकी विषय-वस्तु गम्भीर हो तथा जिनके उपयोग से वर्तमान तथा भविष्य के पाठकों का उपकार हो। यह एक अत्यन्त कठिन कार्य है क्योंकि बहुत सी पुस्तकों की उपयोगिता तत्काल ही ज्ञात नहीं होती। सम्भव है, आज जिसको हम बहुत ही तुच्छ समझते हैं, आगामी पांच वर्ष में उसकी उपयोगिता बहुत कुछ बढ़ जावे और लोगों को उस विषय में उत्सुकता हो। इसलिये पुस्तक-संग्रह का पहला नियम यह होना चाहिये कि विषय वस्तु का उपयुक्त निर्वाचन हो। फिर जिन-जिन लेखकों ने ज्ञान-विज्ञान तथा विभिन्न शाखाओं में प्रमुख ख्याति प्राप्ति की है, उनकी रचनाओं का सारा संग्रह पुस्तकालय में होना चाहिये। तृतीयत: पुस्तकाध्यक्ष को यह ध्यान में रखना अत्यन्त आवश्यक है कि उनके विश्वविद्यालय व विद्यापीठ में किन विषयों पर खोज की जा रही है। उन्हें नवीन विचार-धाराओं से पूर्ण रूप से परिचित होना चाहिये और प्रमुख अध्यापकों तथा विशेषज्ञों के साथ सम्पर्क स्थापित करके उनके कथनानुसार कार्य करना चाहिये। यह कार्य जितना सरल शब्दों में कहा गया है उतना सरल नहीं है। इसमें ग्रंथकारिक की सब तरफ से सहायता मिलनी चाहिये। और जब तक विश्वविद्यालय में सभी अध्यापक वर्ग सहयोग नहीं देंगे, तब तक इस विषय में सफलता प्राप्त करना सम्भव नहीं है।

अब मैं आपको पुस्तकों के वर्गीकरण के बारे में जो कि हमारा मुख्य कार्य है निवेदन करना चाहूंगा। हमारे इस प्राचीन देश में पुस्तकालय कोई नवीन वस्तु नहीं है। नालंदा तथा तक्षशिला की बात तो छोड़ दीजिये। भारतवर्ष में सभी समय पुस्तक संग्रह की रुचि सभी वर्गों के लोगों में पाई गई है। स्थान, काल, तथा पात्र के भेद से संग्रह में कुछ अन्तर अवश्य ही आ गया है। परन्तु मूल नीतियों में कोई विशेष पार्थक्य दिखाई नहीं देता। वर्तमान-कालीन यूरोपीय सभ्यता ने हमको पुस्तकों के संरक्षण तथा वर्गीकरण में कुछ नवीन ढंग सिखाया है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हमारे यहां पुस्तक सजाने की रीति कुछ थी ही नहीं। जो कुछ भी हो, हम लोगों ने समय को देखते हुये तथा युग की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये कुछ नवीन शैलियां अपनाई हैं और इन्हीं ढंग से हमारे देश में पुस्तकों का वर्गीकरण होता है। उन्नीसवीं शताब्दी के शेष भाग में अमेरिका में मैलविल डयूई नाम के एक सज्जन हुये। उन्होंने प्राचीन रीतियों को त्याग कर एक नई प्रणाली निकाली। उन्होंने समस्त ज्ञान-भंडार को दस बड़े विभागों में विभाजित किया और प्रत्येक भाग को दार्शनिक रीति से आगे और विभाजित किया। इस प्रकार सब मिलाकर कुल सौ विभागों में मनुष्य के ज्ञान भंडार को बांटा। उदाहरण स्वरूप उनको यहां लिखा जाता है।

000 General	510 Maths
100 Philosophy	520 Astronomy
200 Religion	530 Physics
300 Social science	540 Chemistry
400 Philology	550 Geology
500 Pure science	560 Paleontology
600 Applied Arts	570 Biology
700 Fine Arts	580 Botany
800 Literature	590 Zoology
900 History	

इससे आपको विदित हो जायगा कि पुस्तकों के वर्गीकरण में मुख्य वस्तु उसका विषय है । जो पुस्तक जिस विषय में आती है, उसको उसी विषय में रखा जाता है और दाशमिक रीति से उसमें अँक डाले जाते हैं । वही अँक उस पुस्तक का विषय नम्बर हो जाता है । फिर लेखक के नामानुसार आद्याक्षर लिया जाता है और एक निश्चित पद्धति के अनुसार उसको संख्या दे दी जाती है । ग्रंथ का आदि अक्षर इसके बाद में लगाया जाता है । तब ये पूरी पुस्तक वर्गीकृत होकर उसी विषय की ओर पुस्तकों के साथ ग्रंथागार में चली जाती है । इसका आशय यह नहीं है कि वहाँ पर वह पुस्तक अपनी निजस्वता को खो देती है किन्तु उसका स्थान नियत है और सर्वदा वह उसी स्थान पर रहेगी ।

उदाहरण—

1. India—A short cultural History, Rawbinson 934054 R26I
2. Literature of England A. D. 500-1946- Gillett 8209 G 61 L

उदाहरण—

भारतवर्ष के विभिन्न पुस्तकालयों में ड्यूई की इस दाशमिक प्रणाली को मान लिया गया है परन्तु इसमें कुछ त्रुटियाँ हैं । ड्यूई ने अपने देश के प्रयोजनानुसार इस पद्धति को चलाया था किन्तु इसमें हमारे प्रयोजन की वस्तुओं का अभाव है; उदाहरण:—

Indian Philosophy,	Indian History
181·4 Religion etc.	934, 954

इन सब विषयों के बारे में नाम-मात्र का उल्लेख है और यदि इनको इसी ढँग से ही रखा जावे तो हमारे कार्य में बहुत सी असुविधायें उपस्थित हो जाती हैं ।

वेदान्त के साथ चार वाक दर्शन

सांख्य के साथ शैव और चन्द्रगुप्त के साथ जहाँगीर का होना बहुत ही सम्भव है । इसलिए भारतीय विद्वानों ने इस प्रणाली में बहुत कुछ हेर फेर कर दिया है । श्री रंगानाथन जी ने तो अपनी एक नवीन वर्गीकरण पद्धति का आविष्कार कर दिया है; परन्तु प्रयोगात्मक

कठिनाइयों के कारण इस प्रणाली का व्यवहार समुचित रूप से नहीं हो: पाया है। अपने प्रयोजन को देखते हुए आगरा विश्वविद्यालय के पुस्तकालय में हम लोगों ने हिन्दी तथा संस्कृत पुस्तकों को यूरोपीय भाषाओं में लिखी हुई पुस्तकों से अलग कर दिया है और उनका ड्यूई प्रणाली के मूल नीतियों को लेकर एक दूसरी पद्धति में वर्गीकरण किया है; उदाहरण—

०० साधारण	५० विज्ञान	८१ कविता	८२ नाटक
१० दर्शन	६० व्यावहारिक शिल्प	८३ उपन्यास	८४ गद्य
२० बोध धर्म	७० कला	८१. १ आदिकाल	८१. २ वीर गाथाकाल
३० समाज-शास्त्र	८० साहित्य		८१. २३ भक्ति-काल
४० भाषा शास्त्र	९० इतिहास	८१. ३ रीतिकाल	८१. ४-१७७२-१८५७
		८१. ५ वर्तमान काल	

ज्यों-ज्यों पुस्तकालय में पुस्तकों की संख्या बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों उनको खोजना कठिन होता चला जाता है। इसलिये प्रारम्भ से ही पुस्तकालय में कोई न कोई तालिका प्रस्तुत की जाती है ताकि देखने वाले सरलता से अपनी आवश्यकतानुसार अपनी पुस्तकों का निर्वाचन कर सकें। सबसे पहले पुस्तकों को लेखकों के अनुसार रखा जाता था और उनकी एक लिखित सूची प्रस्तुत की जाती थी; किन्तु ज्यों ज्यों ज्ञान-विज्ञान का विस्तार होता गया और पुस्तकों की संख्या में बहुत वृद्धि होती गई, त्यों त्यों यह प्रणाली असफल होती गई। वर्तमान काल में जब पुस्तक का वर्गीकरण विषयानुसार किया जाता है, तब इस बात की आवश्यकता अनुभव की गई कि पाठकों को शीघ्रातिशीघ्र पुस्तकों के बारे में सूचना मिले-तभी कार्ड प्रणाली का उद्भव हुआ। साधरणत: प्रत्येक पुस्तक के चार कार्ड प्रस्तुत किये जाते हैं। प्रथम (Author card) या लेखक के नामानुसार एक कार्ड पर पुस्तक के विषय में सारा विवरण यथा पुस्तक का नाम Title, प्रकाशक, प्रकाशन तिथि तथा संस्करण इत्यादि सब कुछ लिखा रहता है। इसी तरह से दूसरा कार्ड पुस्तक के Title के अनुसार प्रस्तुत किया जाता है। तीसरा कार्ड विषय के अनुसार बनता है और उनको उसी तरह से रखा जाता है जिस तरह से पुस्तकें पुस्तकागार में रखी हुई हैं। चौथा कार्ड जिसको कि बुक कार्ड कहते हैं पुस्तक के अन्दर ही रखा रहता है और वह जिस समय पुस्तक पाठक के पास चली जाती है तब पुस्तकालय में उसका प्रतिनिधित्व करता है और उसी के सहारे इस बात को हम बतला सकते हैं कि पुस्तक किसके पास है, कि किस दिन वह पुस्तकालय के बाहर गई है और कौन से दिन वह वापिस आयेगी। पुस्तकालय में पुस्तक निर्वाचन के लिये Cataloguing का सहारा लेना अत्यन्त आवश्यक है। कोई भी मनुष्य पुस्तकालय का सारा संग्रह याद नहीं रख सकता। हम यह मान लेते हैं कि जो कोई भी मनुष्य पुस्तकालय में आवे वह या तो लेखक के नाम से परिचित हो या उसकी कृतियों से जानकारी रखता हो। इस कारण यदि वह Author या Title catalogues को देखें तो उसको ज्ञात हो जावेगा कि पुस्तकालय में वह पुस्तक है या नहीं। Author और Title catalogues का विन्यास कोष की भाँति किया हुआ होता है। इसीलिये वर्णों के क्रमानुसार उसे देखने में कोई भी कठिनाई नहीं होनी चाहिये।

Classified या विषयानुसार Catalogue हमको यह बताता है कि किस-किस विषय में कितनी पुस्तकें एक पुस्तकालय में हैं।

साधारणतः जो कठिनाइयाँ पाठक वर्ग को होती हैं, वह पुस्तकालय की वर्गीकरण प्रणाली तथा Catalogue सूची के विन्यास से अनभिज्ञता के कारण होती हैं। एक बार यदि पुस्तकालय के व्यवहार कार्यों का साधारण तौर से ज्ञान हो जावे तो कोई कारण नहीं है कि उन्हें पुस्तक निर्वाचन में कोई कठिनाई हो। कभी-कभी ऐसा भी देखा गया है कि कोई पाठक किसी विशेष पुस्तक को अपनी चिन्तानुसार स्थान में खोज रहा है किन्तु पुस्तकालय की प्रणाली दूसरी होने के कारण उसको पुस्तक के होते हुये भी नहीं मिल पाती। उदाहरण स्वरूप राजनीति के छात्र समाजवाद, साम्यवाद और तत्सम्बन्धी पुस्तकों को राजनीति विभाग में खोजते हैं किन्तु उन्हें यदि यह ज्ञात होता कि पुस्तकालय की वर्गीकरण पद्धति के अनुसार इन विषयों को अर्थशास्त्र सम्बन्धी पुस्तकों के साथ देखा जावे तो उन्हें वे सरलता से प्राप्त हो जावेगी। उसी प्रकार से मनोविज्ञान तथा और भी प्रयोगात्मक विषयों का स्थान पुस्तकालय के नियमानुसार निश्चत स्थान पर ही किया जाता है। यद्यपि यह विषय शिक्षा, व्यवसाय, समाज शास्त्र तथा अन्यान्य विषयों के साथ जड़ित हैं। इस कारण से जो भी पाठक पुस्तकालय में आवें उनको चाहिये कि वे सर्वप्रथम Catalogue को देखें। उसमें अगर कुछ कठिनाई हो तो पुस्तकालय के कार्यकर्ताओं से सहायता माँगें। वे सर्वथा उनको सहायता करने के लिये प्रस्तुत हैं और यदि कोई समस्या और उपस्थित होती हो तो पुस्तकाध्यक्ष को सूचित कर देना चाहिये और वह यथा साध्य आपकी सेवा करने के लिये प्रस्तुत रहेगा।

पुस्तकालय के कार्य को सुचारु रूप से करने के लिये विभिन्न विभागों में उसका कार्य वितरित कर दिया गया है और इन विभागों के विषय में यदि संक्षेप में कहा जाय तो वह अप्रासंगिक नहीं होगा। प्रत्येक पुस्तकालय में साधारणतः ३ विभाग होते हैं। वह क्रमशः यह हैं:—

(१) आर्डर सेक्सन—

इस विभाग का कार्य पुस्तकों का निर्वाचन तथा उनको प्राप्त करने के विषय में अनुसंधान करना है। जो सूचियाँ अध्यापकगण तथा अन्य पाठक वर्ग पुस्तकाध्यक्ष के पास भेजते हैं, उनमें बहुधा पुस्तकों के विषय में विस्तरित विवरण नहीं होता। उदाहरणार्थ एक विषय का उल्लेख मैं कर रहा हूँ, कुछ दिन पूर्व आगरे के एक प्रसिद्ध विद्वान ने अर्थशास्त्र संबंधी पुस्तकों की सूची भेजी। उस सूची में लगभग साढ़े चार सौ पुस्तकों का उल्लेख था; किन्तु उनके प्रकाशक, मूल्य तथा संस्करण के बारे में कुछ भी सूचना नहीं दी हुई थी। लेखकों के नाम भी बहुत क्षेत्रों में सम्पूर्ण नहीं थे। इस कारणवश हम लोगों को उसी सूची के अनुसार पुस्तक उपलब्ध करने में बहुत कुछ कठिनाइयां हुई और कुछ समय भी अधिक व्यय हुआ। जब कभी भी ऐसी समस्याएँ उपस्थित होती हैं तब उनको सुलझाना पड़ता है और बहुत अनुसंधान के बाद ही हम लोग पुस्तक के विषय में सारी जानकारी प्राप्त कर सकते हैं। जब तक पुस्तकों का विशद विवरण न दिया जाय, तब तक विक्रेता उन्हें सरलता से

नहीं प्राप्त कर सकते तथा समय से पुस्तकालय में भी नहीं आ पाती। इसी प्रकार कभी कभी अध्यापकगण ऐसी पुस्तकों की सूची भेजते हैं जो दुष्प्राय हैं और पुस्तक-व्यवसायी-वर्ग उनकी उपलब्धता को कठिन जानकर मनचाही मूल्य मांगते हैं। इस अवस्था में हमारे सामने एक कठिन समस्या आ जाती है। यदि हम उस मूल्य को प्रस्तुत न हों तो बहुत सम्भव है कि ऐसे दुर्लभ ग्रंथ फिर हमें न मिल सकें। और यदि हमने उसका मूल्य मनचाहा दे दिया तो लेखा-परीक्षक आपत्ति उठाते हैं। इन परिस्थितियों में साधारणतः हम लोगों को कुछ विशेषज्ञों के शरणापन्न होना पड़ता है तथा उन्हीं के मतानुसार पुस्तक का मूल्य स्थिरकृत होता है। कुछ दिन पहले एक अत्यन्त दुष्प्राप्य ग्रन्थ की प्रतियाँ जिसका नाम वाचस्पत्यम् है हमारे हाथ लगा। पुस्तक विक्रेता ने कुछ अधिक माँगा। और समय को देखते हुए तथा पुस्तक की दुष्प्राप्यता को ध्यान में रखते हुए वही मूल्य चुकाना पड़ा। किन्तु लेखा परीक्षक ने उस विषय में आपत्ति की है तथा मामला अभी तक नहीं सुलझा है।

इन सब उदाहरणों को देने का अभिप्राय केवल यही है कि आप लोग हमारी कठिनाइयों को कुछ थोड़ा बहुत अनुभव करने की चेष्टा करें तथा पुस्तकों को प्राप्त करने में कभी-कभी जो विलम्ब हो जाता है, उसको समझने की कृपा करें।

प्रत्येक पुस्तकाध्यक्ष की यह इच्छा होती है कि पाठक वर्ग सन्तुष्ट रहें। वह यथा-साध्य चेष्टा करता है परन्तु कुछ परिस्थितियाँ पुस्तकों को उपलब्ध करने में ऐसी होती हैं जिसके ऊपर उसका वश नहीं चलता।

(२) पुस्तकालय में पुस्तक आ जाने के बाद cataloguing विभाग में पुस्तक जाती है। वहाँ उसकी पूरी जांच होती है तब उसके कार्ड इत्यादि बनकर तथा वर्गीकरण के पश्चात् ग्रंथागार में भेज दिया जाता है। यह प्रणाली यथेष्ट बड़ी है और वह बहुत ही टेकनीकल है और इस कारण उसका वर्णन आपके सामने नहीं करना चाहता हूँ।

(३) अब पाठक वर्ग के सामने पुस्तक उपस्थित हो जाती है और वे उसको अपने व्यवहार में ला सकते हैं। catalogue को देखकर उसका वर्गीकरण नम्बर लिखकर जैसा कि पहले बताया जा चुका है, आदान-प्रदान विभाग को दे दीजिये। वे पुस्तक को आपकी सेवा में उपस्थित कर देंगे। यदि वह पुस्तक किसी दूसरे सज्जन के पास है तो ये सूचना भी आपको वहीं दे दी जावेगी। कभी कभी ऐसा भी होता है कि जिस क्रम से पुस्तक रखी जानी चाहिए, वह क्रम भ्रमवश टूट जाता है और पुस्तक मिलने में कठिनाई हो जाती है। ऐसी स्थिति में आपको चाहिये कि आप आदान प्रदान विभाग को सूचित करें और यदि सम्भव हो तो कभी-कभी स्वयं भी थोड़ा कष्ट करके पुस्तकाध्यक्ष को बतावें। आदान-प्रदान विभाग में सूचना देते समय इस बात का ध्यान रखा जावे कि जब कभी आप पुस्तक का नम्बर लिखें वह ठीक वैसा ही हो जैसा कि कार्ड में लिखा हुआ है। यदि इसमें कोई अशुद्धि हुई तो पुस्तक मिलने में कठिनता हो सकती है। उसी तरह से लेखक का नाम, पुस्तक का Title लिखने में कोई अशुद्धि नहीं होनी चाहिये।

(४) हमारे देश में पुस्तकालय में बैठकर पढ़ने की प्रवृत्ति बहुत ही कम पाई जाती है किन्तु यदि सोचा जाय तो आप लोग हमसे सहमत होंगे कि पुस्तकालय में बैठकर पढ़ने में सुविधा है। घरों में बहुधा बढ़ने का उपयुक्त वातावरण नहीं होता और न पढ़ाई का क्रम ही बनता है। मित्रवर्ग कभी न कभी आ जाते हैं तथा गृह-कार्य बाधा उपस्थित कर देते हैं। बहुधा ऐसा भी होता कि जो पुस्तक हम पाठागार से लाते हैं उसको आलस्यवश कई दिन तक देखने का अवसर ही नहीं होता। और पुस्तकों को लेते समय जिन विषयों के बारे में हमने सोचा था वह भी ध्यान से उतर जाते हैं। एक और भी दायित्व पुस्तक व्यवहार करने वाले पर आ पड़ता है। वह यह कि यदि आप किसी पुस्तक को अधिक समय तक अपने पास रख लेते हैं तो दूसरे व्यक्ति उससे लाभ उठाने से वंचित हो जाते हैं। अतः सब का यह कर्त्तव्य है कि पुस्तक को यथासम्भव शीघ्र लौटाने की चेष्टा करें और ऐसा करने से पुस्तकालय के संचालन करने में बहुत कुछ सरलता आ जाती है। पुस्तकालय में कुछ ऐसी पुस्तकें हैं जो अपनी दुष्प्राप्यता के कारण तथा कुछ अन्य कारणों से पुस्तकालय से बाहर नहीं जा सकती तथा उनके पढ़ने का एक मात्र साधन पुस्तकालय का पाठागार ही है, वहां का शान्त वातावरण तथा उपयुक्त व्यवस्थाऐं आपके पठन-पाठन से सहयोगी बनता है। और आपको उसका पूर्ण सुयोग लेना चाहिये।

अब तक मैं आपसे पुस्तकालय के विभिन्न विभागों का तथा वहाँ से उपलब्ध सेवाओं के विषय में कुछ निवेदन कर रहा था। अब मैं आप लोगों को पुस्तकालय में खोज संबंधी प्रमुख आवश्यक पुस्तकों को बतलाने की चेष्टा करूंगा जिनसे आप के कार्य में सहायता पहुँचे।

अन्वेषकों को बहुधा कोष तथा ऐसी दूसरी पुस्तकों की सहायता लेनी पड़ती है जिनमें मनुष्य की ज्ञान-विज्ञान संबंधी विविध सूचनाऐं दी हुई होती हैं। इन सब में Encyclopaedia Britanica का नाम सब से पहले उल्लेखनीय है। इनमें जिन विषयों का वर्णन होता है वह बहुत ही आधुनिक तथा पूर्ण होता है। उन्हीं के आधार पर अन्वेषक को खोज संबंधी विषयों मे सहायता मिलती है। इसी प्रकार से Encyclopaedia Americana तथा Annual Register भी हैं जो कि इतिहास, राजनीतिक घटनाएँ, विज्ञान, साहित्य तथा कला के विषय में तथ्यपूर्ण सूचनाएँ देते हैं। हमारे ग्रन्थागार में हिन्दी का एक-मात्र विश्वकोष हिन्दी विश्वकोष है। यह सभी अन्वेषकों के लिये अत्यन्त कार्यकारी सिद्ध हुआ है।

एक अन्य सहायक पुस्तक समष्टि Bibliography है। इनसे हम विभिन्न विषयों की खोज लगा सकते हैं और इनकी सहायता से हमें अपनी सूची प्रस्तुत करने में बहुत कुछ सहायता मिल सकती है। भारतवर्ष का राष्ट्रीय पुस्तकालय तथा Cumulative Book Index हमें इस दिशा में बहुत कुछ मदद करते हैं। National Library की सूची अब सभी भाषाओं की पुस्तकों में प्रस्तुत की जा रही हैं और जिस समय Indian National Bibliography बन जायगी तब हमें भारतवर्ष में प्रकाशित पुस्तकों की यथेष्ट जानकारी हो जावेगी।

Cumulative Book Index में सन् १८९८ से लेकर वर्तमान काल तक की जितनी भी पुस्तकें अँग्रेजी भाषा में छप चुकी हैं, उन सबका विवरण दिया हुआ है। प्रत्येक मास इनके पूरक अंक निकलते हैं और हर साल इसका नया अँक प्रकाशित किया जाता है।

साम्प्रतिक घटनाओं के विषय में यदि कोई सूचना प्राप्त करनी है तो आपको Keesings Contemporary Archives तथा Asian Recorder को देखना चाहिये। इनमें प्रत्येक देश की विशद् घटनाओं का विवरण है और प्रत्येक पखवारे में इसका अंक आ जाता है। साम्प्रतिक घटनाओं के विवरण के लिये तथा उनका ज्ञान प्राप्त करने के लिये इनसे अधिक और कोई सहायक पुस्तक नहीं है। व्यक्ति-विशेष की जानकारी के लिये Year Book या अब्द कोष की सहायता लेनी पड़ती है। इनमें प्रत्येक देश का संक्षिप्त विवरण होता है तथा साथ में मानचित्र भी दिया रहता है। किसी भी देश के आर्थिक, राजनैतिक तथा व्यावसायिक विषयों का इनमें उल्लेख रहता है। और इनसे सभी को यथेष्ट सहायता मिलती रहती है। अन्वेषकों को विशेष सहायता सामयिक पत्रिकाओं से बहुत कुछ मिल जाती है। पत्रिकाओं का पुस्तकागार में एक विशेष स्थान है। इनमें समय समय पर बहुत से विद्वत्तापूर्ण लेख छपते हैं और इनसे गवेषकों को बहुत कुछ सहायता मिलती है। इन लेखों में मूल समस्याओं के विषयों में आभास दिया जाता है और क्योंकि ये विशेषज्ञों के लिखे हुये होते हैं इसलिये अन्वेषकों को अपने कार्य में बहुत कुछ सुविधा हो जाती है। पुस्तकालय में पत्रिकाओं का संग्रह करना एक विशेष कार्य है और कोई ग्रन्थागार इसकी अवहेलना की दृष्टि से नहीं देख सकता। पुरानी पत्रिकाओं की फाइलें एकत्रित करके वर्ष के अनुसार जिल्द (Binding) करवा दी जाती है। इनके अतिरिक्त और भी सहायक पुस्तकें हैं जिनके विषय में कहकर मैं आपके धैर्य की परीक्षा नहीं लेना चाहता। यदि आप पुस्तकालय में आने का कष्ट करें तो उनके विषय में मैं आपको वहीं बतलाऊंगा।

(२)

भारतवर्ष प्राचीन काल से ही ज्ञान-विज्ञान के लिये प्रसिद्ध रहा है। हमारा यह देश, जिस समय पृथ्वी का और भाग अंधकार की कालिमा में छिपा हुआ था, ज्ञान-विज्ञान की गरिमा से आलोकित रहा। यह हमारे अत्यन्त गर्व की बात है कि तीन हजार वर्ष पहले भी हमारे देश में पुस्तकालय का आयोजन था। पर काल के कठोर प्रहार से हमारे वे गौरवमय दिन चले गये और भारतवर्ष के ऊपर बहुत सी आपत्तियाँ समय-समय पर आती रहीं। राजनीतिक उथल-पुथल, वैदेशिक आक्रमण तथा तदानुसंगिक विप्लव से देश को बहुत ही क्षति पहुँची। कुछ दिनों के लिये हम अपनी सारी सत्ता ही खो बैठे। देश के ऊपर एक विदेशी सत्ता ने दो सौ वर्ष तक शासन किया और उनकी चेष्टा यही रही कि भारत में प्रगति न हो। किन्तु युग-धर्म को रोकना उनके साध्य के बाहर था। १८ वीं शताब्दी के शेष भाग से सारे विश्व में जो नई जागृति की लहर दौड़ी, भारत भी उससे बहुत प्रभावित रहा, यद्यपि हमारे देश में विभिन्न राजनैतिक तथा सामाजिक कारणों से इसका प्रभाव कुछ विलंब से अनुभूत हुआ। ज्ञान-विज्ञान के विभिन्न विषयों में व्युत्पत्ति करने की जो तीव्र आकांक्षा देशवासियों ने अनुभव की उसको रोकने की शक्ति शासक वर्ग में नहीं थी और धीरे-धीरे भारत में ५ भाँति-भाँति के स्कूल, कालेज तथा विश्वविद्यालय स्थापित होते चले गये। कुछ लोग विदेशों में भी शिक्षा प्राप्त करने लगे तथा विदेशी ढंग को अपनाया गया, इससे कुछ हानि अवश्य हुई परन्तु लाभ भी बहुत कुछ हुआ। हम लोगों ने यह जान लिया कि हमारी दीन-अवस्था के लिये विदेशी शासक वर्गों को दोषी न कर तथा उनकी त्रुटियों की आलोचना करने से ही काम नहीं चलेगा। हमें आत्मोन्नति के लिये कठोर परिश्रम तथा त्याग करना पड़ेगा और इस दिशा में पहला उद्यम देश में ज्ञान-वितरण करना प्रथम समझा गया।

देश में शिक्षा-वितरण करने का प्रथम स्तर केवल विद्यालयों के उद्घाटन से ही पूरा नहीं हो जाता यह सत्य हमारे देश के चिंतानायकों ने अनुभव किया और इसीलिए पाश्चात्य ढंग से पाठागणों की भी स्थापना स्थान-स्थान पर होने लगी। प्रारंभ में इसके विषय में कोई भी पूर्व परिकल्पना नहीं थी, जहाँ कहीं भी लोगों को सुविधा मिली उन्होंने सार्वजनिक ग्रंथागारों की स्थापना की किन्तु उस समय हमारे देश में प्रकाशित ग्रंथों की संख्या बहुत ही नगण्य थी और बहुधा लोग विदेशी भाषा ही से अपनी ज्ञान-पिपासा निवृत्त करते थे पर कुछ समय पश्चात जब देशी भाषायें उन्नति करने लगीं और इनमें लिखकर बहुत से लेखकों ने आंतरजातीय ख्याति भी प्राप्त की तब देशवासियों का ध्यान इस ओर और भी आकर्षित हुआ। नवप्रभात की सूचना में जैसे चारों तरफ सहसा विभिन्न प्रकार के पक्षी कूजन करने लग जाते हैं उसी भाँति भारत के सभी भागों में शक्तिशाली कवि,

उपन्यासकार, नाटककार तथा अन्यान्य साहित्यकारों का जन्म हुआ और वे अपनी प्रतिभा के देदीप्यमान आलोक से चारों दिशाओं को आलोकित करने लगे। जब पुस्तकों की समस्या दूर हुई तब अपने आप उन्हें उचित ढंग से संग्रह करने का प्रयोजन भी अनुभव किया गया। किन्तु सबसे बड़ी कठिनाई जो हमारे सामने आई वह पुस्तकों के संग्रह करने की विधि में पाई गई। विदेशी शासक इस विषय में पूर्ण उदासीन थे और इन पुस्तकागारों को सर्वदा संदेह की दृष्टि से देखते थे, पर उनमें से एक ऐसा सज्जन निकला जिसने एक महत कार्य किया। लार्ड कर्जन को हम देश में विभाग लाने वाला तथा कट्टर साम्राज्यवादी के रूप से ही जानते हैं पर इन सब अवगुणों के होते हुए भी लार्ड कर्जन ने देश की साँस्कृतिक उन्नति में थोड़ा बहुत हाथ बटाया था। उसी की प्रेरणा से हमारे देश में पुरातत्व विभाग की स्थापना हुई और पहले पहल Imperial Library का शिलान्यास किया गया। सन् १९०२ में एक सार्वजनिक पाठागार को राजकीय मान्यता प्राप्त हुई और Imperial library को केन्द्रीय सरकार से आर्थिक सहायता दी जाने लगी। पर लार्ड कर्जन के चले जाने के पश्चात ही इसकी ओर से शासक वर्गों का ध्यान हट गया तथा इसकी सहायता भी कम करदी गई। Imperial library ने कुछ बुरे दिन भी देखे पर सौभाग्यवश कुछ प्रसिद्ध विद्वान इसके कर्णधार स्वरूप रहे और उन्होंने अपने प्रयत्नों से इसको उन्नतिशील बनाये रखने का प्रयास किया। इनमें से हरिनाथ डे और आशादुल्ला साहब का नाम उल्लेखनीय है। इन दो महानुभावों ने हमारे देश में पाश्चात्य ढंग से ग्रंथागार-विज्ञान-संबंधी प्रशिक्षण का भी आयोजन किया और देश में ग्रंथागार आँदोलन में एक नये अध्याय का श्रीगणेश हुआ। भारतवर्ष के स्वाधीन होने के पश्चात Imperial library का नाम National-Library में परिवर्तित हो गया और कुछ दिनों पश्चात इसे copy right-Library भी बना दिया गया, जिसका अर्थ यह है कि देश में जितनी भी पुस्तकें प्रकाशित हों उनकी निश्चित प्रतियाँ यहाँ भेजी जाती हैं और इस भाँति वास्तव में यह एक जातीय संपत्ति में परिणित हो गई है। भारतवर्ष को सभी भाषाओं की प्रकाशित पुस्तकों का समावेश यहाँ किया जाता है। इस भाँति यहाँ सभी पुस्तकों के बारे में सूचना अवश्य मिल जाती है। हमारे देश के सभी स्थानों के गवेषक यहाँ के पुस्तक-संग्रह से लाभ उठाते हैं और यहाँ से विभिन्न प्रांतों में पुस्तक भेजने की भी व्यवस्था है। इस समय वहाँ पर लगभग ८ लाख पुस्तकों का संग्रह है तथा विभिन्न भाषाओं की पुस्तकें क्रमानुसार वहाँ रक्खी हुई हैं। इसके उपरान्त यहाँ का Reference Section बहुत ही समृद्ध है और अन्वेषकों के सभी प्रकार के प्रश्नों का उत्तर शीघ्रातिशीघ्र देने का प्रयत्न किया जाता है। हाल ही में Indian National Bibliography प्रकाशित करने की भी योजना पूरी हो चुकी है और इसकी अध्यक्षता में भारतीय संस्कृति तथा मानव विज्ञान की दो प्रामाणिक सूचियाँ (Bibliography) प्रस्तुत की गई हैं। इस कार्य को पूर्ण करने के लिये यहाँ पर सभी भाषाओं के प्रतिष्ठित विद्वानों का समावेश किया गया है और यद्यपि इसकी प्रगति कुछ विलंबित है, फिर भी यह मानना ही पड़ेगा कि जब यह कार्य पूर्ण हो जावेगा तब एक महान कहलाने का अधिकारी होगा।

इस देश के प्रमुख ग्रंथागारों में लोकसभा ग्रंथागारों का एक विशिष्ट स्थान है, यद्यपि इसकी स्थापना सन् १९२१ में हुई थी, स्वाधीनता के बाद ही इसने उल्लेखनीय प्रगति की है। यह लोक सभा में ही स्थित है। इसके उपयोग का अग्राधिकार लोकसभा के सदस्यों में ही सीमित है फिर भी अनुमति लेकर भारत का कोई भी नागरिक इसका उपयोग कर सकता है। यह भी एक Copy right library है किन्तु इसका मुख्य उद्देश्य भारतीय राजनैतिक पुस्तक-पुस्तिकाओं का संग्रह करना है। पुस्तकों का समावेश यहाँ बहुत ही नवीन ढंग से किया जाता है और अन्वेषकों को सब तरह की सुविधायें दी जाती हैं। संग्रहकर्ताओं की रुचि प्रधानतः राजनैतिक तथा प्रशासन संबंधी होने के कारण यहाँ पर उन विषयों से सम्बन्धित सारी पुस्तकें, रिपोर्ट्स तथा भारत सरकार द्वारा प्रकाशित विभिन्न पुस्तकें एकत्रित हैं और इन विषयों में खोज करने वालों के लिये यह सर्वोत्तम स्थान है। यहाँ पर वर्तमान ग्रंथ-संख्या ३ लाख से भी अधिक है। समाचार पत्रों का संरक्षण यहाँ पर वैज्ञानिक ढंग से किया जाता है। प्रमुख समाचार पत्रों के microfilm reader प्रस्तुत करने की भी आयोजना है। microfilm reader की व्यवस्था होने से लोग सरलता से इसका उपयोग कर सकते हैं। एक research and reference section इसके साथ संयुक्त है जो कि तरह-तरह की समस्याओं के सुलझाने में सहायता देता है। लोक सभा के सदस्य बहुधा सदन में प्रश्नादि पूछा करते हैं और उन प्रश्नों का उत्तर देने के लिये यथेष्ट reference सामिग्री यहाँ एकत्रित की गई है। यद्यपि सर्वसाधारण के लिये इसकी सेवा-सुविधा सर्वदा उपलब्ध नहीं होती फिर भी अन्वेषक यहाँ से कुछ न कुछ लाभ अवश्य ही उठा सकते हैं।

हमारे देश में शिक्षा की प्रगति के साथ-साथ ग्रंथगारों का विकास भी पूर्ण रूप से हुआ है। वैज्ञानिक दृष्टि से यदि देखा जाय तो विश्वविद्यालय से संलग्न ग्रन्थागार ही ग्रंथागार कहलाने के योग्य हैं। जिस समय विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई उस समय ग्रंथागारों के विषय में प्रतिष्ठाताओं का अधिक ध्यान नहीं था। कलकत्ता विश्वविद्यालय में प्रारम्भ में केवल १५०० पुस्तकें थीं। किन्तु धीरे-धीरे उस दिशा में यथेष्ट प्रगति की जाने लगी और विश्वविद्यालय के साथ ग्रन्थागार का प्रकृत स्वरूप क्या होना चाहिए, उस विषय में हम लोग ठीक निर्णय पर नहीं आ पहुँचे। क्या विश्वविद्यालय केवल वहाँ के छात्र तथा अध्यापक वर्ग के अध्ययन में ही सहायक हों या उसका मुख्य ध्येय अन्वेषक को सहायता देना है। यह अभी पूर्ण रूप से निरूपित नहीं हो पाया है। इस समय भारत में ३८ विश्वविद्यालय हैं और शीघ्र ही ५, ६ और स्थापित हो जायेंगे। U. G.C. के सुयोग्य अध्यक्ष श्री C. D. Deshmukh महाशय इस विषय में बहुत ही उत्सुक हैं कि प्रत्येक विश्वविद्यालय में ग्रंथागार की स्थापना पहले हो और विश्वविद्यालय के कार्यकर्ता उस ओर अधिक से अधिक ध्यान दें। धन की कमी प्रायः अब नहीं है। बहुत से विश्वविद्यालय-पुस्तकालय तो अपने लिये निश्चित धन-राशि को पूर्ण रूप से खर्च भी नहीं कर पाते। विश्वविद्यालय से संलग्न ग्रंथागारों में उत्तर भारत में सब से उल्लेखनीय ग्रन्थागार बनारस विश्वविद्यालय का है। महामना मालवीय जी ने ग्रंथागार की उन्नति में बहुत ध्यान दिया था और उन्होंने सबसे पूर्व विश्वविद्यालय के ग्रंथागार के लिये एक विशेष

भवन का निर्माण भी कराया था। उन्हीं की प्रेरणा से आज बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय संस्कृत,इन्डौलौजी तथा हिन्दी के विषयों में प्रमुख अन्वेषण केन्द्र बन गया है। इस समय वहाँ पर कुल पुस्तकों की संख्या लगभग ३ लाख की है। पर बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय डाक से दूसरे विश्वविद्यालयों को पुस्तकें नहीं भेजता, इससे अन्वेषक को वहीं जाकर अपनी सामिग्री जुटानी पड़ती है। लखनऊ विश्वविद्यालय के अंतर्गत टैगोर पुस्तकालय उत्तर प्रदेश के विश्वविद्यालय-पुस्तकालयों में एक अपना स्थान बनाये है। यहाँ पर समाज शास्त्र, मनोविज्ञान तथा अंग्रेजी साहित्य का संग्रह बहुत अच्छा है और यहाँ का ग्रंथागार सर्वदा दूसरे विश्वविद्यालयों को पुस्तकें भेजता है और यहाँ पर बैठकर पढ़ने का भी आयोजन अति सुन्दर है। कलकत्ता विश्वविद्यालय का पुस्तकालय बहुत दिनों से प्रसिद्ध रहा है। यह सन् १८५७ में स्थापित हुआ था। इस समय वहाँ पर लगभग ४ लाख पुस्तकों का समावेश है। किन्तु पुस्तकालय का निजी भवन न होने के कारण उसकी प्रगति में पर्याप्त बाधा उपस्थित हो रही है। कलकत्ता विश्वविद्यालय में कला, संस्कृत, बंगला,तिब्बतियन तथा इस्लामिक हिस्ट्री और ला का प्रमुख संग्रह है। प्राचीन ग्रंथों का संग्रह भी यहाँ सराहनीय है।

दक्षिण भारत के पुस्तकालयों के विषय में मुझे कोई विशेष जानकारी नहीं। इससे उनके विषय में कुछ कहना अनधिकार चर्चा समझता हूँ। आपके विद्यापीठ में जो दक्षिण भारत के अध्यापक हैं, वे अवश्य ही आपको इस विषय में परामर्श दे सकेंगे।

सरकार के कार्यों की सुविधा के लिये एक Record deptt. बहुत दिनों से स्थापित कर दिया गया है। धीरे-धीरे इसकी ओर विद्वानों का ध्यान आकर्षित हुआ और उन्होंने यहाँ पर संग्रहीत सरकारी पोथी-पत्रों का उपयोग प्रारम्भ कर दिया। Record deptt. ब्रिटिश काल में Imperial records के नाम से प्रसिद्ध था। स्वाधीनता के पश्चात् यह National archives के नाम से प्रसिद्ध हुआ। प्रसिद्ध इतिहासवेत्ता डा० सुरेन्द्रनाथ सेन इसके बहुत दिनों तक अध्यक्ष रहे और उसके पश्चात् आज कल डा० सलातोरे इसके प्रधान कार्यकर्त्ता हैं। ऐतिहासिक विषयों की खोज के लिये विशेषत: ब्रिटिश युग के इतिहास की सामिग्री यहाँ जितनी उपलब्ध होती है उतनी कहीं नहीं मिल सकती। पूना में भंडारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट तथा डेकन कालिज लाइब्रेरी अपने-अपने विषयों में बहुत ही विख्यात हैं। भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट में साहित्यिक तथा ऐतिहासिक पुस्तकों का बहुत अच्छा समावेश है और डेकन कालेज आजकल भाषाविज्ञान तथा भारत की प्राचीन ऐतिहासिक खोजों के लिये हमारे देश में सभी जगह प्रसिद्ध है। इनके विषय में अधिक कुछ कहना उचित नहीं समझता क्योंकि आपके विद्यापीठ में श्री हर्षे इन दोनो प्रतिष्ठानों से बहुत दिनों तक संयुक्त रहे हैं और इनके विषय में यदि किसी को अधिक जानकारी करनी हो तो वे उनसे वार्तालाप कर सकते हैं। Royal Asiatic society of Bengal & Bombay हमारे देश की प्राचीन संस्थाओं में से हैं। यहाँ पर बहुत से खोज संबंधी कार्य हो चुके हैं और ऐतिहासिक और प्राचीन ग्रन्थों का समावेश

यहाँ अति समृद्ध है। Greater India society का मुख्य पत्र यहीं से निकलता था और डा० बी० सी० लॉ आदि प्रमुख ऐतिहासिक इसके साथ बहुत दिनों से सम्बन्धित रहे और इनको उन्नत बनाने की चेष्टा करते रहे हैं।

हिन्दी पुस्तकों के संग्रह के लिये हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग तथा काशी नागरी प्रचारिणी सभा के पुस्तकालय पर्याप्त ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। दोनों संस्थायें हिन्दी पुस्तकों की तथा हस्तलिखित पोथियों के संग्रह में अग्रगण्य हैं और उनका प्रयत्न सदा यही रहा है कि किन संभाव्य उपायों से हिन्दी का कार्य सरलतापूर्वक चल सके। हिन्दी साहित्य सम्बन्धी कोई भी खोज इन दोनों पुस्तकालयों की सहायता के बिना असम्भव है।

प्रसंगतत: आपके शहर में चिरंजीलाल पुस्तकालय भी छोटा होने पर भी एक अत्यन्त व्यवस्थित ग्रंथागार है और निजस्व संग्रह होने पर भी यहाँ पर बहुत अच्छी पुस्तकों का समावेश किया गया है।

उदयशङ्कर शास्त्री

हस्तलिखित ग्रंथ और उनका उपयोग

भारतवर्ष में ग्रंथों के लिखे जाने की प्रथा कब से आरम्भ हुई यह अभी तक निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता है। यही कारण है कि वेदों को हम आज भी श्रुति के नाम से पुकारते हैं, तो भी प्राचीनता की दृष्टि से चाणक्य का 'अर्थशास्त्र' अवश्यमेव-लिखित परंपरा का ग्रंथ है, इसके अतिरिक्त भूर्जपत्र एवं ताल पत्र पर लिखी पोथियाँ पाई जाती हैं। भोजपत्र पर लिखी हुई पाई गई प्रतियाँ लगभग १६-१७ सौ वर्ष पुरानी हैं इनमें तालपत्र पर लिखी गई पोथियाँ ११ वीं १२ वीं शती से मिलने लगीं हैं। अर्थशास्त्र और पाल पोथियों के बीच की अवधि में लिखे गये ग्रंथ तो नहीं मिले हैं परन्तु उनके जो वर्णन मिले हैं उनसे विदित होता है कि हिमालय के आस पास के प्रदेशों में भोजपत्र का उपयोग होता था और समतल प्रदेश में ताल पत्र का।

तालपत्र मुख्यतया दो प्रकार का होता था। एक राजताल दूसरा स्वरताल। यह तालपत्र जावा, सुमात्रा आदि देशों से मँगाया जाता था। आचार्य हेमचन्द्र ने सिद्धराज जयसिंह से कहा था, "कि अब मेरे ग्रन्थ स्वरताल पर लिखे जाने लगे हैं, क्योंकि राजताल समाप्त हो गया है। इस पर सिद्धराज ने हेमचंद्र को राजताल मँगवा दिया था।" इन तालपत्रों पर लिखे गये ग्रन्थ सादे तथा चित्रित दोनों प्रकार के हुआ करते थे। ग्रन्थ को सुरक्षित करने के लिये दोनों ओर लकड़ी की पटिया लगीं रहतीं थीं। ये पटियें भी बहुधा चित्रित एवं बेल बूटों से अलंकृत हुआ करतीं थीं। नेपाल से पाई जाने वाली तालपत्र की पोथियाँ प्राय: बौद्ध सम्प्रदाय की हैं और उनमें अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता ही अधिक हैं। ये पालपोथियाँ पाल राजाओं के राज्य काल में लिखीं गईं हैं, इसीलिए इन्हें पालपोथियाँ भी कहा जाता है।

जैन ताल पोथियों के चित्र अपभ्रंश शैली के हैं, जिनमें कहीं-कहीं प्रतीत होता है कि ये अपनी आरंभिक शैली में हैं पर पाल पोथियों के चित्र निश्चय ही अजन्ता शैली के प्रतीत होते हैं। इन पोथियों के तालपत्र ३ या ४ इंच चौड़े और १५ से लेकर २० इंच तक लम्बे होते हैं। इन्हें सिलसिलेवार रखने के लिये इनके बीच में आर पार

एक या दो छेद होते हैं जिनमें रस्सी (सूत्र) डालकर ऊपर और नीचे की पटियों से बाहर लाकर गांठ लगा दी जाती थी। इसलिए, इस प्रकार से ग्रथित पत्रों को 'ग्रंथ' नाम दिया गया है।

आजकल हस्तलिखित ग्रंथों को 'पांडुलिपियाँ' कहा जाने लगा है। किन्तु प्राचीन काल में पांडुलिपि उस हस्तलेख को कहा जाता था जिसके प्रारूप (मस्विदा) को पहले लकड़ी के पटरे या जमीन पर खड़िया (चाक) से लिखा जाता था फिर उसे शुद्ध करके अन्यत्र उतार लिया जाता था और उसी को पक्का कर दिया जाता था। हिंदी में यह अर्थ विपर्यय अंग्रेजी के कारण हुआ है। अंग्रेजी में किसी भी प्रकार के हस्तलेख को 'मैन्युस्क्रिप्ट' कहते हैं। चाहे वह किसी लेख का मसौदा हो या किसी ग्रन्थ का हस्तलेख।

ताल पोथियों के बाद ही कागज पर ग्रंथों का लिखना आरम्भ हुआ। कागज का बनना पहले पहल चीन में आरम्भ हुआ था। आगे चल कर वहीं से इसका सारे संसार में प्रचार हुआ। किन्तु भारत में कागज़ का यह उपयोग चौदहवीं शती से पहिले नहीं पाया जाता। इस समय पाये जाने वाले हस्तलिखित ग्रन्थों में प्रायः तीन प्रकार का कागज पाया जाता है। १, 'बाँसी, जो मटमैला भूरे रंग का होता है। २, सफेद रंग का मोटा, (इस कागज की निर्माण प्रक्रिया में पता नहीं कहाँ कमी है जिसके कारण बरसाती हवा और सील से आप ही आप इसमें कीड़े उत्पन्न हो जाते हैं, जो सारे ग्रन्थ को चलनी कर देते हैं।) ३, हल्के बादामी रंग का जो शायद रुई एवं कागज की लुगदी से बनता है। इन तीन प्रकार के कागजों के अतिरिक्त कभी-कभी सफेद चिकने कपड़े को पुस्तकाकार काट कर उस पर भी ग्रंथ लिखे जाते रहे हैं। चमड़े पर जैनशास्त्र एवं फारसी अरबी के ग्रंथों की लिखावटों के नमूने भी पाए गए हैं। लकड़ी के पटरों पर भी कील से खोदे हुए कुछ लेख मिले हैं।

कागज के बाद ग्रंथों के लिए सबसे महत्त्वपूर्ण वस्तु है, रोशनाई। जिस प्रकार लिखावट में हथौटी प्रधान होती है उसी प्रकार ग्रंथ की अच्छी लिखाई के लिए अच्छी रोशनाई भी दरकार होती है। इसका पुराना नाम 'मसि' है। रोशनाई बनाने वाले अथवा उसके प्रयोग से जीविकोपार्जन करने वाले को 'मसिजीवी' संज्ञा दी गई थी।[२] इसे बनाने के पुराने नुस्खे अब प्रायः लुप्त हो चले हैं। जिनमें से कुछ ये हैं:—एरंड के तेल से काजल पार कर एक पोटली में बाँध लिया जाय, एक मिट्टी की हाँडी में पानी भर कर और उसमें बांस की हरी पत्तियाँ डाल कर आग पर चढ़ा दिया जाय। और दोला यंत्र के सहारे उस पोटली को हाँडी में लटका दिया जाय। कम से कम एक प्रहर तक वह हाँडी आग पर रखी जाय और कालिख की पोटली उसी में पकने दी जाय, कालिख के पकजाने पर हांडी को चूल्हे पर से उतार लेना चाहिए और उस पोटली के शीतल होने पर हाँड़ी से निकाल लेना चाहिए, फिर उस काजल को लाख के रस में खरल कर

२. असी जीवी मसी जीवो देवलो ग्राम याचकः।
धावकः पावकश्चैव षडेते शूद्रवद्द्विजः॥

लिया जाय। इस रोशनाई में कच्चा पानी डालने की प्रथा नहीं थी, जब रोशनाई गाढ़ी हो जाती थी तो उसे लाख के पकाये हुए रस से हल्की बनाते थे। कोई-कोई इसे खरल करते (घोंटते) समय गोंद भी डालते थे। जिससे रोशनाई में चमक तो आजाती थी, परन्तु एक बड़ा दोष भी यह आजाता था कि बरसात में बरसाती हवा के कारण ग्रंथ के पत्र चिपक जाते थे, जिन्हें छुड़ाने में कभी-कभी पृष्ठ के पृष्ठ खराब हो जाते है। ऐसे ग्रंथों के पत्र अलग-अलग करने के जिए बलप्रयोग कदापि नहीं करना चाहिए वरन् ऋजुता से ही काम लेना चाहिए। इस की उत्तम विधि यह है कि एक मटके में पानी भरकर रख दिया जाय, जब वह मटका पानी से बिल्कुल सीझ जाय तब उसका पानी निकाल कर फेंक दे और ग्रंथ को उसी में लकड़ी के एक गुटके के ऊपर रख दे और उस मटके का मुँह बन्द करदे। कम से कम चार दिन के बाद ग्रन्थ को निकाल लेना चाहिए। इस पद्धति से ग्रंथ के चिपके हुए पत्र अपने आप खुल जाते हैं। दूसरी पद्धति रोशनाई बनाने की और है वह यह, कि, लोध, सुहागा, लिलबरो को समान भाग लेकर भंगरे के रस में लोहे की कड़ाही में लोहे से ही घोंटना चाहिए। इस विधि से रोशनाई बनती तो अच्छी है परन्तु पहली के समान सुन्दर नहीं होती है। रोशनाई के प्रसंग में यह भी उल्लेख मिलता है कि एक प्रकार की कच्ची रोशनाई भी होती थी। तृतीय राजतरंगिणी के कर्त्ता जोनराज ने लिखा है कि मेरे पिता ने दस प्रस्थ भूमि में से एक प्रस्थ भूमि बेच दी थी। उनकी मृत्यु के पश्चात् खरीदने वाले दसों प्रस्थ भूमि जबरदस्ती भोगते रहे। और विक्रय पत्र में 'भूप्रस्थमेकं विक्रीतं' का 'भूप्रस्थ दशकं विक्रीतं' कर लिया था। मैंने जब राज सभा में अभियोग उपस्थित किया तो राजा ने विक्रय पत्र को पानी में डाल दिया, जिससे नई स्याही के अक्षर तो धुल गए और पुरानी के रह गये। इससे यह स्पष्ट है कि कोई कच्ची स्याही भी होती थी। इन रोशनाइयों से लिखे लेख में आगई अशुद्धि को दूर करने के लिए अक्षर को काटने की प्रथा नहीं थी, वरन् उसी पर हरताल फेर दी जाती थी। जिससे वह स्थान पीला हो जाता था। यदि आवश्यकता होती थी तो उसी पर लिख दिया जाता था अन्यथा यों ही छोड़ दिया जाता था। यों तो साधारण रूप से पंक्तियों को अलग करने के लिए लाल रोशनाई का ही प्रयोग होता था परन्तु कभी-कभी हरताल से भी यह काम लिया जाता था।

ग्रंथों में पंक्तियों की सुरूपता पर बड़ा ध्यान जाता था। बिना पंक्तियों के कोई ग्रंथ नहीं लिखा जाता था। कागज पर पंक्तियाँ करने के लिए भी एक प्रकार की पट्टी का प्रयोग किया जाता था। लकड़ी की चौरस पट्टी को लेकर जिस प्रकार की पंक्तियाँ बनानी होती थीं उसी प्रकार की बराबरी नाप करके दोनों ओर एक दूसरे के समानान्तर छेद कर लिए जाते थे। फिर उनमें इस प्रकार सूत्र पिरो दिया जाता था कि कागज़ उसके ऊपर रख कर दबाने से पंक्तियाँ अपने आप उभर आतीं थीं। और उनके सहारे ग्रन्थ लिखा जाता था। इस पट्टी को तैयार करने के समय इस बात का ध्यान रखा जाता था कि जिस आकार के कागज पर, अर्थात् ग्रंथ के पत्र जितने लम्बे चौड़े रखने हों, पटिया भी उतनी ही बड़ी बनाई जाती थी।

सब सामग्री एकत्र होजाने पर ही लेखक (लिपिक) ग्रंथ का लिखना आरंभ करता था। यदि ग्रंथ में शीर्षक बहुत होते थे, और उन्हें दूसरी रोशनाई से लिखने की आवश्यकता समझी जाती थी, जैसा कि प्रायः चलन था, पहले एक प्रकार की लिखावट समाप्त कर ली जाती थी, फिर दूसरी रोशनाई से सारे शीर्षक बाँध दिए जाते थे। ऐसे कुछ हस्तलेख देखने में आए हैं जिनमें लेखक मूल तो काली रोशनाई से लिख गया और शीर्षक लिखने के लिए जगह छोड़ता चला गया, पर कालान्तर में उसे समय नहीं मिला, और छोड़ा हुआ स्थान रिक्त का रिक्त बना रहा।

चित्रित पोथियों की भी यही परिपाटी थी। लेखक (लिपिक) ग्रंथ लिखता चला जाता था और जिस जिस प्रसंग में जो चित्र बनाने आवश्यक होते थे, उन्हें हाशिये पर लिखता जाता था, जब ग्रंथ लिख जाता तब चित्र बनाए जाते थे, या पहिले चित्रकार सब चित्रों के रेखाँकन कर देता था और हाशिए पर कथा प्रसंगों का इशारा करता जाता था, फिर लेखक (लिपिक) उन प्रसंगों सहित ग्रंथ को लिखकर पूरा करता था। ऐसे ग्रंथो के भी उदाहरण देखने में आते हैं कि जिनमें कथाँश तो लिख गए परन्तु उस पर चित्र नहीं बन सके, केवल कथा के रेखा चित्र ही बनेहुए रह गए।[1]

प्रायः हस्तलेखों में हाशिए लाल रोशनाई से पंक्ति खींच कर बनाए जाते थे अथवा लिखावट के बंधान से ही स्पष्ट हो जाते थे। पंक्ति में छूट के लिए कंडिका (‸) लगाकर हाशिये पर छूटे हुए वाक्य को लिखने की परिपाटी थी। जिन ग्रंथों की टीका अपेक्षित होती थी उनमें मूल बीचोबीच की पंक्तियों में मोटे अक्षरों में लिखा जाता था उसके नीचे अपेक्षाकृत छोटे अक्षरों में उस का अर्थ अथवा सिद्धान्त व अभिप्राय लिखा जाता था।

इधर जब से हस्तलिखित पोथियों के पढ़ने का उपक्रम होने लगा है तब से नए ग्रंथों के खोजने का भी काम हो रहा है। इस खोज में अनेक विषयों के नाना लिपियों में लिखे हुए ग्रंथ भी सामने आरहे हैं। जिनकी अक्षरी में इतना वैषम्य है कि उस पर अलग से विचार करना आवश्यक हो गया है। हिंदी साहित्य के ग्रंथों के अनुशीलन का कार्य करने वालों के सामने यह एक समस्या उपस्थित है कि हस्तलिखित ग्रंथों के पाठ शोधन के लिए लिपि (अक्षरी) समस्या को कैसे सुलझाया जाय।

आरंभ में जो ग्रंथ मिले थे वे प्रायः अपभ्रंश भाषा और जैन पद्धति से लिखे हुए थे, उनमें वर्णमाला तो नागरी की थी परंतु कुछ अक्षरों में अंतर था और उनकी बनावट में भारी भेद था। इस भेद के कारण साधारण रूप से ग्रंथों को पढ़ पाना सरल नहीं था। आरंभ के प्रकाशित ग्रंथों में यह बात देखने में आती है। लिपि के ऊपर हाथ का प्रभाव तो मुख्य है ही, प्रान्त का भी प्रभाव कम नहीं पड़ता, यही कारण है कि गुरुग्रंथ साहिब में संगृहीत अवधी और भोजपुरी की रचनाओं के शब्द पँजाबी चोला धारण किए हुए दिखाई देते हैं। जैसे पिंड =प्यंड, गोविंद =गोव्यंद, आदि। यही बात अन्य अहिन्दी प्रान्तों की अक्षरी का है। हिंदी रचनायें उत्तर प्रदेश, बिहार, छत्तीसगढ़, मध्यप्रदेश, राजपुताना में बहुत

---

१. काशी के भारत कला भवन संग्रहालय में 'करुणाभरण' नाटक की पूरी पोथी इसी प्रकार के रेखाचित्रों से उरेही हुई वर्तमान है।

अधिक उपलब्ध होती हैं, इन प्रान्तों के पड़ोसी प्रान्तों में प्रचलित लिपियाँ भी इस सीमा में पाए जाने वाले साहित्य पर प्रभाव डालती पाई जाती हैं।

लिपिक लोगों का महावाक्य "यादृशं पुस्तकं दृष्ट्वा तादृशं लिखितं मया। यदि शुद्ध मशुद्धं वा मम दोषो न दीयते।" प्रायः हर पोथी के अंत में लिखा अवश्य मिलता है परंतु इसका यह अर्थ नहीं होता कि लिपिक ने अपनी ओर से ग्रंथ में कोई नई अशुद्धि न की होगी। क्योंकि इसके लिए भी एक महावाक्य मिलता है—"मुनेरपि मतिभ्रंशोभीम स्यापि पराजयः, यदि शुद्धमशुद्धं वा ममदोषो न दीयताम्।" और यदि उसने अशुद्धियाँ की हैं तो कितनी और कैसी की हैं इसे जाँचने का कोई साधन अनुसंधायक के पास नहीं होता। और न यही कि मूल ग्रंथ अब कहाँ है। अधिकांश लिपिक यह भी लिख देते हैं कि उन्होंने किसकी प्रति से और किसके लिए प्रतिलिपि की है, तो भी कालान्तर में उस मूल लेख को न तो खोजा ही जा सकता है न वह सुलभ ही होता है। फिर भी किसी ग्रंथ की प्रतिलिपि को देखने पर यह निर्विवाद नहीं कहा जा सकता है कि लिपिक ने ज्यों की त्यों प्रतिलिपि की है या कुछ कहीं छोड़ दिया है अथवा पढ़ न पा सकने के कारण कुछ का कुछ लिख गया है। यह तो हिंदी का दुर्भाग्य ही है कि अभी तक एक भी ख्यात कवि की किसी भी रचना का कोई पाण्डुलेख नहीं प्राप्त हो पाया है कि जिससे यह जाना जा सके कि उसने अमुक अक्षरी का प्रयोग अपने लिए किया है।

एक यह भी चलन था कि अपने पढ़ने के लिए ग्रंथ अपने हाथ से न लिखा जाय।[1] इस निषेध के मूल में लेखकों (लिपिकों) की जीविका का प्रश्न भी था। जैनियों में अन्य वस्तुओं के दान के साथ पुस्तकें भी दान में दी जातीं थीं। पंचतंत्र की एक कथा से भी इसकी पुष्टि होती है कि लेखकों को परिश्रमिक देकर उनसे ग्रंथ लिखवा कर दान के लिए प्रस्तुत किए जाते थे। संभव है कि इसका सूत्रपात भी लिपि कर्त्ताओं की ओर से ही हुआ हो। इसका एक असर यह भी हुआ कि अच्छे से अच्छा ज्ञाता भी शब्द की शुद्धता के लिए निश्चित नहीं रह गया। तब अर्थ के अनुसार पाठ को मानने की परिपाटी चल निकली। इसके साथ दलील यह दी गई कि निरर्थक शब्द तो मूल में रहा नहीं होगा। और जब इस पाठ का कोई अर्थ नहीं निकलता तो निश्चय ही यह पाठ या शब्द असंगत है। इसके समर्थन में एक बात यह भी कही गई कि जिन ग्रंथों के मूल आज प्राप्त नहीं हैं उनकी प्रतिलिपियाँ भटकते भटकते विकृति की सीमा तक पहुँच गई हैं, उन्हें सही रूप में खोजने के लिए कवि की प्रवृत्ति का संधान करना होगा। यह कठिनाई ऐसे ग्रंथों के पाठ के लिए और भी अधिक उपस्थित हुई कि जिनकी अक्षरी नागरी और नस्तालीक थी। नस्तालीक अक्षरों को पढ़ कर पाठ को ठेठ नागरी का बनाने में काफी परिश्रम और अभ्यास की आवश्यकता होती है। कारण यह है कि ह्रस्व और दीर्घ शब्दों को अलग करने के लिए उक्त वर्ण माला में कोई विशेष

---

१. "गीती शीघ्री शिरःकंपी तथा लिखित पाठकः।
अनर्थज्ञोऽल्प कंठश्च षडेते पाठकाधमाः।"

—पाणिनीय शिक्षा :

चिन्ह नहीं हैं। इन चिन्हों के न होने से पाठ निर्धारण में ह्रस्व, दीर्घ, स, श, ष में भेद कर पाना कठिन होगया है। मूर्धन्य और दन्त्य वर्णों को भी स्पष्ट नहीं किया जासका। टवर्ग तो फारसी और अरबी के लिए पहले से ही त्याज्य है। इसलिए उसे भी स्पष्ट करने की कठिनाई है। उस लिपि से पाठ स्थिर करने वाले प्रायः शब्द पहले स्थिर कर लेते हैं तब अक्षरों से उसकी पुष्टि करते हैं, यदि सरलतापूर्वक अक्षरों ने शब्द बना दिया तब तो कोई बात नहीं अन्यथा फिर दूसरी तलाश आरंभ होती है।

नागरी लिपि का मूल उत्स ब्राह्मी ही माना जाता है। यह ब्राह्मी लिपि भी समय-समय पर करवटें लेती रही हैं जो अशोककालीन ब्राह्मी से लेकर सेन और पाल राजाओं के राज्य काल तक के शिला एवं ताम्र लेखों में देखा जाता है। कागज़ पर तो ब्राह्मी के नमूने पाए जाने का कोई प्रश्न ही नहीं है, पर भोट लिपि में लिखे हुए वहीं के कागज़ पर कुछ ग्रंथ अवश्य मिले हैं। पुरानी पाल पोथियाँ तो तालपत्रों पर ही मिली है। जिनका परिचय एक स्वतंत्र विषय है। भोटलिपि में लिखे हुए जो ग्रंथ मिले हैं वे भी ब्राह्मी ही लिपि में हैं, जो उस की एक शाखा कुटिला में है इनका समय ९वीं या १०वीं शती है। इस अवधि में भोजपत्र भी लिखने के काम में लाया जाता था। पर हिन्दी भाषा का कोई ग्रंथ नागरी लिपि में भोज पत्र पर लिखा हुआ अभी तक देखने में नहीं आया है।

प्रायः हर लिपि में कुछ वर्ण और अक्षर ऐसे होते हैं जिनकी आकृति में प्रायः समानता होती है। ऐसे समान वर्णों या अक्षरों को लिखते समय लिपिकार एक के स्थान पर दूसरे को लिख सकता है। यदि मूल में एक आकृति का एक अक्षर हो तो प्रतिलिपि-कार उसके स्थान पर उसकी समान आकृति वाले अक्षर को समझ कर लिख सकता है उदाहरण के लिए नागरी में प, य, घ, ध, र, व, भ, म, आदि में उलट फेर हो सकता है। जैन लिपिकारों द्वारा की हुई प्रतिलिपि में, व, ब, च, त्थ, च्छ, थ, ध, ब्भ, ज्झ, द्ध, ट्ट, ट्ठ में भी इसी प्रकार का भ्रम हो सकता है। कभी-कभी शब्द साम्य से भी पाठ भेद उत्पन्न हो जाता है। जैसे रामायण के सरा सुर (१।२३१।७) का सुरासुर हो गया है।

अब तक की प्राप्त सामग्री में काशी नरेश के यहाँ सुरक्षित एक पंचनामा ही ऐसा उदाहरण है कि जो गोस्वामी तुलसीदास जी के हाथ का लिखा हुआ कहा जाता है। गोस्वामी जी की रचनायें जितना अधिक प्रचार में आई हैं उतनी कोई दूसरी रचनायें प्रचार में नहीं आई तो भी रामचरित मानस के बाद शायद जायसी की रचना पद्मावत का ही स्थान होगा। इस की बहुत सी प्रतियाँ इधर-उधर पाई जाती हैं, सूरदास जी की रचनाओं का संग्रह जो सूर-सागर के नाम से प्रसिद्ध है उसकी भी कोई बहुत पुरानी प्रति अब तक नहीं मिली है। यही दशा करीब-करीब हिन्दी के प्रसिद्ध, देव, बिहारी, मतिराम, केशव, भूषण आदि महाकवियों की रचनाओं की है।

जायसी आदि सूफी कवियों की रचनायें नागरी और नस्तालीक जिसे उर्दू के नाम से पुकारा जाता है, दोनों लिपियों में लिखी हुई पाई जाती है। इसी बीच में एक नई लिपि कैथी के नाम से प्रचलन में आई है। यह लिपि एकदम नस्तालीक (लिपि) के चरण चिन्हों

पर चलती रही। इस में भी मात्राओं और वर्णों की कमी के कारण किसी भी शब्द को ज्यों का त्यों नहीं लिखा जा सकता है। उसके पाठ में भी नस्तालीक लिपि के समान ही पर्याप्त चिन्ह नहीं हैं। अतः इस लिपि के लेख में भी ह्रस्व दीर्घ का अथवा किसी शब्द की पूरी शुद्धता का निश्चय नहीं हो सकता है। डा० माताप्रसाद गुप्त ने जायसी ग्रंथावली की भूमिका में लिखा है "पाठ परम्परा प्रायः उर्दू (फारसी-अरबी) लिपि में चली है, प्रतियाँ अधिकतर इसी लिपि में हैं, और अच्छी प्रतियाँ तो प्रायः इसी लिपि में हैं। जो प्रतियाँ नागरी लिपि में प्राप्त हुई हैं, उनके भी पूर्वज उर्दू (फारसी-अरबी) लिपि के प्रमाणित हुए हैं।"

हस्तलेखों में प्रायः कुछ चिन्ह ऐसे होते हैं कि जिन पर पाठ की शुद्धता बहुत कुछ निर्भर रहती है। लिखते-लिखते यदि किसी अक्षर में दीर्घ मात्रा लग गई और होना उसे ह्रस्व चाहिए था तो उसके ऊपर १ का अंक एक आड़ी रेखा या—और यदि ह्रस्व को दीर्घ बनाना हुआ तो २ का अंक या = दो आड़ी रेखायें खींच दी जातीं थीं। ये रेखायें भी प्रायः अक्षर के ऊपर लगाई जाती थीं, परन्तु कभी कभी अक्षर के नीचे भी लगा दी जाती थीं।

अक्षरों में भेद तो है ही मात्राओं में स्थान और पद्धति के अनुसार हेर फेर पाया जाता है। ए ऐ और ओ औ की मात्राओं के प्रयोग इस बात के उदाहरण हैं। अक्षर की बाईं ओर ए की मात्रा ॎक और दाहिने और बांये दोनों ओर औ ॎमा की मात्रा का प्रयोग किया जाता था*। मात्राओं की यह पद्धति १२वीं शती से लेकर लगभग १७वीं शती तक चलती रही है। बंगला लिपि में आज भी वर्तमान है। मात्राओं का यह क्रम अन्य प्रान्तीय लिपि भेदों में अब तक पाया जाता है। ऊ की मात्रा प्रायः अक्षर के नीचे और कभी कभी बगल में भी लगाई जाती है। संभव है कि र में बड़े ऊ की मात्रा लगाने का जो चलन चला हो वही अन्य अक्षरों के लिए भी लागू हो गया हो। उदाहरण के लिए सुं (सुं) और सू (सू) इन दोनों अक्षरों में छोटे उ और बड़े ऊ की मात्रायें देखी जा सकती हैं। इस कैथी लिपि में ह्रस्व मात्राओं के स्थान पर सर्वत्र दीर्घ मात्राओं का ही प्रयोग मिलता है। जो उर्दू का ही स्पष्ट प्रभाव है। उसमें अगर ठीक नुकते न लग पाए तो शब्द कुछ का कुछ हो जाता है। ह्रस्व इ, उ, ए, ओ, के स्थान पर प्रायः दीर्घ ई, ऊ, ऐ, औ, प्रयोग में आये मिलते हैं। कैथी लिपि ने अपने समय में ऐसा विस्तार पाया कि तमाम ग्रंथ उसी में लिखे गए हैं।

इन हस्तलिखित ग्रंथों के उपयोग करने में कई प्रकार की सावधानियों की आवश्यकता रहती है। एक तो जिस विषय का ग्रंथ हो उसकी पद्धति, जिस स्थान पर ग्रंथ लिखा गया हो उस स्थान की लिपि और भाषा का प्रभाव, लिपिक (लेखक) की अपनी भाषा और लिपि का ज्ञान। स्वयं रचनाकार का बहुत भाषा विद् होना या बहुत प्रदेशों में घूमा हुआ होना आदि सब का प्रभाव पाठ पर पड़ता है। उदाहरण के लिए बुंदेलखंड के कवि की रचना का डेरा गाजी खाँ में लिखा गया हस्तलेख देखा जा सकता है। इस हस्तलेख में कई अक्षरों की बनावट गुरुमुखी अक्षरों के निकट पहुंच गई है और शब्द बुन्देली से पंजाबी

---

* १५५४ में लिखित कालक सूरि कथानक से।

एवं मुल्तानी बन गए हैं। यही समस्या प्रायः हर प्रकार के हस्तलेख के विषय में है। जिन हस्तलेखों की एक से अधिक प्रतियाँ प्राप्त हो जाती हैं उनका तो पाठालोचन के सिद्धान्तों के अनुसार उपयोग किया जा सकता है। परन्तु जिन ग्रंथों का केवल एक ही हस्तलेख उपलब्ध हो उसके लिए तो सिवाय इसके कि उस ग्रंथ के पाठ को बिना बिन्दु विसर्ग के परिवर्तन के ज्यों का त्यों उपस्थित कर दिया, चाहे मूल शुद्ध हो चाहे अशुद्ध। अधिक से अधिक यह किया जा सकता है कि जो शब्द स्पष्टतः अशुद्ध प्रतीत हो रहा हो उसके आगे (   ) कोष्टक बना कर शुद्ध शब्द लिख देना चाहिए। या कोष्टक के भीतर ? प्रश्न चिन्ह बना कर छोड़ देना चाहिए। अपनी ओर से पाठ में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप न करना चाहिए।

हस्तलिखित ग्रंथों में उनका रचनाकाल (Date of Composition) और लिपि काल (Date of m inuscript प्रायः शब्दों में दिया जाता है।[1] यों प्राचीनकाल से अपनी बात को गूढ़ता में परम्परा करके कहने की तो है ही। सो अंकों के लिए भी शब्दों का प्रयोग प्रायः देखने में आता है। हिन्दी में भी कभी-कभी फारसी की 'अबजद' प्रणाली (अक्षरों से अंकों को निकालने की पद्धति) के समान अक्षरों से भी अंकों का काम लिया जाता है। कभी संवत् के लिए अंकों एवं अक्षरों के प्रयोग के बजाय उस संवत् का नाम ही लिख दिया जाता है। इसके लिए यह आवश्यक है कि अनुसंधान कर्त्ता के पास एक ऐसी सारिणी (चार्ट) तैयार रहे, जिससे वह शीघ्र ही इस प्रकार की समस्या को सुलझा ले। उत्तर भारत में पाए जाने वाले ग्रंथों में प्रायः विक्रम संवत् का ही प्रयोग मिलता है पर मिथिला में लक्ष्मण संवत्, बंगाल में पाल एवं सेन संवत्, महाराष्ट्र में शक संवत् प्रायः मिलता है।

इन संवतों में विक्रम संवत् चैत्र शुक्ल द्वितीया से और शक संवत् महाराष्ट्र में कार्त्तिक शुक्ल द्वितीया से, हिजरी संवत् श्रावण शुक्ल पक्ष में आरंभ होता है। इसका भेद भी रचना काल और लिपि काल के लिये विचारणीय रहता है। कैथी लिपि में लिखे गए हस्तलेखों में प्रायः फसली वा हिजरी संवत् दिया रहता है। इन संवतों में आपस में थोड़े वर्षों का अंतर रहता है। ग्रंथ में दिए हुए संवत्, तिथि वार, आदि का मिलान करने का बहुत सुगम उपाय दीवान बहादुर स्वामी कन्नु पिल्लै की पुस्तक (इंडियन

१.

१	के लिए	न	११	के लिए	मन	३०	के लिए	ल
२	,,	न्न	१२	,,	मन्न	४०	,,	प्त
३	,,	न्य	१३	,,	मन्य	५०	,,	व
४	,,	ष्क	१४	,,	मष्क	६०	,,	त्र
५	,,	भ्र	१५	,,	मभ्र	७०	,,	त्रु
६	,,	ह्रा	१६	,,	मह्रा	८०	,,	छ
७	,,	ग्र	१७	,,	मग्र	९०	,,	ण
८	,,	प्र	१८	,,	मप्र	१००	,,	ञा
९	,,	द्रे	१९	,,	मद्रे	२००	,,	ञा ञा
१०	,,	म	२०	,,	थ			

एफ़ेमेरीज़) में बताया गया है। उक्त ग्रंथ में वि० सं० १ से लेकर १७४२ तक के वर्षों की विस्तृत सारिणी दे दी गई है, जिससे किसी भी तिथि की पड़ताल सरलता से की जा सकती है। साधारणतया यह ध्यान तो रखना ही होगा कि ग्रंथ की रचना कहाँ हुई है, अथवा ग्रंथ का वर्ण्य विषय किस प्रदेश से सम्बन्ध रखता है। क्यों कि यह संभावना तो रहती ही है कि रचयिता ने अपने प्रदेश में प्रचलित किसी घटना प्रधान तिथि का उल्लेख तो नहीं किया है अथवा किसी तिथि के स्थान पर केवल घटना का ही उल्लेख तो नहीं कर गया है।

पूर्वी प्रदेशों में पाए जाने वाले हस्तलेख जो प्रायः कैथीलिपि में होते हैं, उनके संवत् भी फसली होते हैं, कभी-कभी हिजरी सन् का प्रयोग भी मिलता है। यह हिजरी सन् जब मुहम्मद साहेब ने मक्के से मदीने की यात्रा (हिजरत) की थी अर्थात् सन् ६२२ ई० में जब अपने विरोधियों के कारण मक्का छोड़कर मदीने चले गए थे तब से इस (हिजरी सन्) का प्रचलन माना जाता है। किस हिजरी तारीख को बिक्रम संवत् अथवा ईस्वी सन् की कौन सी तारीख थी, इसकी ठीक पड़ताल में कठिनाई है। हिजरी मास चंद्रमा के अनुसार आरंभ होता है, हिजरी साल में लगभग ३५५ दिन होते हैं, ईस्वी सन् ३६५ या ३६६ दिन का होता है। इस न्यूनता अथवा अधिकता का फल यह होता है कि हिजरी सन् की पहली तारीख प्रत्येक ईस्वी वर्ष की किसी निश्चित तारीख को नहीं पड़ा करती और हिजरी सन् के ३३ वर्ष सदा ईसवी सन् के ३१ वर्षों के बराबर हुआ करते हैं। जिससे प्रत्येक ३२ या ३३ वर्षों के पश्चात् दो हिजरी सनों की पहिली तारीखें एक ही ईसवी सन् के अन्तर्गत आ जाती हैं। उदाहरणार्थ १९ व २० हिजरी सन् की तारीखें सन् ३४० ईसवी की २ जनवरी व २१ दिसंबर को पड़ीं थीं।

हिजरी सन् को ईसवी सन् से मिलान करने के लिए यह ध्यान रखना आवश्यक है। कि हिजरी सन् का आरम्भ जुलाई सन् ६२२ ईसवी में हुआ है। दूसरे, हिजरी सन् के ३३ साल ईसवी सन् के ३२ वर्ष के बराबर होते हैं। इसलिए उसमें २ प्रति सैकड़ा का अंतर पड़ता है। हिजरी सन् का ईसवी सन् से मिलान करने का सुगम उपाय यह है कि पहिले हिजरी सन् में से उसका $\frac{१}{३३}$ भाग घटाया जाय। इसके बाद उसमें ६२२ जोड़ दिए जाय, इस जोड़ का फल ईसवी सन् होगा।

किसी हस्तलेख का उपयोग करने से पहिले उसके रचयिता के विषय में अधिक से अधिक जानकारी प्राप्त कर लेनी चाहिए। फिर ग्रंथ के विषय में खोज के लिये हस्त लिखित ग्रंथों के विवरण देख लेना चाहिए। इतनी तैयारी के बाद तब ग्रंथ की अंतरंग परीक्षा में प्रवृत्त होना चाहिए। ग्रन्थ के पाठ में यदि कहीं विकृतियाँ दिखाई पड़ती हैं तो उन पर विचार करना चाहिए। ये विकृतियाँ चार प्रकार से आती हैं :—

(१) मूल पाठ में कुछ अपनी ओर से बढ़ा देने की प्रवृत्ति से।

(२) किसी पाठ को अशुद्ध या अधिक समझ कर छोड़ देने से।

(३) किसी पाठ के स्थान पर दूसरा पाठ रख देने से।

(४) पाठ के क्रम में परिवर्तन कर देने से।

कभी कभी किसी संकेत विशेष को न समझ पाने से, हाशिये पर लिखे हुए संकेत को असावधानी से दूसरे स्थान पर लिख जाने से भी पाठ भेद या विकार होता है इस प्रकार आगम, लोप, विपर्यय और व्यत्यय इन चार के अतिरिक्त भी पाठ भेद पाये जाते हैं। इस लिए हस्तलेख में यह भी देख लेना चाहिए कि लिपिक ने कहीं अपनी ओर से कोई सुधार तो नहीं कर दिया है अथवा कहीं कुछ छोड़ तो नहीं गया है। किसी भी ग्रन्थ का पाठ लिपिक की हथौटी पर ही निर्भर करता है। कभी कभी ऐसे भी उदाहरण पाये जाते हैं कि लिपिक सारे ग्रन्थ में एक ही प्रकार की अशुद्धि सर्वत्र करता चला गया है, अतः यह उसकी हथौटी का दोष है। स्वयं लेखक द्वारा लिखे गये हस्तलेख में इस प्रकार के दोषों की सम्भावना कम रहती है, परन्तु यह तो संयोग की ही बात है कि कहीं किसी लेखक (रचयिता) का हस्तलेख ही मिल जाय, अधिकतर तो लिपिकारों के द्वारा प्रतिलिपि किए गए ग्रन्थ ही उपलब्ध होते हैं। ये लिपिकार भी कभी कभी तो, अपना नाम धाम लिख देते हैं, पर प्रायः यह भी मौन रहते हैं और अपना नाम तक नहीं लिखते, ऐसी स्थिति में यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि इस ग्रन्थ की प्रतिलिपि किसने की। यह सब कठिनाइयाँ होते हुए भी शोध कार्य के लिये हस्तलेखों का बराबर उपयोग हो रहा है और आगे भी अधिकाधिक होता जायगा। अतएव बहुत सावधानी से ही हस्तलेखों का उपयोग करना चाहिए। जिससे न तो कहीं आवश्यक बात छूटने पावे और न कहीं अनावश्यक बात या विचारों के आ जाने की संभावना ही रहे।

उदयशङ्कर शास्त्री

शिलालेख और उनका वाचन

भारतीय संस्कृति के जिन उपदानों की अब तक छान बीन हुई है उसमें शिलालेख अपना प्रमुख स्थान रखते हैं। यों लिपि अथवा लेखन के बहुत से प्रमाण तो ग्रंथों में पाए जाते हैं परंतु लिखित रूप में कोई बहुत पुराना प्रमाण अब तक नहीं मिल पाया है। मुहेंजोदारो और हरप्पा से प्राप्त मुहरों (Seals) में एक प्रकार की लिपि दिखाई देती है, परन्तु उन मुहरों की लिपि को अभी तक पूरी तौर पर पढ़ा नहीं जा सका है। वहाँ अब तक इस प्रकार ३९६ नमूने मिले हैं। जिनमें से कुछ चिह्न संयुक्त से दिखते हैं और कुछ मात्रा लगने से बदल गए हैं। १२ मात्राओं तक के चिह्न मिलते हैं। यह चिन्ह अथवा लिपि दाँये से बांये हाथ की ओर लिखी गई है। मुहेंजोदारो और हरप्पा से अभी तक कोई ऐसा बड़ा और द्विभाषीय (Bilangual) लेख नहीं मिल पाया है कि जिसके सहारे इस लिपि के अक्षरों को पढ़ा जा सके। इस ओर फादर हेरास, डा० प्राणनाथ विद्यालंकार आदि के प्रयास अभी बहुत कुछ अनुमानों पर ही आधारित हैं।

द्रविड़ सभ्यता के इन केन्द्रों की खुदाई के पूर्व, अजमेर जिले के बोडेली गाँव से एक जैन शिलालेख और गोरखपुर जिले के पिपरावा गाँव से जो लेख मिले हैं उन्हें अब तक के प्राप्त शिलालेखों में सब से प्राचीन माना गया है। शिलालेखों में खुदी हुई वर्णमाला ई० पूर्व ३५० से ही मिलती है। इन शिलालेखों में आज के समान पूरी वर्णमाला प्राप्त नहीं है। इसका कारण यह है कि आरंभिक शिलालेखों (Inscriptions) की भाषा पाली अथवा प्राकृत है। जिसमें अनेक अक्षरों और उनके रूपों की आवश्यकता ही नहीं होती है। इसलिए चीनी तुर्किस्तान एवं सीमाप्रान्त से पाए गए शिलालेखों में कुछ अक्षर कम हैं। भारतीय लिपियों के विषय में दो प्रकार के विवाद हैं। एक तो यह कि भारत में लेखन का प्रचार कब से है और दूसरा यह कि प्राचीन से प्राचीन मिलने वाली लिपि (ब्राह्मी) की उत्पत्ति कैसे हुई। कुछ लोगों का यह भी कहना है कि ईसा से सातवीं शती से पूर्व लोग लिखना जानते ही न थे और यह ब्राह्मी लिपि भारत में पछाँही देशों में प्रचलित लिपियों के आधार पर बनाई गई। उन लोगों का यह कहना है कि अभी तक कोई भी शिलालेख संस्कृत भाषा में लिखा हुआ नहीं पाया गया है जो विक्रम से पूर्व तीसरी शती का भी हो। वैदिक काल के बाद ब्राह्मण युग में आरण्यक एवं उपनिषदों की रचनाएं हुईं

थीं, जो सब के सब शुद्ध संस्कृत भाषा में हैं, अतः उस समय का कोई शिलालेख, कोई मिट्टी की मुहर (Seal) ऐसी मिलनी चाहिए जो उस युग की लिपि का परिचय दे सके ।

अब तक के प्राप्त शिलालेखों में ऊपर कहे गए दो शिलालेखों को छोड़ कर अशोक के लेख ही सब से प्राचीन ठहरते हैं । अशोक के ये लेख चार प्रकार के हैं ।

१. स्तंभ लेख
२. चट्टान पर खुदे हुए लेख ।
३. गुफाओं के भीतर खुदे हुए लेख ।
४. फुटकर लेख ।

इन लेखों की लिपि (ब्राह्मी) के अक्षर इतने सादे और इतने अलंकरण रहित हैं जिससे यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है यह लिपि की आरंभिक अवस्था के लेख हैं । अशोक के एक या दो सौ वर्ष पीछे अक्षरों में घुमाव-फिराव और अलंकरण आरंभ हो जाता है । अतएव यह संभव है कि अशोक के पहिले और कोई और लिपि रही हो और और उसके पीछे ब्राह्मी लिपि का प्रचलन हुआ हो । अशोक के शिलालेख सीमा प्रान्त में खरोष्ट्री लिपि में भी पाए गए हैं । पर उनकी संख्या अँगुलियों के पोर पर गिनने लायक भी नहीं है, वे केवल मानसेहरा और शाहबाजगढ़ी नामक स्थानों में पाए गए हैं । वह लिपि भी दाईं ओर से बाईं ओर को चलती है । सुदूर दक्षिण के 'यर्रगुडि' नामक स्थान से पाया जाने वाला अशोक का एक शिलालेख भी इसी पद्धति से उत्कीर्ण किया गया है ।

इस लिपि के ब्राह्मी नाम का सबसे प्राचीन उल्लेख जैनागमों[1] में पाया गया है । जिसमें अन्य लिपियों के साथ ब्राह्मी लिपि का भी नाम लिया गया है । जैसा कि पहिले कहा जा चुका है कि आरंभिक शिलालेखों की भाषा पाली और प्राकृत होने के कारण उस वर्णमाला में ऋ, ऐ, औ आदि अक्षर नहीं हैं । देवनागरी की वर्तमान वर्णमाला के हिसाब से इस आरंभिक लिपि में पूरे तत्व नहीं खोजना चाहिए । पर जैसे जैसे भाषा में संस्कार आता गया वैसे वैसे अक्षरों में भी सुधार होता गया, उनमें मात्रायें लगने लगीं, संयुक्ताक्षरों का स्वरूप सुसंस्कृत और स्थिर होने लगा । विक्रम संवत् की तीसरी शती तक आते आते लिपि को कलात्मक दृष्टि से सजाने संवारने की प्रवृत्ति भी जागी । गुप्त राजाओं के शासन काल में जहाँ अन्य दूसरी कलायें विकसित हुईं वहीं लिपिकला (Paleaography) ने भी प्रचुर विस्तार पाया । इसका एक कारण यह भी था कि इस युग में बड़े बड़े काव्य ग्रंथ रचे जा रहे थे । उन्हें लिखने तथा बड़ी-बड़ी प्रशस्तियों को शिला पट्टों एवं स्तंभों पर उत्कीर्ण कराने की आवश्यकता प्रतीत हुई तब लिपि में भी पर्याप्त सुधार किए गए । वह सुधार इतना अधिक हो गया कि अक्षरों में बहुत अधिक घुमाव-फिराव आ गया, जिसके कारण गुप्त काल की लिपि को कुटिल

---

१. एच० आर० कापड़िया, ए हिस्ट्री ऑव दि कनोनिकल लिट्रेचर ऑव दी जैन्स पृ० २२८.२९ ।

लिपि के नाम से संबोधित किया जाने लगा। एक ताम्रपत्र में महाराज हर्ष का हस्ताक्षर इतने अधिक अलंकृत रूप में मिला है कि अक्षरों के अलंकरण को भेद कर अक्षरों के मूल रूप तक को ग्रहण कर पाना कठिन हो गया है।

इसी ब्राह्मी लिपि से देश की अधिकांश लिपियों का उद्भव हुआ है। जिन भाषाओं की लिपि देवनागरी परिवार की नहीं है उनका भी किसी न किसी प्रकार का सामंजस्य इस पुरानी लिपि से है। सुदूर दक्षिण की लिपियाँ भी इसका अपवाद नहीं है। उनके पुराने रूपों को ब्राह्मी लिपि के साथ मिलान करने पर यह बात और भी स्पष्ट रूप से विदित होती है। इतना ही नहीं तिब्बती और भोट लिपियों की बारहखड़ी का मूल उत्स भी यही ब्राह्मी है। उनमें घ, झ, ढ, ध, भ आदि चतुर्थ अक्षर नहीं है। जिन्हें क्रमशः ग, ज, ड, द, ब में ह लगा कर बना लिया जाता है। और उस संयुक्ताक्षर का चिन्ह भी स्थिर कर लिया गया है। कश्मीर की शारदा और बंग लिपियों की भी यही स्थिति है।

तारीखे फीरोज़ शाही से पता चलता है कि सन् १३५६ ई० में फीरोज़शाह तुग़लक जब टोपरा और मेरठ से अशोक के शिला स्तंभों को उठवा कर दिल्ली ले गया और उन्हें फिरोज शाह के कोटले तथा कुशक शिकारगाह के पास खड़े कराए और तमाम पंडितों मौलवियों को उनके पढ़ने के लिए एकत्र किया, परन्तु कोई भी उन स्तंभ लेखों को पढ़कर उनका आशय स्पष्ट न कर सका। यह भी कहा जाता है कि सम्राट् अकबर ने भी इन शिला लेखों के पढ़वाने का उद्योग किया था परन्तु वह भी इसमें कृतकार्य न हो सका था।

इधर भारत में जब फिरंगियों का दौर दौरा हुआ, तब जो बरकंदाज़, मुसद्दी, तथा अन्य दूसरे प्रकार के जो किरानी यहाँ आए थे, उनमें कुछ ज्ञान पिपासु भी थे। उनमें से बहुतों को तो कोई न कोई नई वस्तु या तथ्य खोज कर कारगुज़ारी हासिल करने से ही मतलब था। तो भी सन् १७८४ की १५ जनवरी को 'सर विलियम जोन्स' की प्रेरणा से 'एशियाटिक सुसाइटी' की स्थापना हुई। जिसका उद्देश्य एशिया के शिलालेख, ताम्रलेख, सिक्के, ऐतिहासिक एवं भौगोलिक महत्त्व के स्थान, भारतीय शिल्प कला आदि की खोज एवं अनुसंधान करना था। इस सुसाइटी का कार्यालय कलकत्ते में रखा गया जो उस समय भारतवर्ष की राजधानी था। सन् १७८५ में चार्ल्स विल्किन्स को दीनाजपुर जिले में एक स्तंभलेख मिला। जो बंगाल के राजा नारायण पाल के समय का था। उसी वर्ष हॅरिंगटन ने बुद्धगया के पास नागार्जुन पहाड़ी के पास से मौखरि राजाओं के तीन शिला लेख खोज निकाले। जो उस समय तक पाए गए नमूनों से भिन्न थे। अतः उनका पाठोद्धार कठिन था, तो भी विल्किन्स ने चार वर्ष तक परिश्रम करके उन्हें पढ़ लिया, जिस से गुप्त लिपि की लगभग आधी वर्णमाला का उद्धार हो गया। इसी अवधि में टॉड ने राजपूताने में कई लेखों का पता लगाया जिसमें सातवीं से लेकर पन्द्रहवीं शती तक के लेख थे। सन् १८३४ में कर्नल ट्रॉयर ने इलाहाबाद के किले में गड़े हुए स्तंभ पर से समुद्रगुप्त की प्रशस्ति को पढ़ने का उद्योग किया और डा० मिल ने उसको पूरा पढ़ लिया तथा उसी वर्ष में उसने भितरी (जि० गाज़ीपुर) स्थित स्कंदगुप्त के लेख को भी पढ़ लिया। ई० स० १८३८ तक जेम्स प्रिंसेप ने प्रयत्न करके, देहली, कहौंन, एरण, साँची, गिरनार आदि के गुप्त शिलालेखों को पढ़ लिया। इस प्रकार, ट्रॉयर, मिल तथा प्रिंसेप के प्रयत्नों से गुप्त लिपि की पूरी

वर्णमाला का उद्धार हो गया और उसी वर्ष प्रिंसेप के अध्यवसाय से ही इलाहाबाद, मठिया, रधिया आदि के लेखों की छापों का मिलान करने से पता चला कि वे चारों लेख एक ही हैं। इससे प्रिंसेप को और सुगमता हो गई। उसने फिर प्रयाग स्तंभ के अक्षरों की छान बीन नए सिरे से आरंभ की, तो उसे पता चला कि अशोक कालीन ब्राह्मी अक्षरों में भी गुप्त कालीन अक्षरों के समान ही बहुत से अक्षरों के साथ स्वरों के चिन्ह लगे हुए हैं। उन्हें अलग अलग छाँटने से मालूम हुआ कि ये स्वर चिन्ह पाँच हैं। इन चिन्हों के स्पष्ट हो जाने से कई प्रकार के भ्रमों का निराकरण हो गया। स्वरों के चिन्हों के पहिचानने के बाद प्रिंसेप ने अशोक काल के लेखों के प्रत्येक अक्षर को गुप्तकाल के अक्षरों से मिलाना आरंभ किया, जो मिलते गए उन्हें वर्णमाला के क्रम से रखता गया इससे बहुत से अक्षर पहिचान में आ गए।

जेम्स स्टीवेन्सन भी प्रिंसेप के समान ही इस लिपि के शोध में लगा था। उसने, क, ज, प, ब, अक्षरों को पहिचान कर उनकी सहायता से लेखों के पढ़ने का उद्योग किया। पर पूरी वर्णमाला अवगत न होने से तथा अक्षरों की पहिचान में भूल हो जाने के कारण उसे सफलता नहीं मिली। इसी समय लैंसन ने एक बैक्ट्रियन सिक्के पर इन्हीं अक्षरों में 'अँगैथॉक्लिस' नाम पढ़ा। सन् १८३७ में प्रिंसेप ने साँची के कई लेखों की छापें एकत्र कर के देखा तो उनके अंतिम दो अक्षर एक से दिखाई दिए। और उनके पहिले प्रायः 'स' अक्षर मिलने से यह अनुमान किया गया कि संभव हो यह प्राकृत के संबंध कारक का एक बचन (सं० स्य) हो। इस अनुमान से यह भी विदित हुआ कि यह अलग अलग व्यक्तियों द्वारा दिए गए दानों के लेख हो सकते हैं। अब तक (द) में लगी हुई स्वर की मात्रा पढ़ी नहीं जा रही थी। पर इस दान के अनुमान से वर्णमाला में जो अपूर्णता थी वह भी पूर्ण हो गई। और कोई पचास वर्षों के निरन्तर परिश्रम और उद्योग से समस्त ब्राह्मी लिपियों का पाठोद्धार हो गया। तथा पढ़े गए शिलालेखों के प्रकाशन का भी प्रयत्न किया गया।

आरंभ में इन शिलालेखों को पढ़ने के लिए अक्षरों को देख कर उनकी नकलें तैयार की जाती थीं, और फिर उन्हें पढ़ने का कार्य किया जाता था। इस पद्धति से अक्षर का पूरा स्वरूप पाठक के सामने नहीं आ पाता था, और इसी लिए कभी कभी भ्रम भी हो जाया करता था। कभी कभी पैरिस प्लास्टर की सहायता से भी छापें (Estampage) तैयार की गईं, पर उनमें अक्षर की पूरी आकृति उभर नहीं पाती थी। अक्षर की पूरी गोलाई, मोटाई, उसके घुमाव, फिराव के लिए यह आवश्यक है कि जिस स्थान (शिला अथवा ताम्रपट्ट) पर वह उत्कीर्ण हो उस पर छाप ली जाने वाली चीज पूरी तरह से चिपक सके। इसके लिये अब सब से सुविधा जनक कागज उपलब्ध है, जिसे भारत सरकार जूनागढ़ से मगवाती है। लेख वाले स्थान को पहिले साफ पानी से अच्छी तरह धोकर साफ कर लेना चाहिए ताकि अक्षरों में धूल मिट्टी या और किसी तरह की कोई चीज उनमें भरी न रह जाय। फिर कागज को पानी में अच्छी तरह भिगोकर चिपका देना चाहिए, फिर उसे मुलायम ब्रुश से पीटना चाहिए, जिससे अक्षरों में कागज अच्छी तरह से चिपक जाय। उसके बाद एक कपड़ा भिगोकर कागज के ऊपर लगा दे और उसे कड़े ब्रुश से पीट पीट कर कागज को और चिपका दे। इस बात का ध्यान रखना

चाहिए कि लेख पर कागज चिपकाते समय लेख और कागज के बीच में बुल्ले (Bubbls) न उठने पावें, और यदि उठ जांय तो उन्हें ब्रुश से पीट पीट कर किनारे कर देना चाहिए अन्यथा अक्षर पर कागज ठीक चिपक न सकेगा। पीटते समय यदि कहीं से कागज फट जाय तो उसके ऊपर तुरन्त ही कागज का दूसरा टुकड़ा भिगोकर लगा देना चाहिए। थोड़ा पीट देने से कागज पहिले वाले कागज में अच्छी तरह से चिपक जायगा। जब कागज अच्छी तरह से अक्षरों में घुस जाय तब ऊपर का कपड़ा उतार कर मुलायम ब्रुश से फिर इधर उधर उठ आई फुटकियों को सुधार लेना चाहिए। फिर थोड़ी देर तक कागज को हवा लगने के छोड़ देना चाहिए जिससे कि कागज थोड़ा सूख जाय। फिर एक तश्तरी में कालिख (Blackjapan) घोल कर डैबर की सहायता से लेख की पंक्तियों पर क्रमशः लगा देना चाहिए। यह ध्यान रखना चाहिए कि किसी पंक्ति पर धब्बा न आने पाए अन्यथा अक्षर धुंधला पड़ जायगा और उसकी आकृति स्पष्ट न हो सकेगी, कागज पर बज रोशनाई ठीक से लग जाय तब उसे सावधानी से उतार कर सुखा लेना चाहिए। आजकल कालिख को घोल कर लगाने के बजाय कोई कोई सूखा ही लगाते हैं, पर इससे छाप (Estampage) में वह चमक नहीं आ पाती जो गीले काजल में आती है।

यह पद्धति उन के लेखों के लिए हैं, जो गहरे खोदे हुए होते हैं, पर उर्दू आदि लेखों के लिए अधिक सावधानी बरतने की आवश्यकता होती है अन्यथा कागज फट जाने की बड़ी संभावना रहती है।

साधारणतया छाप तैयार करने के लिए यह सामग्री अपेक्षित होती है।

१. तिरछे लंबे ब्रुश, (Bent Bar Brush) २।
२. एक गज सफेद हल्का कपड़ा।
३. स्याही घोलने के लिए तश्तरी।
४. एक डैबर (Dabbar) स्याही मिलाने के लिए।
५. एक डैबर बड़ा (लेख पर स्याही लगाने के लिए)।
६. जूनागढ़ी कागज (इसके अभाव में भी छाप लेने का काम मामूली कागज से लिया जा सकता है, पर कागज चिकना कम होना चाहिए।)
७. चाकू।
८. नापने के लिए कपड़े का फीता या लोहे का फुटा (यदि यह सब सामान एक छोटे संदूक में रखा जा सके तो यात्रा में सुविधा रहेगी)।

भारतीय लिपियों एवं शिलालेखों का अनुसंधान करने वालों को निम्नलिखित साहित्य देखना चाहिए।

एपिग्राफिया इंडिका।
एपिग्राफिया इंडोमुसोलेमिका।
एपिग्राफिया करनाटिका।

इंडिशेपैलियोग्राफी, जार्ज ल्यूलर।

इंडियन एण्टीक्वैरी।

'ए थ्योरी ऑव दी ओरिजिन ऑव दी नागरी अल्फाबेट' शामा शास्त्री का लेख, इंडियन एण्टीक्वैरी, भा० ३५ पृ० २५३-३२१।

पेलियोग्राफिक नोट्स, भंडारकर अभिनंदन ग्रंथ में विष्णु सीताराम सुकथनकर का लेख। पृ० ३०६-३२२।

आउट लाइन्स ऑव पैलियोग्राफी, एच० आर० कापडिया का लेख, जर्नल ऑव द यूनिवर्सिटी ग्राव बाम्बे, आर्ट एण्ड लेटर्स। सं० १२, जि० ६ सन् १६३८, पृ० ८७-११०।

ए डिटेल्ड एक्सपोजिशन ऑव दी नागरी, गुजराती एण्ड मोडी स्क्रिप्टस, एच० आर० कापड़िया का लेख, भंडारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीच्यूट की पत्रिका। भा० १६, ३, (१६३८) पृ० ३८६-४१८।

जैन चित्र कल्पद्रुम, भूमिका, मुनि पुण्य विजय जी। अहमदाबाद।

भारतीय प्राचीन लिपिमाला, म० म० पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा, अजमेर।

ओरिजन ऑव दी बंगाली स्क्रिप्ट, राखालदास वन्द्योपाध्याय। कलकत्ता।

इंडियन पैलियोग्राफी, भाग, १, डा० राजबली पाण्डेय, काशी।

दी अल्फावेट, डी० डिरिंगर, लंडन।

हिन्दी विश्वकोश का 'अक्षर' शब्द कलकत्ता।

अशोक इंस्क्रप्शनम इंडिकेरूम, हुल्श, लंडन।

,, ,, ,, कनिंघम, कलकत्ता।

गुप्त इंस्क्रप्शन्स, जे० एफ० फ्लीट० ,,

अशोक की धर्मलिपियाँ, ओझा, श्यामसुन्दरदास, काशी।

प्रियदर्शि प्रशस्तयः म० म० रामावतार शर्मा, पटना।

सेलेक्ट इंस्क्रप्शन्स, डी० सी० सरकार, कलकत्ता।

कलचुरी इंस्क्रप्शन्स, वी० वी० मिराशी, उटाकमण्ड,

डॉ० सत्येन्द्र—

हस्तलिखित ग्रंथों का उपयोग (२)

हस्तलिखित ग्रंथ का हम किस प्रकार से उपयोग करें? यह हमारे नए अनुसंधित्सुओं के लिए एक कठिनाई की बात हो सकती है, और पुराने अनुसंधित्सुओं को भी अनुभव न होने के कारण कभी-कभी यही कठिनाई हो सकती है। इसलिए मैं इसके सम्बन्ध में कुछ मोटी-मोटी बातें कह देना चाहता हूँ। पहिली तो बात यह है कि हस्तलिखित ग्रंथ प्राप्त करने के लिये कई मार्ग हैं, ये ग्रंथ या तो किसी के घर में पड़े हुए हैं या मन्दिरों में रखे हुए हैं, या कुछ पुस्तकालयों में रखे हुए हैं। पहिले तो रिसर्च के विद्यार्थी को यह आवश्यक है कि वह उन तमाम स्थानों से परिचित हो लें जहाँ कि उसके विषय के वे ग्रंथ उपलब्ध हो सकते हैं। इसमें सहायता देने वाली कई विधियाँ हैं। एक है ग्रंथों के अनुसंधान के विवरण। काशी नागरी प्रचारिणी सभा से जो अनुसंधान हुआ उसकी रिपोर्टें प्रकाशित हुई है। ऐसी रिपोर्टें और भी कई जगहों से प्रकाशित हुई हैं। उदयपुर के शोधसंस्थान से भी ऐसी रिपोर्टें प्रकाशित हुई हैं। पहिले एक 'कैटेला-गस कैटैलौग तैयार किया गया था और जो पुराने हस्तलिखित ग्रंथागार हैं, उनमें इस प्रकार की सूचना मिलती है कि उनके यहाँ कौन-कौन से ग्रंथ हैं। India office library ग्रंथागार में कौन-कौन से हस्तलिखित ग्रंथ हैं, उनकी सूची आपको मिल जाती है। इस प्रकार के बहुत से संग्रहालय हैं, उनको यदि आप देखें तो उनकी वह सूची मिल जायगी। जैसे मानलीजिए रामचरित पर हम काम कर रहे हैं। तो रामचरित मानस पर कहाँ-कहाँ पर कौन से मानस ग्रंथ हैं, यह सूची से आपको पता चल सकता है। लेकिन सूची मात्र ही सहायता नहीं पहुँचाती, शास्त्री जी जैसे व्यक्ति भी सहायता पहुँचाते हैं, जिनका काम ग्रंथों की खोज बीन करना है। ऐसे व्यक्तियों से भी सम्पर्क स्थापित करने की आवश्यकता होती है। साथ ही ऐसे व्यक्तियों से भी संपर्क स्थापित करने की आवश्यकता होती है, जिन्होंने कोई रिसर्च वर्क कर लिया है और भिन्न-भिन्न स्थानों पर जिन्होंने कुछ हस्तलिखित ग्रंथ स्वयं खोजे हैं। संभव है उन्हें आपके विषय की भी कोई पुस्तक मिली हो। इस प्रकार (१) हस्तलिखित ग्रंथ-भंडारों की सूचियों से, (२) पुराने पुस्तकालयों की सूचियों से, (३) अनुसंधान या खोज की रिपोर्टों से, (४) हस्तलिखित पुस्तकों के

स्वामियों या संरक्षकों से, (५) हस्तलिखित ग्रंथों के संग्रह में संलग्न व्यक्तियों से अथवा अनुसंधाताओं से अपने काम के ग्रंथों का पता लगाकर उन्हें उपलब्ध कर लेना चाहिये। जब ग्रंथ आपको मिल गया तो पुस्तकालय वाले आपको बतायेंगे कि किन-किन बातों का आपको ध्यान रखना है। जैसे आप नेशनल आर्कलीजो दिल्ली में जाएँ तो वे बतायेंगे कि आप उस हस्तलेख या डाक्यूमेण्ट पर कुछ लिखेंगे नहीं। विशेष सावधानी से पत्रों को उलटेंगे। हस्तलिखित ग्रंथों के कुछ कागज ऐसे होते हैं, जो बहुत ही टूटने वाले होते हैं, जरा हाथ लगाया कि टूटे। जहाँ पर विविध हस्तलिखित ग्रंथों का काम होता है, वहाँ उन ग्रंथागारों में ऐसे खस्ता पन्नों पर पारदर्शी कागज दोनों तरफ लगा दिया जाता है, जिससे कि वह जहाँ तक हो सके टूटें नहीं और उसे पढ़ भी लिया जाय। लेकिन फिर भी जैसे कि अपने ही यहाँ है, अभी इतनी व्यवस्था तो नहीं है, इसलिए ये डर रहता है कि आप उनको छुएँगे, तो वह कागज टूट जायगा और टूट जाने से बड़ी हानि होगी। कभी-कभी वह किनारे से भी टूट जायगा, तब उसे जोड़ दिया जा सकता है। कभी-कभी बीच-बीच में से ही उसका हिस्सा झड़ जाता है। यदि इस प्रकार के हस्तलिखित ग्रंथों को आप देखें तो इस बात का बहुत ध्यान रखें कि सफाई से उसे खोलने का प्रयत्न करें, कोई एक चीज पीछे से लगाकर उसके सहारे से उसे खोलें; क्योंकि यदि हस्तलिखित ग्रंथों को हानि पहुँच जाती है तो वह आपकी ही नहीं, राष्ट्रीय संपत्ति की भी तथा ज्ञान की भी हानि हो जाती है। अतः यह बहुत आवश्यक है कि इस तरह की सावधानी रखी जाए कि ग्रंथ को क्षति न पहुँचे। और उसके साथ-साथ यह भी आवश्यक है कि उस ग्रंथ पर कुछ लिखा न जाए। जो कुछ नोट लिए जाएँ वह अलग कागज पर लिये जायें। फिर दूसरी कठिनाई हस्तलिखित ग्रंथों के साथ यह है कि उसके पृष्ठ एक दूसरे से चिपक जाते हैं। पुराने जमाने की स्याही के संबंध में शास्त्री जी ने उस दिन बताया कि उसमें गोंद भी हुआ करता था। गोंद वाले पृष्ठ चिपक जाया करते हैं। और उन चिपके हुए पन्नों को खोलना भी एक कला है। शास्त्री जी, ने अपने भाषण में ऐसे ग्रंथों को खोलने की विधि आपको बता दी है। ग्रंथों के खुलने में न तो अक्षर उखड़ने चाहिये और न उसकी स्याही धुल जानी चाहिए। इस बात का भी ध्यान रखने की आवश्यकता है; और पृष्ठ न टूटे इस बात का भी ध्यान रखने की आवश्यकता है। कुछ ग्रंथ तो जिल्द बँधे हुए होते हैं, और कुछ पत्राकार। इन दोनों प्रकार के ग्रंथों के साथ किस प्रकार का व्यवहार किया जाय इस बात को व्यवहार करने से पहिले भली भाँति सोच लेना चाहिए। प्रत्येक रिसर्च स्कालर को उसके लिए एक विधि निश्चित कर लेनी चाहिए, जिससे कि उसके अक्षरों को और ग्रंथ को कोई क्षति न पहुँचे। एक और कठिनाई उसकी भाषा के संबंध में आती है। क्योंकि ग्रंथ एक विस्तृत क्षेत्र में फैले हुए मिलते हैं। सूर सागर, रामचरित मानस आदि कुछ ग्रंथ ऐसे हैं, जिनका विस्तार क्षेत्र बहुत अधिक है। और हर क्षेत्र की लिखावट अलग-अलग है। कोई अक्षर किसी प्रकार लिखा जाता है, कोई किसी प्रकार। मैंने शास्त्री जी से प्रार्थना की कि वह इस प्रकार की अक्षरावली तैयार कर द, तो बड़ा अच्छा हो। उस अक्षरावली का एक आरंभिक रूप शास्त्री जी ने प्रस्तुत कर

दिया है, जो उनके भाषण के अन्त के परिशिष्ट में दिया गया है। मैं चाहता था कि यह अक्षरावली आप लोगों के पास रहे, इस अक्षरावली को पूर्णतः उपयोगी बनाने के लिए यह आवश्यक है कि इसमें कालक्रम और देश-भेद दोनों से अक्षर-विकास का अन्तर स्पष्ट किया गया हो। मैं समझता हूँ कि अक्षर-विकास के उपयोग में कुछ कालक्रम भी मिलेंगे कुछ देशक्रम भी मिल जायगा। पूर्ण वैज्ञानिक दृष्टि से अक्षर-रूपों की तालिका प्रस्तुत हो जाने पर तो आप यह जान जायेंगे कि जिस प्रकार का अक्षर हमको मिल रहा है वह किस काल अथवा देश से संबंधित है। अतः अक्षरों की यह समस्या बहुत महत्त्वपूर्ण है। जैसे महामहोपाध्याय गौरीशंकर हीराचंद ओझा जी ने प्राचीन लिपिमाला में शिलालेखों की अक्षरमाला ऐतिहासिक दृष्टि से प्रस्तुत की, उसी प्रकार हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की अक्षरावली का इतिहास भी दसवीं ग्यारहवीं शताब्दी से आजतक का प्रस्तुत होना चाहिए। किन्तु जब तक ऐसी प्रामाणिक अक्षरावली तैयार नहीं होती, तब तक आरंभिक सहायता ऊपर दी गयी अक्षरावली से ली जा सकती है। पर अनुसंधाता को स्वयं भी अपना मार्ग निकालना होगा। अक्षरावली कोई शास्त्री जी के पास पहले से तैयार थोड़े ही थी कि जिससे शास्त्री जी पढ़ने लग लए हों। न मेरे पास कोई पहिले से तैयार थी। इस के लिए तो सामान्य बुद्धि ही काम देती है। इसके लिए आवश्यक है कि आप लोग भी हस्तलिखित ग्रंथों का पारायण करें और आवश्यक सूची अपनी बनाते चले जाएँ। सामूहिक उद्योग में भी मैं विश्वास करता हूँ। आप लोग सब अपनी-अपनी अक्षरावली बनाएँ। यह अपनी सूची हमको भेज दें तो इस प्रकार की यह अक्षरावली हम लोग बनाकर के तैयार कर सकते हैं। अभी तो यह आवश्यक है कि किसी ग्रंथ को पढ़ने से पहिले, उस ग्रंथ की अक्षरावली, आप स्वयं तय्यार कर लें। यथार्थ में हर ग्रंथ में आपको उसकी एक अलग अक्षरावली मिलेगी। यदि एक ही ग्रंथ में विविध लेख-लिपियाँ मिलती हैं अर्थात् कुछ अंश एक लिपिक द्वारा लिखा गया है, और फिर आगे किसी दूसरे की कलम मिलती है तो नोट लेते समय इस बात का भी उल्लेख आवश्यक है कि कितने पृष्ठ एक लेखनी से लिखे हुए हैं और कितने दूसरी से क्योंकि लेखनी भी कभी-कभी पुस्तक की प्रामाणिकता के निर्णय में बहुत योग देती है, और आपको जहाँ पुस्तक देखनी होती है, वहाँ उसकी प्रामाणिकता भी देखनी होती है। इसी प्रकार कहीं-कहीं शब्दों की छूट हो जाय, तो उनको भी आपको उसी प्रकार नोट कर लेना है और अपनी बुद्धि का उपयोग उसमें तब करना है जब उसी प्रकार की और सामग्री आपको मिले। तो यह तैयारी आपको एक हस्तलिखित ग्रंथ के सम्बन्ध में कर लेनी चाहिए। फिर हस्तलिखित ग्रंथ के संबंध में दो-तीन और बातें भी जरूरी होती हैः ग्रंथ के आरम्भ में लेखक या तो अपने उद्देश्य का परिचय देता है मंगलाचरण के बाद। फिर वह पुष्पिका भी आती है जिसमें कि लेखक अपने ग्रंथ के आश्रयदाता का और फिर अपने ग्रंथ का परिचय देता है। परिचय की पुष्पिका में कभी-कभी सन् संवत भी दे देता है। सन् संवत कभी नहीं, भी देता है। फिर उनमें अन्त में भी एक पुष्पिका होती है। अंत की पुष्पिका में भी इसी प्रकार से परिचय देता है, कि कौन इस का लेखक है, किस के कहने से यह लिखी

गई है, किस के पठनार्थ लिखी गयी है, और यह ग्रंथ कब संपूर्ण होता है, और किस सन् संवत् में यह संपूर्ण होता है। आरंभ में जो सन् संवत दिया जाता है वह प्राय: ग्रंथ-आरंभ करने का होता है. और अंत में जो दिया जाता है वह प्राय: ग्रंथ की समाप्ति का होता है। लेकिन इन दोनों को देख कर इस सम्बन्ध में परीक्षा द्वारा निश्चय कर लेने की जरूरत है। जब आप ग्रंथों के नोट लें तो इन पुष्पिकाओं को अवश्य तलाशकर लेने की कोशिश करें। फिर अध्याय होते हैं। अध्याय के आदि और अंत में भी इस प्रकार की पुष्पिकाएं बहुधा आपको मिलती हैं। तो इस प्रकार से लेखक के सम्बन्ध की, उसके निजी परिचय की जो पंक्तियाँ उस में मिलें और ग्रंथ के विषय से सम्बन्ध रखने वाली जो सूचनाएं आपको मिलें, हस्तलिखित ग्रंथों के नोट लेते समय उन सूचनाओं को भी पर्याप्त महत्त्व दें और उनको भी नोट कर लें। रचना संवत् के साथ-साथ लिपि संवत् भी नकल करने वाला दे देता है। किस के लिए वह प्रतिलिपि की गयी इस का भी उल्लेख रहता है। इन सब को लिख लेना चाहिए। चूंकि ग्रंथ की प्रामाणिकता के लिए ये सभी सूचनाएं भी बहुत आवश्यक हुआ करती हैं। तो इन सब बातों के बाद रचना संवत् के सम्बन्ध में आप का ध्यान इस बात की ओर दिलाना चाहता हूँ कि रचना संवत जो प्राय: अधिकांश ग्रंथों में लिखते हैं वे अंकों में नहीं मिलते, शब्दों में मिलते हैं। इसी लिए उन शब्दों की अपने पास एक सूची होनी चाहिए कि किस अंक के लिए कौन-कौन से शब्द प्रयोग किए जा सकते हैं। ऐसी एक सामान्य सूची बना ली जा सकती है। हालांकि कभी-कभी विशिष्ट प्रयोग भी मिलेंगे। उस विशिष्ट के लिए विशेष उपाय करना पड़ेगा। फिर भी यदि एक सामान्य सूची आपके पास बनी हुई होगी तो वह निश्चय ही बहुत उपयोगी सिद्ध होगी। इसके लिए महामहोपाध्याय गौरी-शंकर हीराचंद ओझा जी की प्राचीन लिपि माला से एक सूची यहाँ इस भाषण के परिशिष्ट रूप में दी जा रही है। और यह तो बताया ही जा चुका है कि ऐसे ग्रंथों में अंको नाम वाम तो गति। अंकों की उलटी गति होती है, सीधी तरफ से बाँई तरफ को अंक पढ़े जाते हैं। बांई से सीधी तरफ नहीं पढ़े जाते। सं० १६६२ लिखना है, तो, २ पहिले आएगा ६ बाद में आएगा, उसके बाद फिर ६ आएगा। एक सबके बाद में आएगा। इस तरह से फिर उसको उलट कर पढ़ सकते हैं। हस्तलिखित ग्रंथों में कभी-कभी प्रक्षिप्त तिथियाँ रहती हैं। अतः तिथियों की प्रामाणिकता परीक्षा द्वारा सिद्ध की जानी चाहिए। इसके लिए एक अत्यन्त उपयोगी ग्रंथ मिलता है। उसका नाम है 'इंडियन ऐफीमेरीज'। इसकी सहायता से, ज्योतिष की अन्य गणना से, ऐतिहासिक संदर्भों की जाँच से भाषा के रूप से, तथा और भी कई विधियों से प्रामाणिकता निर्धारित की जा सकती है।

परिशिष्ट

(क)

कुछ वे ग्रंथागार जिनमें हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथ विशेष संग्रहीत हैं

१. क० मुं० हिन्दी विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा।
२. काशी नागरी प्रचारिणी सभा।
३. हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।
४. हिन्दुस्तानी एकाडमी, प्रयाग।
५. नागरी प्रचारिणी सभा, आगरा।
६. लक्ष्मी जैन पुस्तकालय, बेलनगंज, आगरा।
७. राजस्थान पुरातत्व मंदिर, जोधपुर।
८. शोध-संस्थान, उदयपुर विद्यापीठ, उदयपुर।
९. विद्या-विभाग, कांकरौली।
१०. जालान पुस्तकालय, कलकत्ता।
११. खुदाबख्श लाइब्रेरी, पटना।
१२. जैन भंडार, जयपुर।
१३. अनूप संस्कृत लाइब्रेरी, बीकानेर।
१४. अभय जैन पुस्तक भंडार, नाहटों की गवाड़, बीकानेर।
१५. व्रज साहित्य मंडल, मथुरा।
१६. वृंदावन के मंदिरों के ग्रंथ-भंडार।
१७. बिहार राष्ट्रभाषा, परिषद, पटना।

(ख)

कुछ वे खोज रिपोर्टें जिनमें हिन्दी के ग्रंथों का उल्लेख है

१. कैटालोगस कैटालैगोरम, टसीटरी।

२. हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज के विवरण (सन् १९००) से काशीनागरी प्रचारिणी सभा काशी।

३. राजपूताने में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज (३ खंड), उदयपुर विद्यापीठ, उदयपुर।

५. मत्स्यप्रदेश में हिन्दी-साहित्य—(शोध प्रबंध)—राजस्थान विश्वविद्यालय जयपुर।

६. हिंदी हस्तलिखित पुस्तकों का विवरण—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, पटना।

(ग)

वह ग्रंथ जिनसे सन-संवत् और तारीखों की प्रामाणिकता जांची जा सकती है—दीवान बहादुर स्वामी कन्नू पिल्लै की 'इंडियन एफीमेरीज'।

(घ)[1]

कुछ उन व्यक्तियों के नाम जिनसे हस्तलिखित ग्रंथों के संबंध में विशेष सूचनाएँ मिल सकती हैं : १. श्री अगरचंद नाहटा, नाहटों की गवाड़, बीकानेर । २. पं० जवाहरलाल चतुर्वेदी, कुंआवाली गली, मथुरा । पं० उदयशंकर शास्त्री, क० मु० हिन्दीविद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय, आगरा । ४. पो० कण्ठमणि शास्त्री, विद्याविभाग, कांकरौली । ५. कैप्टेन शूरवीरसिंह, एडीशनल मजिस्ट्रेट, बुलंदशहर ।

(ङ)

'प्राचीन लिपि माला' से उद्धरण अंकों के लिए शब्दावली

ये सांकेतिक शब्द मनुष्य के अंग, छंदों अथवा उनके चरणों के अक्षर देवता, साहित्य के अंग, ग्रह, नक्षत्र आदि एवं संसार के अनेक निश्चित पदार्थों की संख्या पर से कल्पित किये गये हैं । प्रत्येक नाम के लिए संस्कृत भाषा में अनेक शब्द होने से प्रत्येक संख्या के लिए कई शब्द मिलते हैं जिनमें से कुछ नीचे दिये जाते हैं ।

० = शून्य, ख, गगन, आकाश, अंबर, अभ्र, वियत्, व्योम, अंतरिक्ष, नभ, पूर्ण, रंध्र, आदि ।

१ = आदि शशि, इंदु, विधु, चन्द्र, शीतांसु, शीतरश्मि, सोम, शशांक, सुधांशु, अब्ज, भू, भूमि, क्षिति, धरा, उर्वरा, गो, बसुंधरा, पृथ्वी, क्षमा, धरणी, बसुधा, इला, कु, मही, रूप, पितामह, नायक, तनु आदि ।

२ = यम, यमल, अश्विन, नासत्य, दस्र, लोचन, नेत्र, अक्षि, दृष्टि, चक्षु, नयन, ईक्षण, पक्ष, बाहु, कर, कर्ण, कुच, ओष्ठ, गुल्फ, जानु, जंघा, द्वय, द्वंद्व, युगल, युग्म, अयन, कुटुंब, रविचन्द्रौ, आदि ।

३ = राम, गुण, त्रिगुण, लोक, त्रिजगत्, भुवन, काल त्रिकाल, त्रिगत, त्रिनेत्र, सहोदरा, अग्नि, वन्हि, पावक, वैश्वानर, दहन, तपन, हुताशन, ज्वलन, शिखिन, कृशानु, होतृ आदि ।

४ = वेद, श्रुति, समुद्र, सागर, अब्धि, जलधि, उदधि, जलनिधि, अंबुधि, केन्द्र, कर्ण, आश्रम, युग, तुर्य, कृत, अय, आय, दिश् : दिशा : बंधु, कोष्ठ, वर्ण आदि ।

५ = बाण, शर, सायक इषु, भूत, पर्व, प्राण, पांडव, अर्थ, विषय, महाभूत, तत्व, इंद्रिय, रत्न आदि ।

६ = रस, अंग, काय, ऋतु, मासार्ध, दर्शन, राग, अरि, शास्त्र, तर्क, कारक आदि ।

७ = नग, अग, भूभृत्, पर्वत, शैल, अद्रि, गिरि, ऋषि, मुनि, अत्रि, वार, स्वर, धातु, अश्व, तुरग, वाजि, छंद, धी, कलत्र आदि ।

---

१. ये सूचियाँ पूर्ण नहीं, पर आरंभ में शोधकर्त्ता को सहायक हो सकती हैं । वह इनसे आरंभ करके आगे अपनी आवश्यकतानुसार और नाम बढ़ा सकता है ।

२. 'भारतीय प्राचीन लिपि माला' ले० रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा—दूसरा संस्करण वि० सं० १९७५ पृ० १२०—१२४ ।

८ = वसु, अहि, नाग, गज, दंति दिग्गज, हस्तिन, मातंग, कुंजर, द्विप, सर्प, तक्ष सिधि, भूति, अनुष्टुभ, मंगल, आदि ।

९ = अंक, नंद, निधि, ग्रह, रंध्र, छिद्र, द्वार, गो, पवन, आदि ।

१० = दिश, दिशा, आशा, अंगुलि, पंक्ति, ककुभ्, रावणशिरस, अवतार, कर्मन् आदि ।

११ = रुद्र, ईश्वर, हर, ईस, भव, भर्ग, शूलिन, महादेव, अक्षौहिणी, आदि ।

१२ = रवि, सूर्य, अर्क, मार्तंड, द्युमणि, भानु, आदित्य, दिवाकर, मास, राशि, व्यय आदि ।

१३ = विश्वेदेवाः, काम, अतिजगती, अघोष, आदि,

१४ = मनु, विद्या, इंद्र, शक्र, लोक, आदि ।

१५ = तिथि, घर, दिन, अहन्, पक्ष, आदि ।

१६ = नृप, भूप, भूपति, अष्टि, कला आदि ।

१७ = अत्यष्टि,	१८ = धृति,
१९ = अतिधृति	२० = नख, कृति
२१ = उत्कृति, प्रकृति, स्वर्ग	२२ = कृती, जाति
२३ = विकृति	२४ = गायत्री, जिन, अर्हत् सिद्ध आदि ।
२५ = तत्व	२७ = नक्षत्र, उडु, भ, आदि
३२ = दंत, रद, आदि	३३ = देव, अमर, त्रिदश, सुर आदि
४० = नरक	४८ = जगती
४९. तान	

इस प्रकार शब्दों से अंक बतलाने की शैली बहुत प्राचीन है । वैदिक साहित्य में भी कभी कभी इस प्रकार से अंक बतलाने के उदाहरण मिल जाते हैं जैसे कि शतपथ और तैत्तिरीय ब्राह्मणों में ४ के लिए "कृत" शब्द कात्यायन और लाट्यायन श्रौतसूत्रों में २४ के लिए गायत्री और ४८ के लिए जगती और वेदांग ज्योतिष में १, ४, ८, १२ और २७ के लिए क्रमशः रूप "अय" "गुण" "युग" और "भसमूह" शब्दों का प्रयोग मिलता है, पिंगल के छंद सूत्र में तो कई जगह अंक इस तरह दिए हैं । "मूलपुलिश सिद्धांत" में भी इस प्रकार के अंकों का होना पाया जाता है । वराहमिहिर की "पंचसिद्धांतिका ई० स० ५०५, ब्रह्मगुप्त के ब्रह्मस्फुटसिद्धांत, ९ (ई० स० ६२८), लल्ल के शिष्यधीवृद्धिद, (ई० स० ६३८, के आस पास) में तथा ई० स० की सातवीं शताब्दी के पीछे के ज्योतिष के आचार्यों के ग्रन्थों में हजारों स्थानों पर शब्दों से अंक बतलाये हुए मिलते हैं और अब तक संस्कृत, हिन्दी, गुजराती आदि भाषाओं के कवि कभी-कभी अपने ग्रंथों की रचना का संवत् इसी शैली से देते हैं, प्राचीन शिलालेखों तथा ताम्रपत्रों में भी कभी-कभी इस शैली से दिये हुए अंक मिल जाते हैं ।

मि० के ने भारतीय गणित शास्त्र नामक अपनी पुस्तक में लिखा है कि शब्दों से अंक प्रकट करने की शैली, जो असाधारण रूप से लोक प्रिय हो गई और अब तक

प्रचलित है, ई० स० की नवीं शताब्दी के आस पास संभवतः पूर्व की ओर से इस देश में प्रवृत्त हुई, (पृ० ३१) मि० के का यह कथन भी सर्वथा विश्वास योग्य नहीं है क्योंकि वैदिक काल से लगा कर ई० स० की सातवीं शताब्दी तक के संस्कृत पुस्तकों में भी इस शैली से दिये हुए अँकों के हजारों उदाहरण मिलते हैं। यदि मि० के ने वराहमिहिर की पंचसिद्धांतिका को ही पढ़ा होता तो भी इस शैली के असंख्य उदाहरण मिल जाते।

अक्षरों से अंक बतलाने की भारतीय शैली

ज्योतिष आदि के श्लोकबद्ध ग्रन्थों में प्रत्येक अंक के लिए शब्द लिखने से विस्तार बढ़ जाता था जिसको संक्षेप करने के लिए अक्षरों से अंक प्रकट करने की रीतियाँ निकाली गईं। उपलब्ध ज्योतिष के ग्रन्थों में पहले पहिल इस शैली से दिय हुए अंक "आर्यभट प्रथम" के आर्यभटीय आर्य सिद्धान्त में मिलते हैं जिसकी रचना ई० स० ४९९ में हुई थी। उक्त पुस्तक में अक्षरों से अंक नीचे लिखे अनुसार बतलाये हैं।

क् = १, ख = २, ग् = ३, घ् = ४, ङ = ५, च = ६, छ् = ७, ज् = ८, झ = ९, ञ = १०, ट् = ११, ठ् = १२, ड् = १३, ढ् = १४, ण् = १५, त् = १६, थ् = १७, द् = १८, ध् = १९, न् = २०, प् = २१, फ् = २२, ब् = २३, भ् = २४, म् = २५, य् = ३०, र् = ४०, ल् = ५०, व् = ६०, श् = ७०, ष् = ८०, स् = ९०, ह् = १००, अ = १, इ = १००, उ = १०,००० ऋ = १,०००,००० लृ = १०,००,००,०००, ए = १,००,००,००,००,००, ऐ = १०,००,००,००,००,०००, ओ = १०,००,००,००,००,००,०००, औ = १०,००,००,००,००,००,००,००० ।

इस शैली में स्वरों में ह्रस्व-दीर्घ का भेद नहीं है। व्यंजन के साथ जहाँ स्वर मिला हुआ होता है वहाँ व्यंजनसूचक अंक को स्वरसूचक अंक से गुणना होता है और संयुक्त व्यंजन के साथ जहाँ स्वर मिला होता है वहाँ उक्त संयुक्त व्यंजन के प्रत्येक घटक व्यंजन के साथ वही माना जाता है जिससे प्रत्येक व्यंजन सूचक अंक को उत्तर स्वर के सूचक अंक से गुण कर गुणनफल जोड़ना पड़ता है। इस शैली में कभी-कभी एक ही संख्या भिन्न अक्षरों से भी प्रकट होती है। ज्योतिष आचार्यों के लिए आर्यभट् की यह शैली बहुत ही संक्षिप्त अर्थात् थोड़े शब्दों में अधिक अंक प्रकट करने वाली थी परन्तु किसी पछले लेखक ने इसको अपनाया नहीं और न यह शैली प्राचीन शिलालेखों तथा दानपत्रों में मिलती है, जिसका कारण इसके शब्दों का कर्णकटु होना हो अथवा आर्यभट के भूभ्रमणवादी होने से आस्तिक हिन्दुओं ने उसका बहिष्कार किया हो।

आर्य भट "दूसरे" ने, जो लल्ल और ब्रह्मगुप्त के पीछे परन्तु भास्कराचार्य से पूर्व अर्थात ई० स० की ११ वीं शताब्दी के आस पास हुआ, अपने आर्यसिद्धांत में १ से ९ तक के अंक और शून्य ० के लिए नीचे लिखे अक्षर माने हैं।

१	२	३	४	५	६	७	८	९	०
क् ट् प् य्	ख् ठ् फ् र्	ग् ड ब् ल्	घ् ढ् भ् व्	ङ ण् म् श्	च् त् ष्	छ् थ् स्	ज् द् ह्	झ् ध् ळ्]	ञ न्

इस क्रम में केवल व्यंजनों से ही अंक सूचित होते हैं, स्वर निरर्थक या शून्य-सूचक समझे जाते हैं और संयुक्त व्यंजन के घटक व्यंजनों में से प्रत्येक से एक-एक अंक प्रगट होता है। संस्कृत लेखकों की शब्दों से अंक प्रगट करने की सामान्य परिपाटी यह है कि पहले शब्द से इकाई दूसरे से दहाई, तीसरे से सैकड़ा आदि अंक सूचित किये जाते हैं। "अंकानाँ वामतो गतिः" परन्तु आर्यभट ने अपने इस क्रम में उक्त परिपाटी के विरुद्ध अंक बतलाये हैं, अर्थात् अन्तिम अक्षर से इकाई, उपाँत्य से दहाई। इस क्रम में १ का अंक क, ट, प, या य अक्षर से प्रगट होता है जिससे इसको "कटपयादि" क्रम कहते हैं।

कभी-कमी शिलालेखों, दानपत्रों, तथा पुस्तकों के संवत् लिखने में अंक "कटपयादि" क्रम से दिये हुए मिलते हैं, परन्तु उनकी और आर्यभट "दूसरे" की उपर्युक्त शैली में इतना अन्तर है कि उनमें "अंकानाँ वामतो गतिः" के अनुसार पहिले अक्षर से इकाई, दूसरे से दहाई आदि के अंक बतलाये जाते हैं, और संयुक्त व्यंजनों में केवल अन्तिम व्यंजन अंक सूचक होता है, न कि प्रत्येक व्यंजन।

ऊपर वर्णन की हुई अक्षरों से अंक सूचित करने की शैलियों के अतिरिक्त दक्षिण में मलाबार और तेलुगु प्रदेश में पुस्तकों के पत्रांक लिखने में एक और भी शैली प्रचलित थी जिसमें क से ळ तक के अक्षरों से क्रमशः १ से ३४ तक के अंक फिर बारखड़ी (द्वादशाक्षरी) के क्रम से का से ळा, तक आ की मात्रा सहित व्यंजनों से क्रमशः ३५ से ६८ तक, जिसके बाद कि से ळि तक के इ की मात्रा सहित व्यंजनों से ६९ से १०२ तक के और उनके पीछे के अंक ई, ० ० उ, आदि स्वर सहित व्यंजनों से प्रकट किये जाते थे। यह शैली शिलालेख और ताम्रपत्र आदि में नहीं मिलती।

अक्षरों से अंक प्रकट करने की रीति आर्यभट प्रथम ने ही प्रचलित की हो ऐसा नहीं है क्योंकि उससे बहुत पूर्व भी उसके प्रचार का कुछ-कुछ पता लगता है। पाणिनि के सूत्र १. ३. ११ पर के कात्यायन के वार्तिक और कैयट के दिए हुए उसके उदाहरण से पाया जाता है कि पाणिनि की अष्टाध्यायी में अधिकार "स्वरित" नामक वर्णात्मक चिन्हों से बतलाये गये थे और वे वर्ण पाणिनि के शिवसूत्रों के वर्णक्रम के अनुसार क्रमशः सूत्रों की संख्या प्रकट करते थे अर्थात् अ = १, इ = २, उ = ३ आदि।

श्री रमानाथ सहाय

पुस्तकाध्ययन तथा सामग्री निबंधन

शोध के सिद्धान्त, शोध-विषय के चयन आदि के विषय में आप पिछले २-३ दिन में पर्याप्त सुन चुके होंगे। शोध की विशेषता भी आपको विदित होगी। शोध निबन्ध अन्य निबन्धों से भिन्न होता है अतएव उसके लिए पढ़ने की पद्धति, नोट्स लेने की पद्धति आदि भी भिन्न होती हैं। शोध निबन्ध को सर्वप्रथम thorough होना चाहिए अर्थात् शोधकर्त्ता को अपने सीमित विषय में तब तक का हुआ सम्पूर्ण ज्ञान संकलित करना है और उसे अपने निबंध में यथोचित प्रयुक्त करना है। दूसरे शोधप्रबन्ध का प्रत्येक वाक्य responsible (प्रमाणित) होना चाहिए। कोई भी ऐसा तथ्य न हो जिसके पीछे प्रमाणों का स्तम्भ न हो अतएव प्रत्येक विशेष नूतन कथन की पुष्टि तथ्यों से तथा उल्लेखों से करनी होती है और स्रोत को पाद टिप्पणी में देना होता है। अतएव शोधकार्य में सर्वत्र व्यापकता तथा accuracy चाहिए और इस के लिए उपयुक्त साधनों को अपनाना चाहिए—जैसे ठीक ढंग से नोट्स उतारना, ठीक ढंग से पुस्तक सूची बनाना तथा ऐसे कार्य करना कि समय का पूरा-पूरा उपयोग हो सके।

इस ओर पुस्तकाध्ययन की महत्ता स्पष्ट है। किन्तु कुछ लोग कभी-कभी ऐसे मिल जाते हैं जो शोधकार्य तो कर रहे हैं किन्तु अपने से पहले किये कार्य को जिन्होंने पूरा-पूरा नहीं पढ़ा है। वे दावा करते हैं कि वे clean slate से कार्य कर रहे हैं और वे मौलिक शोध करेंगे। किन्तु ये इनकी भूल है। मनुष्य इतनी उन्नति इसी कारण कर सका है कि प्रत्येक मनुष्य अपने पूर्वजों के अनुभवों को काम लाता है। जहाँ वे छोड़ गए थे उससे आगे चलता है। पूर्वकृत कार्य को न पढ़ कर मौलिक शोधकर्ता (i) कभी कभी ऐसे परिणाम निकाल देता है जो साधारणतः पहले अनेकों द्वारा निकले हुए थे या ऐसी पद्धति से कार्य करता है जो अब out of date अथवा अवैज्ञानिक सिद्ध हो चुकी है। अतएव प्रत्येक शोध के विद्यार्थी को अपने से पहले किए शोधकार्यों का गम्भीर पठन व मनन करना चाहिए। इससे यह लाभ होगा कि पहली की सुलझी उलझनों को फिर से सुलझाना न पड़ेगा, पूर्वकृतों ने किस किस सामग्री को अपनाया, किन प्रणालियों को प्रयुक्त किया, किन परिणामों पर वे पहुँचे—ये सब सम्मुख समस्या को हल करने में सहायक होंगे और शोधकर्ता ज्ञात से अज्ञात के मार्ग पर कुछ आगे तक देख सकेगा और फिर अभ्यस्त हो निज का मार्ग बना सकेगा।

पुस्तकें तथा उनके अंग

शोधकार्य में उन विद्यार्थियों को, जिनका कार्य विज्ञान की प्रयोगशाला से नहीं है, पुस्तकों का पढ़ना सबसे बड़ा कार्य है क्योंकि शोध सामग्री का मुख्य आधार पुस्तक-बद्ध ज्ञान है। किन्तु पुस्तकबद्ध सामग्री पुस्तक के बाह्य आकार प्रकार से कई श्रेणियों में बद्ध की जा सकती है जिनमें मुख्य ये हैं—

(क) पुस्तकें—एक या अनेक लेखकों से लिखी।
पुस्तकें—मूल और अनुवाद सहित।
पुस्तकें—सम्पादित।

(ख) पत्रिकाएँ—पाक्षिक, मासिक, द्विमासिक, त्रैमासिक, चातुर्मासिक, अर्धवार्षिक, वार्षिक।

(ग) समाचारपत्र—दैनिक, साप्ताहिक।

(घ) विशेष प्रकाशन—बुलेटिन।
पैम्फलेट।
कार्यविरण Proceedings (प्रोसीडिंग)।
विवरण Reports (रिपोर्ट)।

(ङ) कोष, विश्वकोषादि (Reference books) सन्दर्भग्रन्थ।

पुस्तकों के निम्नलिखित मुख्य अंग हैं :—

मुखपृष्ठ
अन्तर्पृष्ठ प्रथम—(जिल्द के पृष्ठ के बाद) पुस्तक का नाम।
अन्तर्पृष्ठ प्रथम के पीछे—रिक्त स्थान।
(अथवा उसी लेखक, ग्रंथमाला आदि की अन्य पुस्तकों की सूची)।
अन्तर्पृष्ठ द्वितीय—प्रकाशन माला (सब से ऊपर)।
पुस्तक का नाम।
(संक्षिप्त व्याख्या)।
लेखक का नाम।
संस्करण।
प्रकाशन
(प्रकाशन वर्ष-मूल्य)।
अन्तपृष्ठ द्वितीय के पीछे—नीचे मुद्रक (अवश्य)।
प्रकाशन वर्ष-मूल्य।
संस्करण-प्रकाशित पुस्तक संख्या।
भेंट।

प्राक्कथन, आमुखादि।
विषयसूची।
भूमिका।

{अध्याय ।

परिशिष्ट ।
पुस्तकसूची ।
अनुक्रमणिका ।

फुटनोट (पादटिप्पणी)—पृष्ठ के पाद में ।

इन में द्वितीय अन्तर्पृष्ठ से पुस्तक सूची कार्ड बनाने के लिए पूर्ण सूचना मिल जाती है ।

प्राक्कथन आमुखादि को भी पढ़ लेना चाहिए मामूली तौर से : विषयसूची से विदित हो पाएगा कि पुस्तक कहाँ तक शोध के लिए उपयुक्त है । जिन अध्यायों से लाभ हो उनके नोटस् ले लेने चाहिएँ ।

पुस्तक सूची से अपने Bibliography cards बनाएंगे अतएव यह एक महत्त्वपूर्ण अंग है ।

अनुक्रमणिका की साधारणतया पाठक उपेक्षा करते हैं किन्तु यदि अनुक्रमणिका अच्छी हो तो इस से बढ़कर कोई भाग उपयोगी नहीं है । अपने विषय के विविध पाठ्य विषय अनुक्रमणिका में देखे, पृष्ठ नोट किया और उपयुक्त अंश पढ़ डाले । यदि समयाभाव हो तो अनुक्रमणिका से ही पढ़ना चाहिए ।

फुटनोट (पाद टिप्पणी) यद्यपि पाद की टिप्पणी होने के कारण गौण महत्त्व के माने जाते हैं किन्तु शोध के विद्यार्थी के लिए ये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं । फुटनोट दो प्रकार के होते हैं ।

(अ) व्याख्या देने के लिए—जिन में लेखक अपने स्वतन्त्र विचारों का, सम्बद्ध विषय का, उसी विषय के उच्च गम्भीरतर विचारों का अथवा सम्बद्ध प्रश्नों का संकेत देता है । साधारण पाठक के लिए ये बेकार है किन्तु शोध के विद्यार्थी को ये कभी-कभी नई सूझ दे देते हैं ।

(आ) सूचना का स्रोत देने के लिए—ये फुटनोट शोध के विद्यार्थी के लिए अत्यन्त उपयोगी हैं । फुटनोट, मुख्य लेख में आए यदाकदा उल्लेख और पुस्तक-सूची ये—ही शोध के विद्यार्थी के कार्य को आगे बढाती हैं । इन से आगे अध्ययन करने के लिए संकेत मिलते हैं और पुस्तकसूची-कार्ड बढ़ते जाते हैं । फुटनोट में स्रोत का पूरा विवरण भी मिल जाता है यथा-लेखक का नाम पुस्तक का नाम आदि । सर्वप्रथम उल्लेख में प्रकाशकादि का नाम, संस्करणादि भी होता है (यदि वहाँ न मिले तो अन्त में पुस्तक सूची देखिए) ।

अंग्रेजी की पुस्तकों में फुटनोटों में कुछ ऐसे संक्षेप चिह्न मिलते हैं जिन के पहले से न जानने पर कठिनाई आ पड़ती है । सुबोधता के लिए वे नीचे दिए जा रहे हैं—

संख्याओं के पूर्व

p = page pp = pages
l = line ll = lines

संख्या के पश्चात्

f ff — विषय आगे चल रहा है

अन्य

cf — c (circa)-approximate (data)
cp — Sic
qv
lc loc cit = in the place cited. In the passage last referred to same source if other references intervene.
Opcit (= the work cited)
Ibid (Ibidem = Same) Seccessive ref. to same Source
Supra
Infra

पुस्तकों का पढ़ना

शोध निबन्ध की पूर्व योजना को ध्यान में रखते हुए निर्देशक के निर्देशनानुसार कुछेक पुस्तकों को आधारपुस्तकें मानकर पढ़ना चाहिए और आगे बताए ढंग से नोटस् notes लेने चाहिएँ व पुस्तक-सूची कार्ड Bibliography cards बनाने चाहिए। कभी-कभी Encyclopedia या किसी प्रमुख लेख (जिस में उल्लेख पेर्याप्त हों) को लेकर भी चला जा सकता है। एक बार विषय पकड़ में आ गया तो पुस्तक सूची कार्ड Bibliography cards बढ़ते जाएँगे और जितना उन्हें पढ़ेंगे उतने उल्लेख और मिलते जाएंगे और कार्य चल निकलेगा।

अतएव सर्वप्रथम किसी एक पुस्तक पढ़ने का निश्चय कर निम्नलिखित वस्तुएँ अपने पास रखें —

१. (अ) (Blank Bibliography cards) रिक्त पुस्तकसूची कार्ड्स
(आ) उनकी (Index file) क्रमसूचक फाईल

२. (अ) नोट्स लेने के लिए कागज
(आ) उन की (Index file) क्रम सूचक फाईल

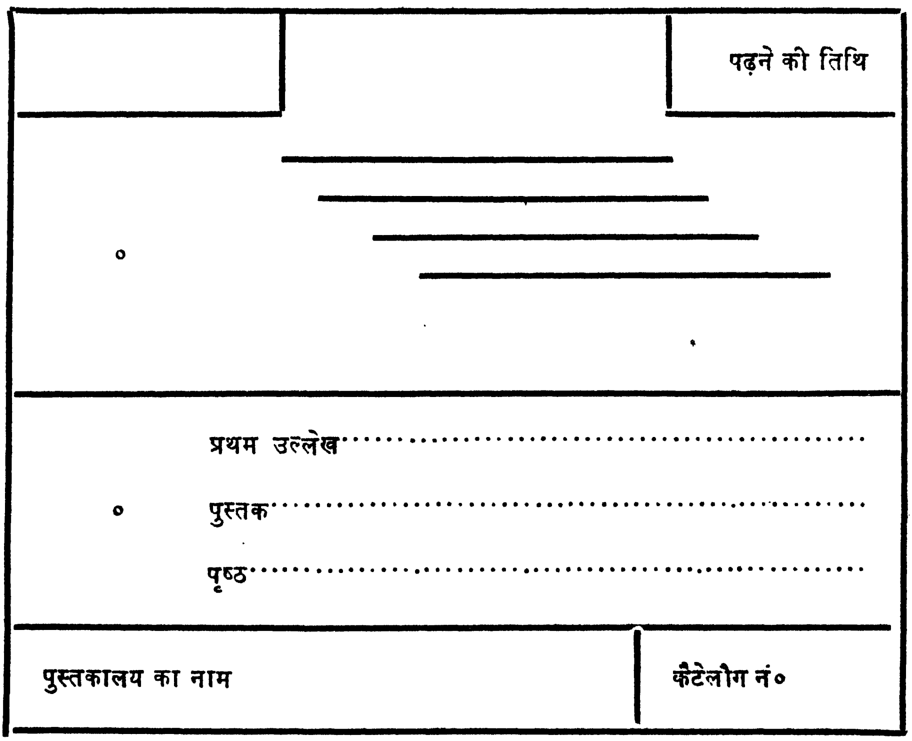
३. एक (Index file) विषय क्रमानुसार क्रमसूचक फाईल

पुस्तक सूची कार्ड बनाना

यह हम अभी बता आए हैं कि पुस्तकालय में या अन्यत्र पुस्तकाध्ययन करते समय सादे पुस्तक-सूची कार्ड (विभिन्न रंग के जैसा कि आपने निश्चित किया हो) अवश्य आप के पास होने चाहिएं। जहाँ कहीं आप को पढ़ते समय किसी अन्य पुस्तक का, या अन्य लेख का (चाहे वह पत्रिका, समाचार पत्र, पैम्फलेट आदि कहीं हो) उल्लेख आए आप उस का कार्ड अवश्य बना लें। इस प्रकार आप के Bibliography cards (पुस्तक सूची कार्ड)

निरन्तर बढ़ते जाएँगे। किन्तु जैसा कि अभी बताया जाएगा आप उन्हें क्रमानुसार अवश्य रखते जाएँ ताकि बार-बार एक ही पुस्तक कार्ड, असावधानी या प्रमाद के कारण न बनता जाए। यदि आप को सन्देह हो कि अमुक पुस्तक अथवा लेख का कार्ड बन चुका है तो तुरन्त क्रम में देख लीजिए।

पुस्तक सूची कार्ड ३" × ५" (बेहतर है कि ४" × ६") के हों। विभिन्न श्रेणियों की पाठ्य सामग्री के कार्ड बनाने की विभिन्न प्रणालियाँ हैं। अतएव उन्हें भली भांति समझ लेना चाहिए।



पुस्तक

(अ) लेखक का नाम (प्रसिद्ध नाम, परनाम, नाम) [लेखकों का नाम]
पुस्तक का नाम (रेखांकित)
संस्करण

प्रकाशक का नाम व पता : (नगर-प्रकाशक का पता) प्रकाशन वर्ष (ग्रन्थमाला नाम-संख्या)

(आ) अनुवादक, सम्पादक (यदि मूल लेखक भी है), संवर्धनकर्त्ता का नाम पुस्तक नाम के पश्चात् आएगा।

लेख-पत्रिकादि

(अ) लेखक का नाम

पत्रिका "लेख का शीर्षक" (दोनों ओर quotation Commas के अन्दर)

पत्रिका का नाम

वर्ष (Volume), अंक पृष्ठ

(दिनांक) (ब्रेकेट के)

(आ) **लेखक का नाम** (यदि हो)

'पैम्फलेट बुलेटिन' कमेटी का नाम (यदि व्यक्ति का न हो)

"शीर्षक"

प्रकाशन नाम (Bulletin. Proceeding pamphlet series)

प्रकाशन संस्था issued by...........

वर्ष० अंक० पृष्ठ

(दिनांक)

लेख-समाचार पत्र

लेखक का नाम (यदि हो)

"शीर्षक" [यदि शीर्षक न हो, तो बना लीजिए] और बड़े ब्रेकेट में रखिए।

समाचार पत्र का नाम (संस्करण-लोकल डाक)

दिनाँक, पृष्ठ कालम

लेख-महाकोषादि

लेखक का नाम

"शीर्षक"

ग्रन्थ नाम (संस्करण)

वर्ष, खण्ड, पृष्ठ

ऊपर के रिक्त स्थान में उपरिलिखित सूचनाओं में से जो उल्लेख में मिल सकें भर दें। शेष सूचना तब भर लें जब उस लेख को या पुस्तक को स्वयं पढ़ें।

पुस्तक सूची कार्ड दो रंग के हों तो अच्छा है—एक सफेद, दूसरा किसी भी हलके रंग का। पुस्तकों के कार्ड सफेद पर बनाए जाएँ और लेखों के जो कि पत्रिका, समाचार पत्रादि में मिलते हैं रंगीन कार्डों पर।

सफेद कार्डों को (जिन में पुस्तकों का विवरण है) लेखकों के अकारादि क्रम से रखना चाहिए और रंगीन कार्डों को रेखांकित पत्रिकादि नामों के अकारादि क्रम से। इससे लाभ यह होगा कि एक ही पत्रिका के पढ़ने योग्य सब लेख एक पास आ जाएँगे। उन्हें वर्षानुक्रम अथवा अंकानुक्रम से लगाकर पुस्तकालय में क्रम से पढ़ डालना चाहिए। इसमें समय की बचत होगी।

पुस्तक सूची कार्डों की फाईल

कार्डों को अकारादि क्रम से एक file में लगा लेना चाहिए प्रति दिन। इस बात की प्रतीक्षा नहीं करनी चाहिए कि पर्याप्त इकट्ठा हो लेने दो तब करेंगे। इसके लिए रिंग फाईल Ring File होनी चाहिए। तागे से बंधी file में खोलकर फिर से बाँधने की असुविधा होती है।

कार्डों को क्रमबद्ध रखना चाहिए। कार्ड से कुछ बड़े कार्डों पर (जो ऊपर के दोनों कार्डों से भिन्न रंग के हों) अकारादि क्रम तथा Abcde क्रम से नमूने के अनुसार काट लेना चाहिए। पत्रिकादि के कार्डों के Index cards उन के नाम के अनुसार कटने पर सुविधाजनक होते हैं (देखिए नमूने)।

नोट्स लेना

शोधकार्य के लिए नोट्स लेना एक महत्त्वपूर्ण अंग है। जैसा कि प्रारम्भ में कहा जा चुका है, शोध के विद्यार्थी को अपने विषय का आद्योपान्त अध्ययन करना होता है, उस विषय में पूर्वकृत सम्पूर्ण कार्य पढ़ लेना आवश्यक है किन्तु पढ़ी हुई वस्तु भूल न जाए इस हेतु Notes लेना अनिवार्य हो जाता है। ये नोट्स ही नींव के पत्थर हैं जिन पर शोधप्रबन्ध का महल खड़ा होना है। अतएव इस नींव को सुदृढ़ बनाना शोधविद्यार्थी का परम कर्तव्य है।

नोट्स किन पुस्तकों के बनाने हैं, किन लेखों के बनाने हैं—ये आप अपने पुस्तक सूची कार्डस् से पता लगाएँगे। पुस्तक सूची कार्डस् से बताई पुस्तक मिलने पर पुस्तक में 'क्या पढ़ें', 'क्या छोड़ें', की समस्या आती है। यह एक विकट समस्या है। एक साधारण पाठक के पास तो पर्याप्त समय होता है और वह यदि जिज्ञासु है तो पूरी पुस्तक पढ़ डालेगा किन्तु शोध के विद्यार्थी को तो समय से लड़ना है, थोड़े से समय में सब पढ़ना है। ज्ञान का कोष अनन्त है और विद्यार्थी सीमाबद्ध है अनेक बन्धनों से। फिर उसे पढ़ना भी गहराई से है। अतएव पठन-अपठन का उसे निर्णय करना पड़ता है। इस का कोई सरल मार्ग नहीं है—नीरक्षीर विवेचन विषय में नदीष्ण विद्वान ही कर सकते हैं। फिर भी निर्णय में सुविधा इस पर निर्भर है कि आप के शोधकार्य की रूपरेखा कितनी विस्तृत है, कितनी गहराई तक आप की पूर्व योजना है। यदि आपने अपने शोध के प्रत्येक अंश को पूर्णभाँति योजनाबद्ध कर लिया है (जो कि बड़ा कठिन है) तो आप को सरलता होगी। आप विषय सूची या पुस्तक के अध्यायों पर एक झलक मारते ही जान जायँगे कि कौन अंश मेरे काम का है। यहाँ तक कि समय कम होने पर पुस्तक की अनुक्रमणिका से ही पठनांश का निर्णय कर सकते हैं।

किन्तु पूर्व योजना के पक्व होने के पूर्व प्रथम कुछ मास में निर्देशक से निर्दिष्ट कुछ आधार पुस्तकों का पूर्ण अध्ययन कर लेना चाहिए और उसके ऐसे नोट्स बनाने चाहिए जो मूल नोट्स बन जाएं। अन्य पुस्तकों के, बाद में, पूरे पूरे नोट्स बनाना आवश्यक नहीं है। पुस्तक के इष्ट अध्याय को पहले पूरा-पूरा पढ़ डालिये अथवा सरसरी तौर

से देख लीजिए। विहंगम दृष्टि से अध्याय का ढाँचा पूरा पूरा आखों के आगे आ जाएगा। तब अभीष्ट अंशों के नोट्स बना डालिए।

नोट्स कई भाँति के हो सकते हैं। प्रमुख ये हैं :—

(i) Paraphrase Type—विषय अपने शब्दों में। बीच बीच में मूललेखक के वाक्य या वाक्यांश। ' ' में।

(ii) संक्षेप नोट्स Summary Notes—विषय के सारांश संक्षेप में।

(iii) उद्धरण नोट्स Quotation Notes—मूल लेखक के लम्बे उद्धरणांश उद्धरण वही होना चाहिए, मक्षिका स्थाने मक्षिका। पृष्ठ नं० नीचे अवश्य डालिए।

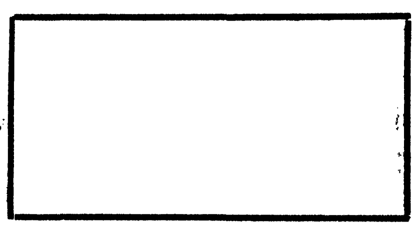
(iv) प्रेरक नोट्स Suggestive Notes—मूल लेखक के विचारों से आप को कुछ प्रेरणा मिली या सूझ हुई। ये नोट्स रंगीन कागज पर तुरन्त लिख डालिए। ये वास्तविक शोध में बहुत काम आते हैं।

नोट्स् कार्डस्

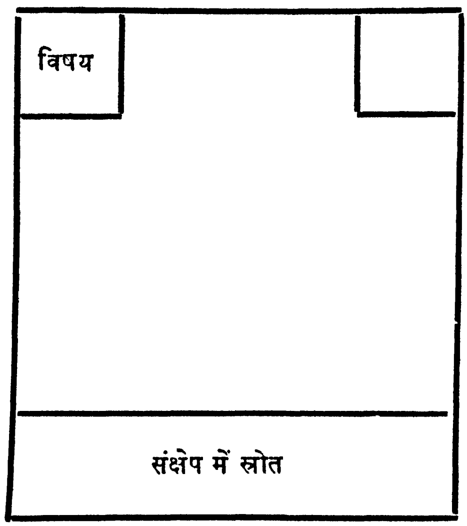
शोध के विद्यार्थी को नोट्स् एक बंधी कापी में नहीं बनाने चाहिए। पूरी पुस्तक के नोट्स् एक कापी में बना लिए, दूसरी पुस्तकों के दूसरी कापी में—इस प्रकार के नोट्स को एक एक विषय लिखने के लिए फिर पूरा पूरा पढ़ना होगा। यह बहुत समय खा लेगा, परिश्रम भी पड़ेगा और कोई उल्लेख छूट भी जा सकता है। अतएव नोट्स खुले loose Sheets में लेने चाहिए।

ये Notes-Sheets या notes-cards कई आकार के हो सकते हैं पर दो आकार प्रमुख हैं—फुलस्केप टाईपशीट अथवा कापी Size। यदि नोट्स संक्षिप्त बनाने हैं तो छोटे परिमाण के कागज कटाइए पर पूर्वनिर्णयानुसार सब कागज एक ही परिमाण के होने चाहिए।

नोट करते समय एक कागज पर एक ही विचार की इकाई उतारनी चाहिए। विचार इकाई का परिमाण आप के ज्ञान पर निर्भर है। यहाँ तो पराकाष्ठाओं से बचना है। यदि विचार इकाई बहुत छोटी कर दी तो नोट्स कार्डों की संख्या अत्यधिक हो जाएगी तथा संभालने में कठिनाई होगी। यदि विचार इकाई विशाल ली तो एक ही कागज पर ऐसे दो या अनेक विचार आ जाएँगे जो आप बाद में पुनः सूक्ष्म विभाजन में पृथक् पृथक् करना चाहेंगे। मध्यम मार्ग आप की दूरदर्शिता पर निर्भर है। हाँ, विचार इकाइयों की विशालता की अपेक्षा लघुता में अधिक सौकर्य है।



नोट्स शीट के दाहिने ओर इतना स्थान छोड़ दीजिए। इस के समानान्तर बाईं ओर विषय का संकेत कीजिए। फिर नोट्स लीजिए। पृष्ठ के नीचे संक्षेप में स्रोत दीजिए। स्रोत का पूर्ण विवरण होना आवश्यक नहीं है—केवल संक्षेप में लेखक का परनाम पुस्तक नाम व पृष्ठ। साथ में Double checkimg के लिए Bibliography Card में कुछ ऐसा code डाल दीजिए वह भी नीचे यहाँ लिख दिया जाए। पर अकेला code (चिह्न) गलती करवा सकता है।



नोट्स् फाईल

मुक्त पन्ने वाली (loose leaf) प्रणाली का सबसे बड़ा दोष है कि अकेले अकेले कागज सरलता से खो सकते हैं, इधर उधर हो सकते हैं। अतएव नोट्स निबन्धन में असावधानी नहीं करनी चाहिए। पहले तो जिन loose leaves पर काम करना है वे loose न हों तो अच्छा है। आप एक punched file (देखिए नमूना) में बंधे रख सकते हैं, नोट्स लेते गए और कापी की भाँति पलटते गए। या clipfile (देखिए नमूना) में रखकर लिखते गए और लिख लिख कर लिफाफे में डालते गए या क्लिप clip के नीचे लगाते गए। हाँ, रात्रि में दिन भर के बने नोट्स शीटों को अवश्य क्रमानुसार लगा लेना चाहिए और पक्की फाइल में यथास्थान पहुँचा देना चाहिए।

नोट्स शीट के लिए punched file cover (देखिए नमूना) ले लीजिए। कुछ रंगीन मोटे कागज की क्रमसूचक कार्डस् भी कटा कर रख लेनी चाहिएँ। इस indexing के लिए—क्रमानुसार लगाने के लिए—आप को एक पूर्व योजना बनानी पड़ेगी।

सर्वप्रथम आप अपने विषय को ९ या ९ से कम मोटे भागों में बाँट लें। (एक भाग सामान्य (general) के लिए रख छोड़ा है)। प्रत्येक भाग के १० उपभाग बना लीजिए। प्रत्येक उपभाग के १० प्रभाग बना सकते हैं। इस प्रकार पूरा विषय १००० सूक्ष्म खण्डों में

विभक्त हो सकता है और कोई ही विषय ऐसा होगा कि उस में १००० से अधिक सूक्ष्म खण्डों की आवश्यकता पड़े।

प्रत्येक नोट्स के शीट में दाहिने ऊपर रिक्त स्थान में भाग का नम्बर (१-२-६) माना ६ डाल दीजिए। बाद में रात्रि में वह शीट मोटे विभाजन ६ में चला जाएगा। बाद में मोटा भाग ६ यदि पर्याप्त मोटा हो चला है तो उपभाग बना डालिए। नोट्स में चिह्नित ६ के आगे विभाजन के संकेतानुसार कोई भी अंक आ सकता है। मान लिए ८ आया तो ६ के पश्चात ८ लिखने पर ६८ बना। फाइल में ६८ वाले भाग में यह कागज पहुँच जाएगा। अगले सूक्ष्म विभाजन के बाद सभी तत्सम्बद्ध कागज वहीं पहुँच जाएगा। एक एक सूक्ष्म खण्ड के समस्त पत्र पास पास पहुँच जाएँगे जो कि Filing का ध्येय था।

यदि किए विभाजन में शीट को जाना है निश्चित न हो सके तो——डाल दीजिए। कुछ दिनों कार्य करने के पश्चात अपने-आप, आप नम्बर डाल देंगे।

हाँ प्रत्येक विभाजन में ० का अंक General या miscellaneous के लिए अवश्य रखे जिन में ऐसे विषय आ सकें जो कई खण्डों में आ सकते हैं।

(Filing Indexes कैसे लगाए जाएँगे ये नमूने मे देखने से मालूम होंगे)

विषयक्रमानुसार फाईल

विषय की file में अकारादि क्रम से index के साथ पर्याप्त foolscap पत्र होने चाहिए। किसी भी विषयांश का उल्लेख होवे तो तुरन्त उस विषयांश (topic) के नीचे उल्लेख लिख लेना चाहिए। यह कार्य Biblography card से अतिरिक्त होना है। इस का लाभ इस में है कि प्रत्येक सूक्ष्म खण्ड से सम्बद्ध बिखरी हुई सामग्री का उल्लेख एक स्थान पर ही हो जाता है। उदाहरणार्थ ऋ का मध्यकालीन आर्य भाषा में क्या रूप है ? इस विषय की Sheet पर मध्यकालीन आर्य भाषाओं पर पढ़ते समय, समय समय पर पुस्तक नाम, लेखक तथा Section संख्या लिखते गए। पुस्तक तो मिलने पर पढ़ी जाएगी और तभी Notes बनेंगे। उसका Bibliography card एक ही बनेगा किन्तु इस सब के पूर्व उस का उल्लेख यदि पृथक् पृथक् हो चुका है तो पृथक् पृथक् विषय पृष्ठों पर हो जाएगा।

डॉ० सत्येन्द्र

रेखांकन-चित्रण तथा रूपरेखा-विधान

इस विदग्ध गोष्ठी का महत्त्व

यह बड़ी प्रसन्नता की बात है कि हमने जिस सेमीनार की हिन्दी विद्यापीठ की ओर से आयोजना की है वह १८ तारीख से चलकर आज तक एक प्रकार से नियमित रूप से होती रही है, और उसमें हमने बहुत काफी कार्य संपन्न कर लिया है। कितने ही लोगों की दृष्टि में यह सेमीनार काफी सफल रही है? इसकी वास्तविक सफलता तो आगे चलकर ही प्रतीत होगी जब कि इसका समस्त भाषण-संग्रह प्रकाशित होगा। इसमें आज तक जिन लोगों ने भाषण दिये हैं, उनके वे सब भाषण जब ग्रंथ के रूप में प्रकाशित होकर आयेंगे तो मैं समझता हूँ, कि वे अनुसंधान की टेकनीक में शास्त्रीय दृष्टि प्रस्तुत करने की दृष्टि से हिन्दी के क्षेत्र में ही नहीं, वरन् मैं समझता हूँ, कि सभी भारतीय भाषाओं के क्षेत्र में पहिले कदम के रूप में माने जायेंगे, और मील के पत्थर की तरह से यह संग्रह हिन्दी के क्षेत्र में काम करेगा। साथ ही हम लोग भी इस गोष्ठी में उपलब्ध स्तर से और भी आगे बढ़कर भविष्य की अपनी गोष्ठियों का स्तर बना सकेंगे।

आज सर्वत्र अलग-अलग स्वच्छन्द रूप से अपने-अपने मन के अनुकूल चाहे जिस प्रकार से अनुसंधान-कार्य करने की प्रणाली दिखलायी पड़ती है, इससे एक अवाञ्छ-नीय अराजकता आ गयी है। हमारा यह उद्योग उसे कुछ अनुशासित कर सकेगा, ऐसी संभावना असमीचीन नहीं मानी जा सकती। हमारा यह प्रयोग सर्वथैव नवीन है, अभी तक इस प्रकार का प्रयोग कहीं भी किया ही नहीं गया था। केवल दिल्ली विश्वविद्यालय ने 'अनुसंधान का स्वरूप' नामक पुस्तक प्रकाशित करके अनुसंधित्सुओं को कुछ सामान्य सहायता का मार्ग खोला था। फिर भी हम समझते हैं कि अभी तो हम लोगों का यह आरंभिक आयोजन भी काफी सीमा तक एक देन कहा जा सकेगा, और निश्चित रूप से इसके द्वारा कुछ-न-कुछ प्रगति अनुसंधान के स्थिरीकरण में होगी। हस्तलिखित ग्रंथों के पढ़ने में सहायता मिल सके, इसके लिए एक अक्षरावली भी इसमें देने की चेष्टा की जायगी। कुछ ऐसे ग्रंथ हैं जो ग्रंथों के समय के निर्धारण में हमको सहायता पहुँचाते हैं, उन ग्रंथों का भी

इसमें उल्लेख कर दिया जायगा, और मोटे रूप से उन सिद्धान्तों का भी वर्णन कर दिया जायगा, जिनसे कि काल-निर्णय में हमको सुविधा हो सकती है। वस्तुतः यह एक बड़ी कठिन समस्या हुआ करती है। तो ऐसी और भी जो आवश्यक सामग्रियाँ होंगी, जिनको कि हम समझते हैं कि परिशिष्ट की भाँति देना चाहिए, वे इसमें दी जायगी। अतः मे समझता हूँ, कि यह ग्रंथ इस दृष्टि से काफी उपयोगी हो जायगा। अब यह जो हमारे यहाँ रिसर्च करनेवाले अनुसंधाता हैं—आशा तो हम यह करते थे कि जितने भी पुराने अनुसंधाता हैं, उनके अनुसंधान का विवरण हमें प्राप्त हो जायगा, लेकिन ऐसा नहीं हो सका है। केवल नौ अनुसंधित्सुओं ने ही अपने अनुसंधान की प्रगति के विवरण भेजे हैं। हम यह भी उनसे चाहते थे कि प्रगति के विवरण के साथ वे अपनी कठिनाइयों पर भी अपने विचार लिखकर भेजें, जिससे यहाँ के विद्वानों से परामर्श करके वे कठिनाइयाँ दूर की जा सकें। अब तो निजी रूप से निर्देशक ही उन कठिनाइयों के सम्बन्ध में प्रकाश डाल सकते हैं। यों तो विश्वविद्यालय की दृष्टि से एक ऐसा व्यक्ति होना ही चाहिए जो अनुसंधान का निर्देशक कहला सके; वह उसकी छोटी-मोटी बातों में सहायता देता रह सकता है, किन्तु हिन्दी इन्स्टीट्यूट में प्रवेश पानेवाला अनुसंधित्सु यहाँ के समस्त विद्वान-वर्ग का या अध्यापक वर्ग का जिज्ञासार्थी होता है। अतः यहाँ विद्यापीठ में जो विद्वान हैं, उन विद्वानों के पास, जो कुछ भी उनका अर्जित ज्ञान है उसको प्राप्त करने का एक प्रकार से उसका अधिकार है। इस अधिकार का उपभोग किस विधि से हो? हमारा विद्वत्मंडल अनुसंधाता के शोध के अंशों को देखें और वैज्ञानिक दृष्टि से और यथार्थ सारस्वत (एकाडमिक) दृष्टि से उसकी आलोचना करके बताएं कि उस शोध-अंश में क्या सार है और क्या असार है। जब तक कि ठीक तरह से यह न बताया जायगा तब तक शोध में जो दोष दिखायी पड़ते हैं वे दूर नहीं हो सकते। शोध में सार और असार को, चावल और भूसी को अलग-अलग करने का प्रयास तब तक सफल नहीं हो सकता जब तक कि इस प्रकार की विदग्ध गोष्ठियों का आयोजन नहीं किया जायगा। अपने यहाँ अभी तक वह प्रणाली नहीं थी। किन्तु अन्यत्र यह सारस्वत परंपरा है। एक घटना भी मेरे सामने आई है। मेडीकल साइंस में एम० डी० के लिए जो रिसर्च कार्य होता है उसमें अनुसंधाता से यह अपेक्षित होता है कि किसी एक प्रामाणिक रिसर्च जर्नल में उसके एक-दो रिसर्च पेपर्स या उसके शोध-प्रबंध के अंश प्रकाशित हो चुके हों। ऐसे रिसर्च-जर्नलों में तत्संबंधी विषय के निष्णात विद्वान लोगों का एक समूह होता है। जो रिसर्च-पेपर (शोध-निबंध) उस पत्र में प्रकाशित होने जाते हैं, उन्हें वे विद्वान आदि से अन्त तक पूरी तरह संशोधन करके ठीक करते हैं। वे बता देते हैं कि इसमें किस-किस प्रकार की कमी वैज्ञानिकता की दृष्टि से है। कहाँ क्या जोड़ना और घटाना चाहिये? वे यह भी बता देते हैं कि उस निबंध से ज्ञान-वर्द्धन में क्या योग मिल सकेगा? इस प्रकार वह विद्वन्मण्डल उस निबन्ध का संशोधन कर, फिर उसे अनुसंधाता के पास उसकी स्वीकृति के लिए भेजता है। इसके लिए कोई शुल्क नहीं लिया जाता। वह अनुसंधाता उन संशोधनों के अनुसार उसे ठीक करके यदि पुनः भेज देता है तो वह निबंध प्रकाशित कर दिया जाता है। इस प्रणाली

से कितना लाभ होता है। अनुसंधाता रिसर्च-पेपर को प्रस्तुत करने का ढंग इस प्रकार साक्षात् विधि से जान जाता है। यह संभवतः अमरीका की बात है। अमरीका धनाढ्य देश है। वहाँ पर ऐसे विद्वानों को ऐसे कार्य के लिए ही रखा जा सकता है। किन्तु भारतवर्ष में यह अभी संभव नहीं है। इसलिए ऐसी संस्थाओं के द्वारा जो विश्वविद्यालय की संस्थाएँ हैं, यह कार्य सम्पन्न कराया जा सकता है। तो तात्पर्य यह है कि इस प्रकार का भी कार्य हम करना चाहते हैं। हम चाहते हैं कि आज विधिवत् हम यह कार्य कर सकें। इसके लिए हम लोगों को समय और सुविधा भी हो और जो हमारे विद्वान हैं उनका यहाँ महत्व समझा जाय तो ऐसा कार्य संभव हो सकता है। सैमीनार मे वह कार्य सामाधानिकाओं के द्वारा किया जा सकता है। अगली बार सैमीनार में हम समझते हैं कि इस पक्ष पर विशेष जोर दिया जायगा। अब विविध अनुसंधाताओं ने अपने अनुसंधान में जो प्रगति की है, यहाँ उसका संक्षेप में परिचय दिया जाता है।

शोध-विवरण

(एक) डिंगल का गद्य साहित्य—(दूसरा) रामानन्दी सम्प्रदाय। (तीसरा) नाम माला। (चौथा) ब्रज की संस्कृति और कृष्ण। (पांचवाँ) १५वीं से १७वीं शताब्दी के काव्य रूप। (छठवाँ) बुलंदशहर का लोक-साहित्य—इन पर जो शोध कर रहे हैं उनके विवरण हमारे पास आए हैं। आरंभ की दो रिपोर्टों से विदित होता है कि उन अनुसंधाताओं ने क्या-क्या कार्य किया है? यह बात अवश्य विदित होती है कि ये बहुत ईमानदारी से काम कर रहे हैं, ये अनेक स्थानों पर बाहर भी भ्रमणार्थ गये हैं। जहाँ-जहाँ भी इनको सामग्री प्राप्त हो सकती है वहाँ-वहाँ से इन्होंने वह सामग्री प्राप्त करने की पूरी-पूरी चेष्टा की है। जो कार्य यहीं विद्यापीठ में रहकर किये जा रहे हैं उन सभी में काफी प्रगति हुई प्रतीत होती हैं। जैसे '**नाम माला**' पर जो काम हो रहा है उसमें कुछ ही महीनों में १७४०० शब्दों के कार्ड तथा २४०६६ शब्दों के कार्ड तैयार हुए और वह अकारादि क्रम से व्यवस्थित भी कर लिये गये हैं। और वह हस्तलिखित ग्रंथों के आधार पर किये गये हैं, जिन्हें पढ़ने में समय-समय पर इनको कठिनाई भी पड़ती रही है। इसी प्रकार से **मीरा** पर जो कार्य हो रहा है वह कार्य सामग्री-संकलन की स्थिति तक सब पूरा हो चुका है। इसमें से दो अवतरण यहाँ सुना देना चाहता हूँ। 'मीरा के समस्त पदों को केन्द्रीय भाव के अनुसार छांटकर निम्न वर्ग बनाये गये हैं। नाम, रूप, लीला, गुण, भक्ति, भजन, सत्संग, शरण, तीर्थ, वैराग्य, कथा-प्रसंग, संयोग, वियोग, प्रेम, पति, भोग, साधु-संत, गिरिधर नागर आदि। इस निबन्ध में इन वर्गों के स्रोतों की तलाश भी की गयी हैं, फिर अपने पद-संग्रह में उन्होंने ११ स्रोतों से जितने भी मीरा के नाम से प्रचलित पद मिलते हैं उन सब को सम्मिलित किया है। इस पद-संग्रह के अनुसार मीरा द्वारा प्रयुक्त प्रत्येक शब्द के कार्ड बनाये हैं, जिनकी कुल-संख्या ५६, ४३५ है। यानी ५६, ४३५ शब्द मीरा के पदों में हैं, उन पदों में जो अब तक मीरा के नाम से मिलते हैं। ये कार्ड बन जाने के उपरान्त कुल शब्दों को कोश की भाँति अकारादि क्रम से छाँटकर पृथक-पृथक कर लिया गया है। उसमें अपने संग्रह की पद-संख्या तथा अन्य संग्रहों की पृष्ठ-संख्या आदि का उल्लेख कर उनकी पृथक-पृथक कुल संख्या का भी निर्देश

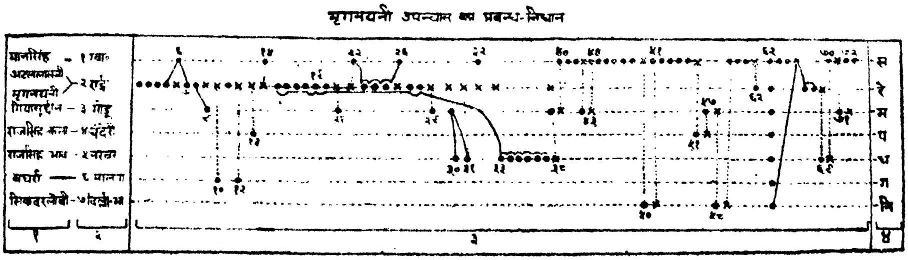
कर दिया गया है, इस प्रकार से इन कार्डों से छँटकर जो कुल शब्द संख्या इन पदों में मीरा के द्वारा प्रयुक्त मिलती है, वह है १४, ४२३, मीरा ने कुल १४, ४२३ शब्दों का प्रयोग किया है। इनका अध्ययन चल रहा है। तो मैंने संक्षेप में आपको यह ब्यौरा देकर सूचना देने की चेष्टा की है कि जो अनुसंधान का विवरण प्राप्त हुआ है उससे यह विदित होता है कि कार्य काफी गहराई से और पूरे परिश्रम से तथा वैज्ञानिक प्रणाली से किया जा रहा है। एक थीसिस अपने यहाँ से प्रेषित की जा चुकी है। यह लिंग्युस्टिक्स संबंधी श्री कैलाशचन्द्र भाटिया जी की है और एक दूसरी करीब-करीब तैयार है, टाइप के लिए दे दी गयी है। यह भी लिंग्युस्टिक्स की है। एक है बनारसीदास जैन पर, यह भी तैयार है। और दो तीन और भी करीब-करीब तैयारी पर आ गयी हैं। मैं समझता हूँ कि ये सभी इस वर्ष में तैयार होकर आ जायेंगी। अब कुछ और बातें हैं जिनके सम्बन्ध में यहाँ चर्चा करना चाहता हूँ। एक तो यह है कि सहायक पुस्तकों की सूची में, संभवत: कल डा० हर्ष जी ने भी इसे बताया होगा कि जहाँ पुस्तक-विषयक अन्य सूचनाएँ आप लिखें, वहाँ यह भी उल्लेख करें कि वह पुस्तक आपको कहाँ से प्राप्त हुई ? इस स्रोत का भी उल्लेख होना चाहिए। अगर वह आपने पुस्तकालय से लेकर पढ़ी है तो पुस्तकालय के नाम का संकेत कर के उस पुस्तकालय की उस पुस्तक की संख्या भी आप के पास रहनी चाहिए और उस सूची में उसका भी उल्लेख किया जाना चाहिये क्योंकि इससे कई लाभ हैं। एक उपयोग तो यह भी है कि जब आप को स्वयं भी उस पुस्तक को देखने की पुन: आवश्यकता पड़ेगी तो आप वहाँ से उसी पुस्तक को फिर आसानी से प्राप्त करके देख सकेंगे। अत: यह मेरा एक विनम्र सुझाव है। मैं समझता हूँ कि उपयोगिता की दृष्टि से यह सभी को उपयोगी सिद्ध होगा कि उस पर पुस्तकालय की संख्या का भी निर्देश रहना चाहिए और जब आप अपनी थीसिस प्रेषित करें तो उसके अन्त म जहाँ पुस्तकों की सूची देते हैं, उसमें भी पुस्तकालयों की संख्या का उल्लेख कर दें। इस प्रणाली से यह भी शायद प्रमाण मिल जायगा कि इस अनुसंधाता ने सचमुच इस पुस्तकालय से लेकर वह पुस्तक पढ़ी होगी। लेकिन इससे भी अधिक उसका मूल्य इस बात में है कि आपकी थीसिस के पाठकों की भी परेशानी कम हो जायगी, क्योंकि अनुसंधाता का कर्तव्य यह भी है कि वह आगे पढ़नेवालों का मार्ग भी सुगम करता चले। अभी तक जिस रूप में पुस्तक-सूची (Bibliography) दी जाती है, उससे पुस्तक तथा लेखक, प्रकाशक के नाम, संस्करण आदि का पता तो चल जाता है पर बहुत सी पुस्तकें अलभ्य होती हैं। चाहे जिस पुस्तकालय में वे प्राप्त नहीं हो पातीं। अत: उस पुस्तक के उस संस्करण की खोज में बेचारा अनुसंधाता लाइब्रेरियों को लिखता है, दूसरा पचासों पुस्तकालयों में भटकता फिरता है, फिर भी पुस्तक प्राप्त नहीं हो पाती। यदि आपने उसमें पुस्तकालय और उसकी पुस्तक-संख्या का उल्लेख कर दिया तो उसकी सहायता से चट से एक बार में ही उसकी सारी समस्या हल हो जायगी, और समय तथा श्रम की बचत होगी। अनुसंधान में इस बचत का बहुत मूल्य है। एक अनुसंधाता को खोजने में जो समय लगा, उसी को खोजने में दूसरे को भी उतना ही

समय लगे तो अनुसंधान का धर्म भ्रष्ट हो जाता है। पूर्ववर्ती अनुसंधाता को आगामी अनुसंधाताओं के ऐसे व्यर्थ श्रम को बचाने की दृष्टि रखनी चाहिये। तो यह विधि बहुत उपयोगी होगी। मैं चाहता हूँ कि हमारी इंस्टीट्यूट से रिसर्च करनेवाले इतना परिश्रम अवश्य करें कि वे पुस्तकालय की पुस्तक संख्या भी दें, और उस स्रोत का भी उल्लेख कर दें कि वह पुस्तक उन्हें कहाँ से प्राप्त हुई।

रेखांकन-गणितन-चित्रण

दूसरी बात जिस पर मैं बल देना चाहता हूँ वह यह है कि थीसिस को प्रस्तुत करने में हम किसी बात को समझाने के लिए जितना भी अधिक ग्राफ (रेखांकन) और (तालिका) चार्ट का उपयोग कर सकें उतना ही अच्छा है। ग्राफ एवं चार्टों का ही नहीं गणितीय दृष्टि का भी हमें अपने अनुसंधानों में ध्यान रखना चाहिए। साहित्य के अन्दर उसकी आवश्यकता है। और मैं क्षमा चाहता हूँ कि मुझे अपनी सुविधा के लिए एक बहुत महत्त्वपूर्ण बात प्रस्तुत करने के लिए उदाहरणार्थ अपनी ही एक पुस्तक का उल्लेख करना पड़ रहा है। "मृगनयनी में कला और कृतित्व" शीर्षक पुस्तक में केवल उसके प्रबन्ध-विधान को समझाने के लिए एक रेखन (ग्राफ) दिया गया है। किस अध्याय में क्या है? कौन है? इसी को एक ग्राफ के रूप में प्रस्तुत करके कितने ही उपयोगी निष्कर्ष प्रस्तुत किये जाते हैं। कौन सा पात्र किस अध्याय में आता है फिर उसके बाद किस अध्याय में आता है? उसके बाद किस अध्याय में आता है? उसमें जो इतना व्यवधान होता है, उसके पीछे कोई मानसिकता अवश्य होनी चाहिए। उनके बीच में जो पात्र आते हैं, उनमें वे क्यों और किस रूप में आते हैं? ये सब बातें जब तक कि आप एक अध्याय-क्रम से चार्ट या ग्राफ बनाकर प्रस्तुत न करेंगे तब तक स्पष्ट नहीं हो सकेंगी। फिर उसके आधार पर उनका रेखन (ग्राफ) भी बना सकते हैं। एक उपन्यास के सम्बन्ध में भी इस प्रकार की टेक्नीक का उपयोग किया जा सकता है, यह ग्राफिंग और चार्टिंग बहुत उपयोगी और बहुत लाभदायक होती है। क्यों कि उसके बहुत से तथ्य उसके द्वारा सफलता पूर्वक हमारे सामने निकल आते हैं। मृगनयनी उपन्यास के लिए यह रेखन (ग्राफ) दिया जा सकता है।

मृगनयनी उपन्यास का प्रबन्ध-विधान



इस रेखन को प्रस्तुत करने के लिए पहले तो यह छाँट लिया गया कि समस्त कथानक किन-किन स्थानों से संबंधित है। ऐसे ७ स्थान छाँटे गये हैं। उन स्थानों में कथा-प्रसंग के प्रमुख पात्रों को भी छाँट लिया गया है। सात स्थानों से संबंधित कथा-प्रसंगों के पात्रों को पहले फिर स्थानों को क्रमात् लिखकर प्रत्येक के सामने एक रेखा खींच दी गयी है। इन रेखाओं पर बिन्दु जड़े गए हैं। ये बिन्दु ७३ हैं, ये उपन्यासों के अध्यायों का निर्देश करते हैं। जिस स्थान की रेखा पर बिन्दु है, उस बिन्दु को संख्यावाले अध्याय में उसी स्थान का कथा-प्रसंग उन पात्रों की प्रमुखता के साथ आया है। इस रेखन से उपन्यास का समस्त विधान स्पष्ट हो जाता है। और ध्यानपूर्वक देखने से अन्य अनेक निष्कर्ष भी स्वयमेव इस रेखन से प्रादुर्भूत हो जाते हैं। यदि यह रेखन दिया तो यह भी प्रमाणित हो उठेगा कि अनुसंधाता ने उपन्यास को वैज्ञानिक विधि से देखा है। इससे प्रबंध का गौरव भी और शोभा भी बढ़ेगी। इसी प्रकार कवि के समस्त कृतित्व का भी अध्ययन के लिए रेखन का उपयोग किय जा सकता है।

ऐसे ग्राफ या रेखन को देखकर सहज भाव से कितनी बहुत सी गंभीर बातें प्रस्फुटित हो उठती हैं जो सामान्यत: योंही नहीं सूझतीं। इनसे अनेकों भ्रान्त धारणाएँ दूर भी हो जाती हैं, क्योंकि यह तो वैज्ञानिक-क्रम से तथ्य को प्रस्तुत करती है। इससे उद्‌भूत निष्कर्ष अप्रमाणिक नहीं हो सके।

यह तो एक प्रकार से गाणितीय रेखन हुआ। किन्तु सामान्य रेखा-चित्रण भी उपयोगी होता है। इसका प्रधान उपयोग तो किसी सूक्ष्म कथन या तत्व की मूर्त-कल्पना का चित्र प्रस्तुत करके समझाने के लिए होता है। फिर भी जहाँ इससे बहुत सी न समझ में आनेवाली सूक्ष्म बातें सरलता से हृदयंगम हो जाती हैं, वहाँ बहुत सी अन्य बातें भी स्पष्ट हो जाती हैं, तथा दो चीजों के तुलना-पूर्वक अध्ययन का तो यह अनुपम मार्ग है।

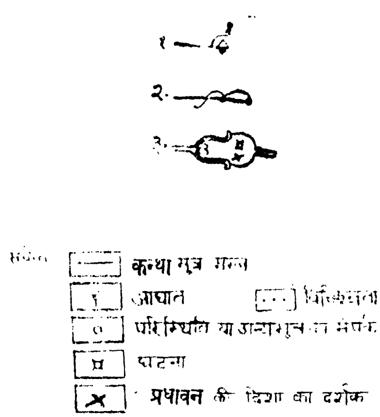
उदाहरण के लिए प्रेमचन्द की कहानियों में ढर्रे का भेद समझाने के लिए कुछ कहानियों के ढर्रों का यों विवरण दिया जाय कि—

एक ढर्रा—व्यक्ति को एक बात में आस्था है, वह उसे अपनाये चला जा रहा है। एक आघात से उसका भ्रम भंजन हो जाता है, वह उसे त्याग देता है! परिणाम-स्वरूप उसे कहीं अन्यत्र से उसका पुरस्कार मिलता है। उदाहरण-पुरस्कार, लाल झंडी, और बैंक का दिवाला।

दूसरा ढर्रा—व्यक्ति सीधे-सच्चे मार्ग पर है, परिस्थितियों का पूरा दबाव पड़ता है, वह अटल रहता है, अन्त में परिस्थितियों का मूल सूत्रधार उसकी ओर झुककर उसको पुरस्कृत करता है, उदाहरण 'नमक का दारोगा'।

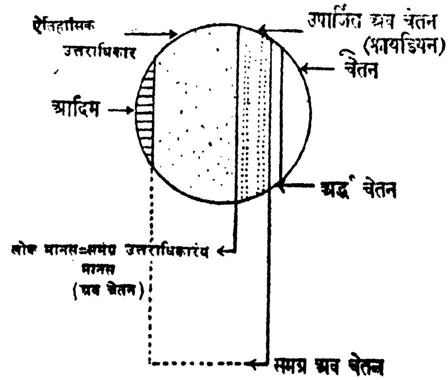
तीसरा ढर्रा—कथा-सूत्र सीधे सच्चे मार्ग पर चल रहा है। एक घटना से संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। सूत्र विभाजित होकर एक दूसरे से भिन्न दिशाओं में प्रधावित होता है। विरोध बहुत बढ़ा कि फिर एक घटना और फिर दोनों पूर्व स्थिति को प्राप्त हो गये।

यदि इन्हें निम्नस्थ तीन रेखा-चित्रों से भी सज्जित कर दिया जाय तो तुलना का मर्म कितनी सहज प्रणाली से हृदयंगम हो सकता है:—

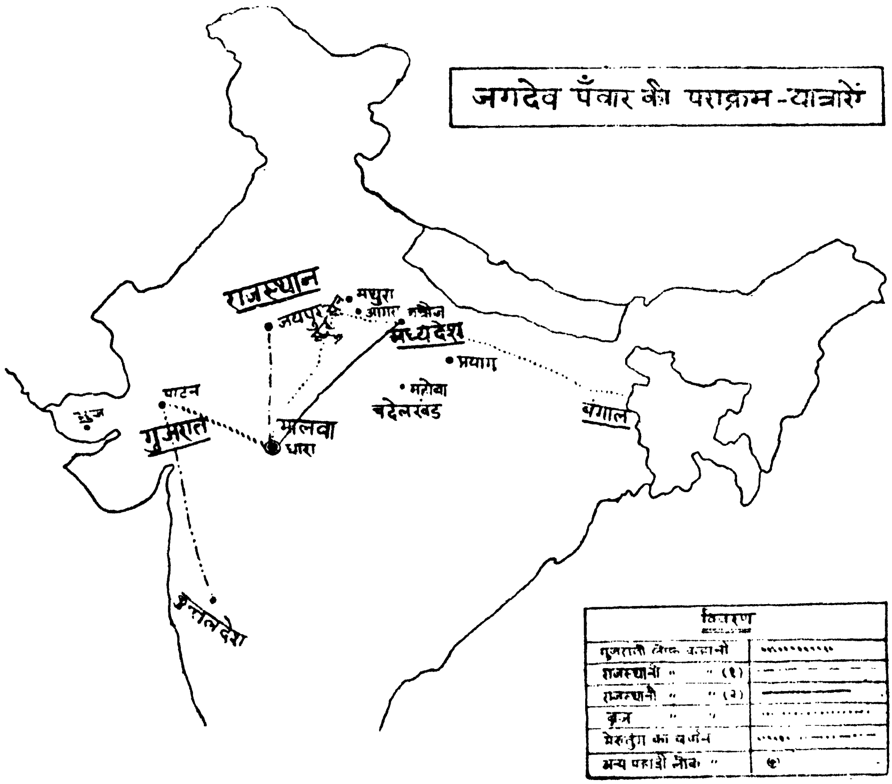


ये रेखा-चित्रण कहानियों की टेकनीक की भिन्नता को असंदिग्ध रूप से स्पष्ट कर देते हैं।

ऐसे ही लोक-मानस की मस्तिष्कीय स्थिति को स्पष्ट करने के लिए यह चित्र एक प्रबंध में दिया गया है।



भौगोलिक बातों का स्पष्टीकरण तो बहुत ही आसानी से चित्र-रेखाङ्कन से होता है। जगदेव नामक एक लोक-नायक की कथाओं के आधार पर उसकी विविध यात्राओं का भौगोलिक चित्र दे दिया जाय तो बहुत उपादेय रहता है।



तालिका संघटन

तालिकाओं और संख्याओं का भी ऐसा ही चमत्कारक उपयोग किया जा सकता है। मान लीजिये आप आधुनिक साहित्य विषयक अनुसंधान का विवरण दे रहे हैं तो उसकी तालिका बनाकर वर्ग-विषय भर सकते हैं। जैसे :—

आधुनिक साहित्य पर प्राप्त उपाधियों का विषय-विभाजन।

सं० १६०० से............

साहित्य सामान्य	व्यक्ति	काव्य	गद्य सामान्य	उपन्यास	नाटक	कहानी	निबन्ध	जीवनी	गद्य काव्य	आलोचना	समाचार पत्र	काव्य शास्त्र अलंकार पिंगल आदि	कुल योग
१४	४	२२	१	३	६	२	१	१	२	५	१	१	६६

वंश वृक्षण —'वंश-वृक्षण' प्रणाली भी बहुत उपयोगी है। इसका तो सामान्यतः उपयोग भी बहुत होता रहा है।

इस प्रकार कितनी ही विधियों से गणित, रेखा, रेखा-चित्रण, तालिका वंश-वृक्षण आदि द्वारा विषय को प्रेषणीय, संक्षिप्त, प्रभावोत्पादक, प्रेरणीय, तथा सज्जा-शोभा मय बना सकते हैं। इनसे प्रबंध में प्रामाणिकता भी आती है, और वह आकर्षक भी बनता है। इन विधियों का हमें अपने प्रबंधों में अधिकाधिक उपयोग करना चाहिये।

आप लोग इस बात की चेष्टा करे कि जहाँ आप अपने अध्ययन में प्रवृत्त हों और थीसिस लिखने की चेष्टा करें, वहाँ यह देखें कि जिस भाव को भी आप चार्ट के द्वारा हृदयंगम करा सकते हैं, जिसको आप रेखा-चित्रों के द्वारा हृदयंगम करा सकते हैं, ग्राफ के द्वारा हृदयंगम करा सकते हैं, उसके लिए इनका उपयोग करें और स्वयं अपने अध्ययन की सुविधा के लिए भी ग्राफ आदि का उपयोग करें तथा प्रामाणिक बनायें। कोई भी सचाई केवल अनुमान से नहीं कही जानी चाहिए, उसको ठीक-ठीक तरह से विश्लेषण पूर्वक जानना चाहिए। मेरा यह इस सम्बन्ध में एक निवेदन है। अब एक विषय रह गया था।

विषय निर्वाचन और रूपरेखाएँ

सौभाग्य से या दुर्भाग्य से द्विवेदी जी को (द्विवेदी जी सौभाग्य समझ सकते हैं अपनी दृष्टि से, उनको यहाँ से छोड़कर ऐडमिनिस्ट्रेटिव सर्विस में चले जाना पड़ा, और हम लोग अपने लिए दुर्भाग्य समझते हैं कि इतने अनुभवी हमारे साथी और विद्वान्, जो हम लोगों के साथ काम कर रहे थे उनको) हमें छोड़ कर जाना पड़ा। उनका ही यह विषय था। "विषय-निर्वाचन और सिनोपसिस तैयार करना", रूप-रेखा तैयार करना। यह विषय उनकी अनुपस्थिति के कारण छुआ नहीं जा सका। यह विषय यथार्थतः तो द्विवेदी जी के द्वारा ही प्रतिपादित होना चाहिये था। किन्तु परिस्थिति वश ऐसा न हो सकने पर अब मैं उस विषय का प्रतिपादन नहीं, उस विषय पर जो मेरा अभिमत है केवल उसी को आपके सामने रख रहा हूँ। और वह यह है कि विषय का निर्वाचन वास्तव में एक कठिन समस्या है। फिर भी विषय-निर्वाचन करना ही होता है। अतः इसमें पहले तो अनुसंधाता को यह प्रयत्न करना चाहिये कि वह अपनी रुचि की तलाश करें। हमारी रुचि किधर है? लेकिन सबसे बड़ी कठिनाई रुचि को पहिचानने में ही तो होती है। क्योंकि जो एम० ए० करके विद्यार्थी आते हैं, वे अपनी कोई रुचि नहीं बना पाते। कुछ तो अवश्य ऐसे होते हैं जिनको लेखन का या किसी विशेष प्रकार का चाव हो जाता है। उस लेखन या व्यसन की दृष्टि से उन्हें कुछ विशेष पढ़ना पड़ जाता है। लेकिन जो केवल परीक्षा की दृष्टि से पढ़ते हैं और केवल परीक्षामात्र का ही जो पाठ्यक्रम है उसी पर निर्भर करते हैं, वे प्रायः अपनी रुचि को तलाश नहीं कर पाते। तो सबसे पहिली बात तो यही है कि हम अपनी रुचि को जानें। तब अपनी रुचि को जानकर तद्विषयक बड़े से बड़े क्षेत्र से विषय की कल्पना शुरू करके बड़े से बड़ा विषय चुन लें। फिर उस पर विचार-विमर्श करते-करते उसे छोटे से छोटा करें। हम उसे जितना छोटे से छोटा कर सकें

उतना छोटे से छोटा उसे बनायें । पर यह बात हमें ध्यान में रखनी चाहिए कि वह इतना छोटा भी न हो जाय कि उस विषय पर हमें समुचित सामग्री ही न मिल सके । तो पहिले रुचि, फिर उसको छोटा करके छोटे से छोटे विषय पर जिस रूप में भी अधिक से अधिक सामग्री मिल सकती है, उसको सामने रख कर तब हम अपना विषय निर्वाचित करें । विषय-निर्वाचन मे निश्चित रूप से निर्देशक की सलाह लेना अत्यन्त आवश्यक है । क्यों कि वैसे तो विषय अनुसंधित्सु की दृष्टि से ही उसकी रुचि, योग्यता और क्षमता को ध्यान में रख कर प्रधानतया चुना जाना चाहिए फिर भी अनुसंधित्सु बिल्कुल एक प्रकार से नौसिखिया ही होता है, उसको आगे की कठिनाइयों का, और आगे के मार्ग का कुछ ज्ञान नहीं होता, इसलिए यह आवश्यक है कि जो निर्देशक है उसका भी परामर्श उसको मिले । विषय का प्रारंभिक सुझाव प्रस्तुत हो जाने पर, यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसे अन्तिम निर्णय की कोटि में लाने से पूर्व दो काम और किये जायें । एक तो उस विषय के अब तक के अध्ययन का इतिहास प्रस्तुत किया जाय । अब तक उस विषय पर कितना और क्या अध्ययन हो चुका है यह इतिहास क्रम से प्रस्तुत किया जाय । उस पर जो ग्रंथ और निबंध या लेख लिखे गये हों उन सबकी तालिका और सार प्रस्तुत करके यह देखा जाय कि जो विषय लिया जा रहा है, उससे पूर्व के कृतित्वों की क्या देन रही है, और यह नया विषय अपने अनुसंधान में किस देन की संभावना रखता है । दूसरे यह देखा जाय कि विश्वविद्यालयों में उस विषय पर कार्य तो नहीं हो चुका है । हम लोग विश्वविद्यालयों के लिए रिसर्च करते हैं, और विश्वविद्यालयों में विषय निर्धारित हो जाते हैं और अनेकों विषयों पर अब तक अनुसंधान हो चुका है । अनेक पर हो रहा है । विश्वविद्यालयों के अध्यापक लोग तो यह कह सकते हैं कि अब विषय रह ही नहीं गया है क्योंकि सभी विषय समाप्त हो गये हैं । लेकिन मैं इस दृष्टि से सहमत नहीं हूँ । विषय हमारी बाट जोह रहे हैं । केवल आवश्यकता इस बात की है कि हम उस पैनी दृष्टि से उस क्षेत्र को देख सकें और यह समझ सकें कि कौन सी बात है जो अभी नहीं की जा चुकी है । तो हम विषय चुनने के समय जहाँ क्षेत्र को देखें, वहाँ यह भी देखें कि किस रूप का अध्ययन-अनुसंधान करें । रूप के सम्बन्ध में भी अध्ययन हो सकता है । और रूप के साथ उसके किसी अंग विशेष का भी हो सकता है, साहित्य-शास्त्र की दृष्टि से भी हो सकता है । साहित्य शास्त्र में जो भाव है उनकी दृष्टि से हो सकता है । भाव में जो कला है उसकी दृष्टि से उनका अध्ययन हो सकता है । प्रत्येक अध्ययनीय विषय के भी अंग होते हैं, उन अंगों पर भी काम हो सकता है और उनका एक ऐतिहासिक अध्ययन तथा उनका विवरणात्मक और प्रवृत्ति-गत अध्ययन भी हो सकता है । इस प्रकार से इन विषयों के चुनने में हम अपनी दृष्टि और रुचि का उपयोग कर सकते हैं । एक विषय पर एक दृष्टि से काम हुआ हो तो हो सकता है दूसरी दृष्टि से न हुआ हो । मान लीजिए कि तुलसीदास के शब्द-कोष पर तो काम हो चुका है पर तुलसीदास की शब्द-योजना पर तो विचार नहीं हुआ है । किस शब्द का तुलसीदास ने कहाँ-कहाँ किस दृष्टि से उपयोग किया है यह अनुसंधान के लिए एक अछूता विषय हो सकता है । फिर तुलसीदास पर न ध्वनि की दृष्टि से, न वाक्य-योजना या रस-योजना की दृष्टि से अध्ययन हुआ है । ऐसे अध्ययन होने चाहिए । ऐसे

अनेकों क्षेत्र हैं जिन पर कि गौर किया जाय तो अनेकों विषय मिल सकते हैं। तो विषय-निर्वाचन में हताश होने की बात नहीं है। इन सबके होते हुए यह भी जरूरी है कि प्रत्येक अनुसंधान के लिए जो कुछ फील्ड-वर्क अपेक्षित होता है, उस की भी पहिले से ही कल्पना कर ली जाय। फील्ड-वर्क के बहुत से कार्य हमारे सामने पड़े हुए हैं लेकिन यहाँ पर जो विद्यार्थी आता रहा है वह कहता रहा है कि हमें ऐसा विषय दीजिये जिसमें फील्ड-वर्क न करना पड़े। यह तो मैंने पहिले भी बतलाया था, यहाँ भी बतलाता हूँ कि कोई भी विषय हो उसमें फील्ड-वर्क कुछ न कुछ करना ही पड़ जाता है। ऐसा विषय नहीं मिलेगा, जिसमें किसी न किसी प्रकार का फील्ड-वर्क न करना पड़े। लेकिन फील्ड-वर्क के भी इस प्रकार से प्रकार हो जाते हैं। एक तो ऐसा फील्ड-वर्क होता है कि किसी पुस्तक को देखने के लिए बाहर कहीं किसी पुस्तकालय में जाना पड़ता है। किसी विद्वान से इस सम्बन्ध में मिलना पड़ रहा है। लेकिन जिसे यथार्थ फील्ड-वर्क कहते हैं वह यह है कि फील्ड में जो बिखरा हुआ दाना पड़ा हुआ है उसको एक एक करके चुना जाय जैसे कि लोक-साहित्य-सम्बन्धी, और भाषा-सम्बन्धी है, बोलियों सम्बन्धी है। इस प्रकार के फील्ड-वर्क के काम के विषय के क्षेत्र भी बहुत खाली पड़े हुए हैं और उन पर अभी बहुत कम काम हुआ है। अब लोग इस क्षेत्र की ओर झुके हैं। यह तो हुई विषय के निर्वाचन की बात। इस के साथ रूप-रेखा बनाने का प्रश्न हमारे सामने आता है। रूप-रेखा-निर्माण करना बहुत ही महत्वपूर्ण चीज है। और इसमें यह ध्यान रखना चाहिए कि रूप-रेखा ठीक बने। क्यों कि यदि रूप-रेखा गलत बन जाती है तो आगे चलकर बहुत परेशानी हो जाती है। एक अनुसंधित्सु को केवल एक शब्द के ही कारण परेशानी हो रही है। एक शब्द था 'कृष्ण लोर'। उसका अनुवाद एक ने किया—'वार्ता' और एक ने 'आख्यान' सुझाया। एक ने कुछ और सुझाव दिया। अब वह इसी में परेशान है कि वार्ता या आख्यान या क्या? और बहुत आगे चलकर जब बहुत काम हो चुका तब यह समस्या उनके सामने आयी कि आख्यान की बात रखें कि वार्ता की बात रखें? उन्हें काफी उलझन हुई। इस उलझन में उनका काफी समय बीता। इससे स्पष्ट हुआ कि कठिनाई एक शब्द के कारण भी आगे चल कर उठ खड़ी होती है। कभी ऐसा होता है कि विषय की रूपरेखा बना ली गयी, वह रूप-रेखा स्वयं अच्छी तरह से समझी नहीं, दूसरे किसी व्यक्ति से बनवायी। फलतः अब यह परेशानी हुई कि उक्त रूप-रेखा में अमुक बात का क्या मतलब है। कठिनाई यहीं हो जाती है। यह तो अनुसंधाता के अपने प्रमाद से कठिनाइयाँ हुईं। पर और भी कठिनाइयाँ होती हैं। कुछ कठिनाइयाँ तो इसलिए होती हैं कि रूप-रेखा में चाहिए कुछ और दिया जा रहा है कुछ। इस प्रकार की रूपरेखाएँ बहुत बनती हैं। मान लीजिए 'भक्ति' संबंधी कोई विषय लिया। अब हम लोगों के यहाँ एक प्रकार का चलन हो गया है कि प्रत्येक का अध्ययन वेदों से शुरू होना चाहिए। अब वेद भी नहीं, उससे आगे जाने की होड़ में हड़प्पा-मोहनजोदड़ो की बात होने लगी है, निश्चय ही अपने विषय को इतनी दूर से आरम्भ करना समीचीन नहीं। इससे आप मुख्य अनुसंधान से हटकर अप्रासंगिक चर्चा और अनावश्यक अध्ययन में प्रवृत्त हो जायेंगे। तो सिनोपसिस के ठीक न बनने के कारण उसे इतना समय उस चीज में लगाना पड़ा

जो कि उसके कुछ मतलब की नहीं है, और वह उस पर कुछ कर भी नहीं सकता। क्यों कि वह हिन्दी का विषय लिये हुए है। वह न तो संस्कृत के पंडित हैं, न वेद भाषा के पंडित हैं, न शायद पाणिनी को उन्होंने समझा होगा। न महाभारत को कभी देखा होगा। इन सबके लिए वे उधार लिए हुए विचार रखेंगे। जिनमें उनका कुछ भी गौरव नहीं हो सकता। उलटे उनके लिए खतरा भी पैदा हो सकता है। वे अप्रामाणिक बातें कह सकते हैं। भ्रम को फैला सकते हैं। जब हम ऐसी थीसिसों को देखते हैं तो उनमें ऐसी खतरनाक बातें मिल ही जाती हैं क्योंकि आप स्वयं तो उस विषय के अधिकारी नहीं, आपको दूसरों के मतों पर निर्भर करना पड़ेगा। उन मतों की प्रामाणिकता की परीक्षा भी आप नहीं कर सकते। मान लीजिए आप किसी पहाड़ी प्रदेश के लोक-साहित्य पर लिख रहे हैं और उसमें, आप एन्थ्रोपोलोजी की बात उठाते हैं। आप एन्थ्रोपोलोजी के विद्यार्थी नहीं, हिन्दी के विद्यार्थी रहे हैं। ऐन्थ्रोपोलोजी पर आपका क्या अधिकार हो सकता है। जो पुस्तकें थोड़ी बहुत आपने पढ़ी होंगी उनके आधार पर आप यह कहें कि यह जाति इस प्रकार से आई थी, दूसरी इस प्रकार से आयी और उसी पर आप अपना बहुत सा भाग समाप्त कर दें तो यह कितनी भारी भूल होगी। आप ऐन्थ्रोपोलोजी क्या होती है इसको ठीक-ठीक जानते भी नहीं हैं; जातियों का निदान किस प्रकार किया जाता है, इसको भी नहीं जानते, ये जातियाँ कहाँ से किस प्रकार आयीं उनका भी असली पता नहीं है; तो ऐसे विषय को अपने प्रबंध में आप किस साहस से सम्मिलित करना चाहते हैं? ऐसी भूलें इसलिए हो जाती हैं कि जब रूप-रेखा बनायी गयी उस समय तो यह उत्साह था कि वह इतनी भारी भरकम बननी चाहिए कि मालूम पड़े कि बड़ी विद्वत्तापूर्ण है। अतः यदि कोई व्यक्ति ऐसे स्थलों की आलोचना करते हुए यह लिखे कि—

"When we approach the subject we find that the candidate has discussed racial contents of the population at length, there by involving himself in disputable problems unnecessarily. He should have been only descriptive, without going to findout origins of the race-contents. He is not an Anthropologist nor an Ethnologist. The list of the books shows that he has not consulted authorities on Ethnology. In theses of this kind the references to unacademic and popular treatises should be avoided."

The writer has gone with this theme discussing origins into language also. He has tried to show various influences contradicting its origin from Shaurseni Apabhramsha. And in doing so he has made a mess of the whole affair. It appears that he has no intimate knowledge of the Science, and History of Language. His statements, such as follows, are unscientific.

"इस प्रकार आदिकाल से संस्कृत-भाषा, जो भारतीय-संस्कृति का माध्यम बनकर चली आयी थी, नितांत प्राचीन होने के कारण, वह संस्कृत जन-साधारण के

समझने के लिये इतनी सहज नहीं रही । फिर शौरसेनी, महाराष्ट्री, अर्द्धमागधी आदि प्राकृतों का युग भी बीत गया । जनता के लिए ये प्राकृत अर्थात पुरानी भाषाएँ अपनी साहित्यिकता के कारण कुछ कठिन भी हो गयीं ।"······

'क्योंकि प्रत्येक साहित्यिक भाषा, लोक-भाषाओं के सम्मिश्रण से बनी हुई होती है जिसके कारण विभिन्न बोलियों की विभिन्न प्रमुख-प्रवृत्तियाँ विभिन्न होने पर भी मूल में एक ही रहती हैं ।······

ऋग्वेद की भाषा साहित्यिक है जिसे आर्यों ने साहित्य-प्रयोग के लिये प्रयुक्त किया और इसी को संस्कृत की संज्ञा भी दी गयी ।

हाँ, यहाँ बसे आर्यों की भाषा में तब तक परिवर्तन अवश्य हो गया होगा । अतः नवागत आर्यों की बोली एवं पूर्वागत-आर्यों की बोली तथा यहाँ के मूल अधिवासियों की बोली अवश्य ही एक दूसरे से प्रभावित हुई होंगी और इन सब के सम्मिश्रण से एक विस्तृत-भूभाग के जन-साधारण की बोली का जन्म हुआ होगा, उसी को भाषा-वेत्ताओं ने शौरसेनी-अपभ्रंश की संज्ञा दी ।······

As if the process of amalgamation of two groups of Aryan incomers, and aboriginies of India happened so late as Apabhramsha age which according to him is between 8th-9th century and thirteenth-fourteenth century A. D.

'इससे यह भी संभव है कि भारत में आने वाली प्रथम खस जाति समूह आर्य (वैदिक) भाषा का प्रयोग करते थे । हो सकता है कि वे (वैदिक) आर्य-भाषा के साथ-साथ यहाँ के अधिवासियों की भाषा से मिली-जुली भारतीय-असंस्कृत-आर्य-भाषा का प्रयोग भी करते रहे हों । परन्तु यह आवश्यक भी नहीं है । लेकिन इतना तो स्पष्ट ही है कि इन लोगों की भाषा पर संस्कृत का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही है । क्योंकि 'संस्कृत' का विशेष रूप भारत में काफी बाद में निर्मित हुआ ।"

So many things, have been said here rather axiomatically, without giving Pramana or proof and evident contradiction here in contained is quite overlooked,

इसके साथ ही गढ़वाली भाषा के आर्य-भाषा से निकट संबंध के विषय में यह तथ्य भी महत्वपूर्ण है कि प्रागैतिहासिक काल में कुछ आर्य राजपूताना से, (मैदानी-भाग से) माध्यमिक-पहाड़ी क्षेत्रों में आकर बसे । ये भोटियों (भोट उत्तरी हिमालय) लोगों के अधिवास से निचली घाटी में बसे । जिन्हें कि भोटिया लोगों ने 'खसिया' कहकर सूचित किया ।······

Telling us about Pre-historic age, we do not know on what authorities and on what premises.

The portion of historical philological discussion is full of such unwarranted statements.

To my mind the writer ought to have confined himself to the descriptive linguistics of his field only and given us partly the description of language or languages of the area as they are found today. Hence the portion of historical discussion sould be expunged, and if, however, it is included, it should thoroughly be examined by some eminent philologist".

तो इस संकेत से यह प्रकट हुआ कि यदि रूप-रेखा में अनावश्यक बातों को पहले ही निकाल दिया गया होता तो, ऐसे सदोष तत्व समाविष्ट न हो पाते ।

अतः रूप-रेखा के निर्माण में यह अत्यन्त आवश्यक है कि यथा-संभव अनावश्यक बातों का समावेश न हो पाये ।

दूसरी बात यह है कि 'रूप-रेखा में प्रबंध के तीनों भागों का यथोचित ध्यान रखने की आवश्यकता है । वे तीन भाग ये होते हैं—

१. भूमिका
२. मुख्य विषय
३. परिशिष्ट

इस बात की सावधानी रखने की आवश्यकता है कि 'भूमिका' भाग इतना भारी न हो जाय कि मुख्य विषय को बौना कर दे । कहीं वे विषय जो 'परिशिष्ट' में अधिक ठीक रह सकते हैं, उनका समावेश भूमिका या मुख्य विषयवाले अंश में न रख दिया जाय ।

मान लीजिये आपने विषय चुना—

"पद्मावत का शास्त्रीय व साहित्यिक दृष्टि से मूल्यांकन"

अब इस पर मैं आपके समक्ष तीन रूप-रेखाएँ रखता हूँ, जिससे आप तुलना-पूर्वक यह देख सकें कि किस में क्या दोष है: रूप रेखा नं० १ स्वतंत्र रूप-रेखा है । रूप-रेखा नं० २ में ही तीसरी रूप-रेखा संशोधन के रूप में प्रस्तुत कर दी गयी है । यह तीसरी रूप-रेखा पुष्पांकित (*) पदों में दी गयी है, अतः आसानी से समझी जा सकती है । दूसरी रूप-रेखा में किये गये संशोधनों से आप यह भी समझ सकते हैं कि पहली रूप-रेखा का पूर्णतः परित्याग कर दिया गया है । क्योंकि प्रथम अध्याय अथवा पूर्व पीठिका अनावश्यक है । दूसरे अध्याय में पुराकालीन प्रवृत्तियों को अनावश्यक रूप से सम्मिलित किया गया है, जिससे मूल विषय बौना हो ही जायगा, तीसरे अध्याय में पुनः अनावश्यक तत्वों को प्रधानता दी गयी है । इस प्रकार ६ अध्यायों में से तीन में अनावश्यक विषयों को गौरव मिला है । शेषों में भी विषय के अनुरूप 'शास्त्रीयता' पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया । उसे बहुत सामान्य रूप में प्रस्तुत किया गया है ।—इस दृष्टि से अब इन रूप-रेखाओं को देखें—

रूप रेखा नं० १

पद्मावत का शास्त्रीय व साहित्यिक दृष्टि से मूल्यांकन

I　पूर्व पीठिका—

(a) सूफ़ी मत का आदि स्रोत।

(b) भारत में सूफ़ी धारा का प्रवाह।

(c) आदि काल से जायसी के समय तक सूफ़ी मत का विकास व विकृति।

(d) उक्त पृष्ठभूमि में जायसी का उदय।

(e) जायसी का युग।

II　जायसी को प्राप्त पुराकालीन प्रवृत्तियाँ तथा पद्मावत में उनका उपयोग—

१ —

(a) वैचारिक धरोहर—(i) सूफ़ी विचारधारा (ii) हठयोग सम्बन्धी विचारधारा

(b) इस्लामी विचारधारा।

(c) काव्य सम्बन्धी प्राप्त धरोहर।

(i) प्रबन्ध प्रवाह—संस्कृत प्रबन्ध, प्राकृत प्रबंध, अपभ्रंश प्रबंध, हिन्दी प्रबन्ध, सूफी कवियों की पद्धति: फारसी मसनवी शैली

(ii) कविता के अंग—जायसी के समय तक प्रचलित मान्यताएँ—शब्दार्थ, अलंकार, रीतिशैली, गुण, ध्वनि।

(iii) छन्द सम्बन्धी मान्यताएँ—
चौपाई, चौपई, दोहा, तीनों का जायसी द्वारा प्रयोग।

२—तत्कालीन प्रचलित सामाजिक मान्यताएँ।

III　पद्मावत की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और कथावस्तु।
भिन्न-भिन्न कथानकों का जायसी द्वारा मिश्रण।

IV　पद्मावत में अलौकिक तत्त्व—

V　जायसी का प्रबन्ध-कौशल—
पद्मावत में प्रबन्ध निर्वाह व मुक्तकत्व।
,,　,,　संवाद व नाटकीयता।
पद्मावत एक अन्योक्ति है। पद्मावत एक प्रतीक है। पद्मावत एक समासोक्ति है अथवा रूपक है।

VI　पद्मावत में रस-निष्पत्ति—
भाव-विचार
विभाव-विचार—१. आलम्बन एवं आश्रय (चरित्र-चित्रण)
२. उद्दीपन अथवा प्रकृति चित्रण,
अनुभाव
संचारी भाव

VII परिशिष्ट—

१. जायसी का जीवन वृत्त ।

२. पद्मावत के कुछ विशिष्ट शब्द—

(a) सूफ़ीमत के पारिभाषिक शब्द ।

(b) प्रादेशिक शब्द ।

(c) अपभ्रंश के शब्द ।

———o———o— — —

रूपरेखा नं० २ तथा ३

पद्मावत का शास्त्रीय व साहित्यिक दृष्टि से मूल्यांकन

I

परिशिष्ट में जायंगी {
जायसी का युग—
राजनैतिक परिस्थितियाँ* और उनका इतिहास
सामाजिक परिस्थितियाँ* ,, ,, ,,
धार्मिक व दार्शनिक विचार धाराएँ ।
}

* I. भूमिका

* १. पद्मावत का महत्त्व [इतिहासों आदि से]

* २. पद्मावत के अध्ययन की परंपरा—प्रत्येक अध्ययन की विशेषता,

* ३. पद्मावत के नये अध्ययन की आवश्यकता और इस अध्ययन का महत्त्व,

II (अ) पद्मावत की कथावस्तु—

(a) मुख्य कथा

(b) अवान्तर कथाएँ

(c) कथा का स्रोत—

(i) ऐतिहासिक

* (ii) लोक-वार्ता विषयक तथा

* (iii) कल्पना-प्रसूत

(d) कथाओं में परस्पर सम्बन्ध-निर्वाह
लौकिक पक्ष व अलौकिक पक्ष एवं इन दोनों का निर्वाह ।

* (e) पद्मावत की कथानक रूढ़ियाँ और उनकी परंपरा तथा जायसी में उनके उपयोग की सार्थकता ।

(f) शैली—मसनवी अथवा भारतीय,

* (आ) कथा तथा पात्र—

* (a) मुख्य कथा के पात्र—चित्रण—उनका नायक-नायिका भेद के लक्षणों के अनुसार तथा स्वतंत्र निरूपण-तत्व और उनका मनोविज्ञान

* (b) अवान्तर कथाओं के पात्र, उनका चित्रण, उनका मनोविज्ञान

* (c) पात्रों का नखशिख, उसका शास्त्रीय आधार और रूप

III पद्मावत में रस-निरूपण—

* (a) पद्मावत का प्रधान रस

* (b) अन्य रस और उनका प्रधान रस से संबंध

* (c) पद्मावत में शृंगार रस

(i) संयोग वर्णन

(ii) वियोग वर्णन—(1) वियोग के रूप, पूर्वानुराग आदि।

(2) कामदशाओं का चित्रण

(iii) वियोग में भारतीयता एवं विदेशीपन

*(iv) पद्मावत में स्थायी भावों की स्थिति कहाँ कहाँ और कैसी

*(v) पद्मावत में विभावों के स्थल और उनका स्वरूप

*(vi) पद्मावत में संचारियों के स्थान, नाम तथा प्रयोग

*(vii) पद्मावत के अनुभावों की सूची, उनके स्थल और उपयोग

*(viii) पद्मावत में सात्विक भाव

*(ix) पद्मावत में हाव-भाव

*(x) पद्मावत और कामशास्त्र

IV पद्मावत में अलंकार योजना—

(a) पद्मावत के उपमान।

(b) जायसी की अलंकार सम्बन्धी मौलिकता।

V पद्मावत में छंद-योजना—

चौपाई-दोहे की परिपाटी एवं उसकी गीतात्मकता,

*VI पद्मावत में गुण-दोष

*VII पद्मावत में औचित्य विचार

VIII पद्मावत में *संस्कृति का स्वरूप

IX पद्मावत में प्रकृति-निरूपण,

X पद्मावत में दर्शन-तत्व—

सूफीमत, रहस्यवाद, इस्लामी विचारधारा आदि,

XI पद्मावत में लोक-जीवन—

लोक कथाएँ

लोक गीत

तत्कालीन समाज का चित्रण

जन-प्रचलित मान्यताओं व धारणाओं का समावेश।

XII पद्मावत की भाषा—

(a) लोकोक्ति व मुहाविरे

(b) व्यंजनाशक्ति

(c) व्याकरण

*XIII पद्मावत का काव्यत्व: प्रबंधत्व, महाकाव्यत्व, शैली, अन्योक्ति, प्रतीक, आदि

*XIV पद्मावत का ज्ञानकोष और उसके शास्त्रीय स्रोत

XV उपसंहार—मूल्यांकन—

परिशिष्ट

(a) जायसी का जीवन-वृत्त

*(b) जायसी का युग (देखिये ऊपर प्रथम अध्याय)

(c) पद्मावत के विशिष्ट शब्द

(d) सूफीमत के पारिभाषिक शब्द। अपभ्रंश के तथा प्रादेशिक शब्द।

*(e) दृष्टांत तथा संदर्भित कथाओं की सूची और परिचय।

———o———o———

इसी प्रकार खुम्माण रास विषयक नीचे दी गयी रूपरेखा तथा इसके संशोधनों को देखिये—

खुम्माण रास और उसका अध्ययन

अर्थात् खुम्माण रास का आलोचनात्मक सम्पादन, भाषा वैज्ञानिक टिप्पणियों सहित कठिन शब्दार्थ एवं ऐतिहासिक, साहित्यिक तथा भाषा-वैज्ञानिक अध्ययन युक्त प्रस्तावना।

खंड १

खुम्माण रास का अध्ययन

* १. रासो साहित्य क. रास और रासो काव्य

ख. हिन्दी रासो साहित्य

ग. राजस्थानी रासो साहित्य

* २. रासो साहित्य की विशेषताएँ।

३. खुम्माण रास एवं तत्संबंधित भ्रांतियाँ

* यह शीर्षक इस अध्ययन के अंत में जाना चाहिये क्योंकि अध्ययन का तत्व प्रमुख हैं, तत्संबंधी भ्रांतियों का निराकरण प्रधान तत्व नहीं। इसकी भाषा भी ठीक की जानी चाहिये, 'एवम् तत' ये दो शब्द भ्रामक तथा अनावश्यक शब्द हैं।

* १. खुम्माण रास के सम्पादन तथा अध्ययन की आवश्यकता: भूमिका।

२. (अ) खुम्माण रास का ग्रन्थ-कर्ता, उसका जीवन, परिचय, कृतियाँ एवं पाण्डित्य।

*(इसके संबंध में अन्तर तथा बाह्य साक्षियों की परीक्षा तथा निष्कर्ष)

(आ) खुम्माण रास का रचनाकाल।

३. खुम्माण रास का विषय।

* ४. खुम्माण रास की वस्तु में ऐतिहासिक तत्व और उसकी प्रामाणिकता। तत्कालीन

* ५. खुम्माण रास में कवि-कल्पना का योग संस्कृति का रूप और उसकी उपयुक्तता।

* ६. खुम्माण रासो की समस्त कथानक रूढ़ियों का कोष और व्युत्पत्ति।

* ७. खुम्माण रासो में लोकतत्व निम्न दृष्टियों से—

*अ—कथा भाग में।

*आ—लोकोक्तियों तथा प्रवादों और दृष्टान्तों में।

*इ—विविध लोक विश्वास

८. खुम्माण रास में साहित्यिक सौष्ठव।

क. प्रबन्ध-कल्पना एवं वस्तु-योजना में।

ख. वस्तु वर्णन में।

ग. भाव-व्यंजना-एवं रसात्मकता में।

घ. अलंकार-योजना में।

ङ. छंद-योजना में, खुम्माण रास में प्रयुक्त छंद (१) संस्कृत छंद, (२) प्राकृत छंद (३) पिंगल छंद (४) डिंगल छंद, (५) लोक-क्षेत्र से गीत, निशानी आदि।

च. चरित्र-चित्रण।

*९. खुम्माण रासो में (अ) भाव-संपत्ति तथा (आ) ज्ञान-संपत्ति

१०. खुम्माण रास की भाषा।

१. भाषा-जाति—राजस्थानी, यत्र तत्र पिंगल, ब्रज भाषा तथा गुजराती-प्रयोग, प्राकृत और संस्कृत।

२. रास की भाषा का विवेचन—शब्द-समूह, विदेशी शब्द, ध्वनि-विकास शब्द-निर्माण। (उपसर्ग और प्रत्यय): व्याकरण, संज्ञा, वचन, जातिः लिंगकारक, विभक्ति, विशेषण, सर्वनाम, क्रिया, क्रिया-रूप, अव्यय।

*३. रास की भाषा का अर्थ-तत्व की दृष्टि से विवेचन।

४. खुम्माणरास सम्बन्धित भ्रान्तियाँ।

१. रासो काव्यों में खुम्माण रास का स्थान।

परिशिष्ट

१. सबसे आरंभ के पुष्पांकित (×) अंश यहाँ परिशिष्ट में आने चाहिये। क्योंकि हम 'ग्रंथ' का अध्ययन प्रस्तुत कर रहे हैं। रासो विषयक परिभाषा तथा परिचय सामान्य सामग्री है। अतः यह आरंभ में अनिवार्य नहीं।

२. सहायक ग्रंथ।

खण्ड २

मूल ग्रंथ

१. उपेद्घात

क. मूल प्रति का परिचय, पत्राकार, पत्र-संस्था आदि।

ख. प्रति का लिपिकार, लिपिकाल, लिपि

ग. चित्र एवं बाधानुकूलता

*२. संपादन के सिद्धान्त

३. मूल ग्रंथ—आलोचनात्मक सम्पादन
४. पाद-टिप्पणियाँ—कठिन शब्दों की व्युत्पत्ति एवं भाषा वैज्ञानिक टिप्पणियों सहित शब्दार्थ ।

*परिशिष्ट

*१. शब्दानुक्रमणिका
२. सूचनिका ।

———o———

भूमिका मुख्य विषय और परिशिष्ट में एक अपेक्षित संतुलन होना बहुत आवश्यक है, यह बात यहाँ तक स्पष्ट हो चुकी होगी । पर रूपरेखा इतनी उथली या एकांगी भी नहीं होनी चाहिये कि उसे रूपरेखा का नाम ही न दिया जा सके । ऐसी रूपरेखाओं से मार्ग-दर्शन क्या हो सकेगा । उदाहरणार्थ यह रूपरेखा ली जा सकती है ।

विषयः हिन्दी के आधुनिक नाटक-साहित्य में परम्परा और प्रयोग

प्रथम अध्याय—परम्परा और प्रयोग की परिभाषा तथा परिपाटी—

द्वितीय अध्याय—प्रस्तुत काल से पूर्व के नाटक-साहित्य में परम्परा एवं प्रयोग सम्बन्धी पृष्ठभूमि ।

तृतीय अध्याय—भारतेन्दु युग—कथावस्तु सम्बन्धी परम्परा और प्रयोग, चरित्र-चरित्र सम्बन्धी परम्परा और प्रयोग, कथोपकथन सम्बन्धी परम्परा और प्रयोग, देशकाल सम्बन्धी परम्परा और प्रयोग, भाषा एवं शैली सम्बन्धी परम्परा और प्रयोग, उद्देश्य सम्बन्धी परम्परा और प्रयोग, रस सम्बन्धी परम्परा और प्रयोग, अभिनय सम्बन्धी परम्परा और प्रयोग ।

चतुर्थ अध्याय—प्रसाद युग—कथावस्तु सम्बन्धी परम्परा और प्रयोग, चरित्र-चित्रण सम्बन्धी परम्परा और प्रयोग, कथोपकथन सम्बन्धी परम्परा और प्रयोग, देशकाल सम्बन्धी परम्परा और प्रयोग, भाषा एवं शैली सम्बन्धी परम्परा और प्रयोग, उद्देश्य सम्बन्धी परम्परा और प्रयोग, रस सम्बन्धी परम्परा और प्रयोग, अभिनय सम्बन्धी परम्परा और प्रयोग ।

पञ्चम अध्याय—प्रसादोत्तर युग—कथावस्तु सम्बन्धी परम्परा और प्रयोग, चरित्र चित्रण सम्बन्धी परम्परा और प्रयोग, कथोपकथन सम्बन्धी परम्परा और प्रयोग, देशकाल सम्बन्धी परम्परा और प्रयोग, भाषा एवं शैली सम्बन्धी परम्परा और प्रयोग, उद्देश्य सम्बन्धी परम्परा और प्रयोग, रस सम्बन्धी परम्परा और प्रयोग, अभिनय सम्बन्धी परम्परा और प्रयोग ।

षष्ठ अध्याय—समाहार ।

यह अत्यन्त उथली रूपरेखा है । इसे यदि निम्नलिखित रूप दिया जाय तो कुछ पूर्ति हो सकती है ।

हिन्दी के आधुनिक नाटक-साहित्य में परम्परा और प्रयोग

१. आधुनिक युगपूर्व भारतीय नाटक-साहित्य में परंपरा और प्रयोग का सिंहावलोकन—परम्परा का स्वरूप तथा प्रयोगों की स्थिति। विविध प्रयोगों का इतिहास तथा विविध शास्त्रीय परम्पराएँ और रूढ़ नाटकीय परिपाटियाँ। परम्परा और प्रयोग की पृष्ठभूमि में साहित्य की मेधा का स्वरूप।

२. आधुनिक हिन्दी नाटक-साहित्य का सर्वेक्षण—विविध भारतीय नाटक परम्पराओं की दृष्टि से आधुनिक नाटक साहित्य का वर्गीकरण—हिन्दी नाटक के साहित्य में मिलनेवाले परम्परा के समग्र तत्वों का कोश—प्रत्येक तत्व की हिन्दी केआधुनिक नाटकों में स्थिति—उसका विकास या ह्रास-उस विकास या ह्रास के स्वरूप तथा कारणों का अनुसंधान—

३. विविध अभारतीय नाटक परंपराओं की दृष्टि से आधुनिक हिन्दी-नाटक-साहित्य का वर्गीकरण—हिन्दी नाटक-साहित्य में मिलने वाले समग्र अभारतीय नाटक परंपरा के तत्वों का कोश—इन तत्वों की आधुनिक हिन्दी नाटकों में प्रयोग की स्थिति का संक्षिप्त इतिहास।

४. (अ) उन परंपराओं का उद्घाटन जो मूलतः हिन्दी नाटकों की अपनी परंपराएँ हैं।

(आ) आधुनिक हिन्दी नाटकों में इन तीनों परम्पराओं की तुलनात्मक स्थिति।

५. आधुनिक हिन्दी नाटकों में होनेवाले प्रयोगों का सर्वेक्षण—समस्त प्रयोगों का प्रकारों और युगों में वर्गीकरण :- प्रकार : शिल्प-विधान संबधी, आरंभ-अंत संबन्धी, दृश्य-विधान संबंधी, सामग्री-चयन संबंधी, संवाद-संबोधन संबंधी, संगीत-नृत्य संबंधी, पात्र-वेश, प्रयोग-प्रस्थान सबन्धी, रंग-सम्बन्धी आदि।

६. (अ) प्रत्येक प्रयोग की पृथक-पृथक प्रयोग कालीन स्थिति और आयु। इन प्रयोगों का मूलस्रोत १—भारतीय परंपरा से उद्भूत २—अभारतीय परंपराओं से उद्भूत ३—व्यक्तिगत साहित्यकार की मेधा की उद्भूति ४—लोक-क्षेत्र से ग्रहीत। (आ) १—वे प्रयोग जो अत्यन्त अस्थायी रहे २—वे प्रयोग जो कुछ काल तक चल ३—वे प्रयोग जो अपनी परंपरा खड़ी कर सके। प्रत्येक की पृष्ठभूमि का सर्वेक्षण तथा विश्लेषण।

७. इन प्रयोगों और परंपराओं का पारस्परिक संबन्ध।

८. निष्कर्ष।

जहाँ यह आवश्यक है कि 'रूपरेखा' यथासंभव पूर्ण हो वहाँ यह भी आवश्यक है कि उसका क्रम लाजिकल, वैज्ञानिक पूर्वापर प्रक्रिया से युक्त हो।

इन बातों की ओर संकेत करने के लिए यहाँ दो रूपरेखाओं पर दो विमर्श दिये जा रहे हैं:—

(१)

हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यास

"हिन्दी के ऐतिहाहिक उपन्यास (१) विषय पर दी गई रूपरेखा संतोषजनक नहीं है। इसमें चार अध्यायों में समूचे विषय को विभाजित करके लिखने का संकल्प

प्रकट किया है। तीसरे अध्याय (ख खण्ड) (अनूदित उपन्यास) अनावश्यक है। जिन उपन्यासों और उनके अनुवादों ने हिन्दी उपन्यासों को प्रेरणा दी है उनकी चर्चा यथा प्रसंग होना ही उचित है। उनकी अलग से चर्चा करने के लिए एक अलग अध्याय की योजना मुझे अनावश्यक जान पड़ती है। वस्तुतः अनुवाद 'हिन्दी के ऐतिहासिक उपन्यास' नहीं कहे जा सकते। वे अपनी-अपनी मूल भाषाओं के ऐतिहासिक उपन्यास हैं। उनकी चर्चा प्रसंगागत विषय के रूप में ही हो सकती है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की एम० ए० कक्षा के थीसिस के रूप में एक विद्यार्थी ने इस विषय पर कार्य किया है। वह थीसिस अब पुस्तक रूप में प्रकाशित हो रही है। प्रस्तुत रूपरेखा में उससे आगे बढ़ने का कोई प्रयास नहीं दिखायी देता।

प्रस्तुत रूपरेखा से यह भी पता नहीं चलता कि प्रार्थी कौन सा नया शोध (Discovery of New facts) या पुरानी बातों की कौनसी नयी व्याख्या प्रस्तुत करने जा रहा है।"

(२)

दोहा छन्द का उदय और विकास

As regards synopsis, it has got many shortcomings :

(i) The chapters are not Logically arranged e. g. history of Doha in Hindi Literature should be put after the 1st chapter and not at the 10th place. So also chapter '5' दोहे की काल परीक्षा either should be included in the chapter I विषय प्रवेश or may be given III place in the order of this chapter.

(ii) Some important things are either left-out or given a very unimportant thought: (a) no mention is made of Ganas in Rachnatatwa, nor there is a mention of Ras anywhere in the synopsis. While discussing स्वभाव, I think, the suitability of Doha for some Rasas had to be discussed. (b) numerous varieties of Dohas mentioned in Chhand Shastras and liberty of Hindi writers in using them attracts one's attention. This factor should have been assigned a separate chapter entitling दोहों के विविध भेद तथा उनका इतिहास and there in various causes leading to this plurality of varieties should have been discussed. (c) Doha has been a living Chhand in Hindi, hence it was essential to show what flaws or beauties have propped up in its usages by various poets. It would also be very useful investigation to show if there are some poets who have constructed some new variety of Dohas.

(iii) Some topics are ambiguous: दोहे के रचना-तत्वों की तुलनात्मक परीक्षा, या दोहे का प्रयोग विकास

(iv) Some topics are unnecessary such as: 'गैर-हिन्दी भाषाओं में दोहों की परंपरा if the candidate likes he may give some information in the form of an Appendix.

(v) The details of topics too are at places ambiguous or far-fetched, or irrelevant or unnecessary.

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि रूप-रेखा के संबंध में सब से अधिक ध्यान देने योग्य बातें ये हैं :—

१. भूमिका-भाग में मुख्य-विषय से घनिष्ठ रूपेण संबंधित प्रारंभ में ज्ञातव्य बातें ही आनी चाहिये। भूमिका छोटी से छोटी होनी चाहिये।

२. प्रधानता मुख्य-विषय को मिलनी चाहिये।

३. जिन बातों का विशेष उल्लेख किन्हीं कारणों से अपेक्षित हो, और वे बातें न तो भूमिका में स्थान पा सकें न मुख्य भाग में, तो ऐसी बातों का उल्लेख परिशिष्टों में किया जा सकता है।

४. रूप-रेखा में बातों को पूर्वापर क्रम (लाजिकल आर्डर) में रखा जाना चाहिये।

५. अनावश्यक बातें बिल्कुल भी सम्मिलित नहीं की जानी चाहिये।

६. रूप-रेखा निर्धारित विषय की सीमा से बाहर नहीं जानी चाहिये।

७. रूप-रेखा से यह स्पष्ट विदित हो सकना चाहिये कि इसमें नये अनुसंधान के लिए बहुत अवकाश है। वह एक सामान्य लोक-रुचि के लिए प्रस्तुत होने वाले ग्रंथ की विषय-सूची के रूप में नहीं होनी चाहिये।

८. रूपरेखा के साथ पुस्तक-सूची (Bibliography) भी दी जानी चाहिये।

किन्तु, इतने विवेचन से यह बात भी प्रतिभासित होती है कि "रूपरेखा" ठीक-ठीक तब तक तैयार नहीं की जा सकती, जब तक कि अनुसंधाता अपने विषय और तत्संबंधी प्राय: समस्त सामग्री से पूरी तरह परिचित नहीं हो जाता। दूसरे शब्दों में उसे अपने अनुसंधान की आरंभिक अवस्था संपन्न कर लेने के बाद ही रूपरेखा प्रस्तुत करनी चाहिये। किन्तु विश्वविद्यालयों में रूपरेखा आरंभ में ही माँगी जाती है। इस प्रणाली से परिणाम यह होता है कि अनुसंधाता दूसरों से रूप-रेखा प्रस्तुत कराता है। और रूपरेखा बनाने वाले का दास हो जाता है, क्योंकि पद-पद पर उसे रूपरेखा को समझने के लिए उसके पास दौड़ना पड़ता है। रिसर्च यदि अनुसंधान है तो उसका स्वरूप तो अनुसंधान करते-करते ही स्पष्ट होगा। आरंभ में ही उसे कैसे प्रस्तुत किया जा सकता है।

इस दृष्टि से समीचीन यह प्रतीत होता है कि "विश्वविद्यालय" केवल 'विषय' को ही स्वीकार करें। विषय के साथ यह उल्लेख मात्र रहे कि अनुसंधाता उस विषय के अनुसंधान को क्यों महत्त्वपूर्ण मानता है, और क्यों उसमें प्रवृत्त होना चाहता है। यदि इतने से ही संतोष नहीं हो तो, विषय के साथ अनुसंधान की योजना (Scheme) ही माँगी जानी चाहिये।

अनुसंधान योजना—

अनुसंधान की योजना में केवल उन मार्गों (Steps) का ही उल्लेख होना चाहिये जिनके द्वारा अनुसंधान किया जायगा। उदाहरणार्थ "खुमाणरासो का अनुसंधान"।

१. खुमाणरास की एक प्रति मिलती है। अन्यप्रतियों की भी खोज की जायगी।

२. (अ) प्राप्त प्रतियों के आधार पर पाठालोचन (Textual Criticism) के विज्ञान के अनुसार पाठानुसंधान पूर्वक आदर्श पाठ प्रस्तुत करना। इस की भूमिका में इस रास-विषयक संशोधन की समस्याओं पर सोदाहरण सप्रमाण प्रकाश डाला जायेगा।

(आ) खुमाण रासो के काल-निर्णय के उपरांत उस काल की उसी क्षेत्र की और उसी भाषा की अन्य कृतियों की भी रासो की भाषा से तुलना करने के लिए अध्ययन किया जायगा। जिससे तत्कालीन भाषा की प्रवृत्ति से रासो का सामञ्जस्य स्थापित किया जा सके।

३. इसके अनंतर इस रासो का आंतरिक अध्ययन किया जायगा। रासोकार के जीवन की सामग्री भी खोजी जायगी, उसकी अन्य कृतियों का भी पता चलाया जायेगा, और यदि मिलेंगी तो इस रासो के साथ उनके कृतित्व का भी स्वरूप प्रस्तुत किया जायगा। आदि.........

किन्तु यदि यही अभीष्ट हो कि पूरी रूपरेखा ही प्रस्तुत की जाय तो विश्वविद्यालयों को अपने नियमों में यह धारा बढ़ानी चाहिये कि पहले विषय स्वीकृत होगा, तदनुसार ६ महीने के अन्दर अनुसंधाता को अपनी रूप-रेखा प्रस्तुत करनी होगी। उसके स्वीकार हो जाने पर अनुसंधाता अपना अनुसंधान आगे बढ़ायेगा।

सबसे अधिक समीचीन तो यही प्रतीत होता है कि केवल विषय मात्र ही स्वीकार किया जाय।

रूपरेखा के संबंध में मैंने अपना अभिमत प्रेषित कर दिया है। अब मैं आप सब को धन्यवाद देता हुआ, अपना आज का भाषण समाप्त करता हूँ।

अनुसंधान-विवरण

श्री राधेश्याम त्रिपाठी

"डिंगल का गद्य-साहित्य"

डिंगल राजस्थान की साहित्यिक भाषा है, विशेषकर आधुनिक-युग में डिंगल को कविता की एक शैली के रूप में समझा जाता है। वर्तमान में डिंगल कविता का एक रूढ़-स्वरूप हमारे सामने उपस्थित है तदापि प्राचीन राजस्थानी में डिंगल की रूपात्मक एवं ध्वन्यात्मक विशेषतायें परिलक्षित हैं। विद्वानों ने डिंगल को प्राचीन राजस्थानी का सुसंस्कृत, परिमार्जित एवं साहित्यक रूप माना है।

आरम्भ में साधारण राजस्थानी और डिंगल में कोई अन्तर न रहा हो, परन्तु बाद में डिंगल स्थिर हो गई हो। कविगण जानबूझ कर द्वितवर्ण वाले शब्दों का प्रयोग किया करते थे और इसी प्रकार साधारण शब्दों को भी तोड़ा-मरोड़ा जाने लगा, साथ ही उनके "कुछ विशेष शब्द" आकार-प्रकार में बंध गये जिनका प्रयोग निरंतर किया जाने लगा। परन्तु साधारण बोलचाल की राजस्थानी में ऐसे शब्दों का कोई प्रचूर प्रयोग नहीं होता था। इसका परिणाम यह हुआ कि डिंगल साधारण जनता की बोध-सीमा के बाहर हो गई तथा एक विशिष्ट वर्ग (कवियों की) की ही भाषा-मात्र बन गई।

विक्रम की १६वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक न्यूनाधिक रूप से राजस्थानी का प्रयोग गुजरात, मध्यप्रदेश व राजस्थान के भागों में सर्वत्र होता था, परन्तु १६वीं शताब्दी से इन प्रदेशों के राजनैतिक सीमा-रेखाओं में बंध जाने पर उसके रूप में प्रान्तीय प्रभाव लक्षित होने लगा और भिन्न प्रवृत्तियां स्पष्ट होने लगीं। विक्रम की १७वीं शताब्दी से जब राजस्थानी-साहित्य को लिपिबद्ध किया जाने लगा तो वह साधारणत: बोलचाल की राजस्थानी भाषा में ही हुआ; फिर भी उसमें परम्परागत डिंगल संबंधी शब्दों को देखा जा सकता है। इस प्रकार साहित्य के विभिन्न अंगों की रचना इसमें हुई और प्रचुर मात्रा में हुई, जिसमें गद्य-साहित्य का विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण स्थान है।

राजस्थान में रचित गद्य-साहित्य को राजस्थान के आधुनिक विद्वान राजस्थानी-भाषा की ही रचना मानते हैं, डिंगल की नहीं—क्योंकि वह साहित्य उस युग की जन-वाणी में लिखा गया था, द्वितवर्ण वाले शब्दों से युक्त डिंगल में नहीं? गद्य संबंधी साहित्य जिसे राजस्थानी भाषा में लिखा माना जाता है ख्यात, बात, बचनिका, विगत,

दवावैत, वंशावली, पीढ़ियां, पट्टेपरवाने आदि के रूप में उपलब्ध हैं। इस गद्य की सम्पूर्ण सामग्री राजस्थान के विविध राजकीय पुस्तकालयों में सुरक्षित है। इसके अतिरिक्त व्यक्तिगत रूप मे कुछ चारण, भाटों एवं रावों के पास यह सामग्री खोजी जा सकती है। राजस्थानी गद्य सम्बन्धी जो सामग्री अभी तक प्रकाश में आई है वह सब राजकीय पुस्तकालयों में प्राप्य है। डा० टैसीटोरी एवं पं० हरप्रसाद शास्त्री ने अपनी रिपोर्ट में गद्य संबंधी सामग्री की शोधपरक जानकारी दी है, पर वह विवरण पूर्ण नहीं कहा जा सकता।

डिंगल का गद्य-साहित्य विश्वविद्यालय की "अनुसंधान-समिति" के द्वारा जब स्वीकार कर लिया गया तब सर्व प्रथम मेरी यह धारणा बनी कि तत्संबंधी सामग्री जिन जिन राजकीय पुस्तकालयों में सुरक्षित है उसकी एक विस्तृत सूची बना ली जाय तथा यदि संभव हो सके तो उनका प्रारम्भिक अवलोकन-अध्ययन कार्य भी किया जाय। सर्व प्रथम इसी ओर मेरा ध्यान केन्द्रित हुआ, क्योंकि गद्य संबंधी सामग्री अधिकांशतः इन राजकीय पुस्तकालयों में हस्तलिखित ग्रंथों के रूप में विद्यमान है, जिनके अध्ययन के लिये विशेष समय एवं सुविधा अपेक्षित है। विशेषकर इनके अध्ययन के लिये उन्हीं स्थानों पर जाकर अध्ययन किया जायेगा क्योंकि इन ग्रन्थों को पुस्तकालय-कक्ष से बाहर ले जाने की अनुमति मिलना असाध्यभर है। केवल बीकानेर के "अनूप संस्कृत पुस्तकालय" में यह सुविधा प्राप्त है जिसके अनुसार इनकी सुरक्षा का "एक विशेष" स्टाम्पपत्र भरना पड़ता है तथा एक समय में एक हस्तलिखित ग्रन्थ प्राप्त किया जा सकता है।

सर्व प्रथम ११ अप्रैल सन् १९५८ को मैं अजमेर से कोटा, बूंदी, जहाजपुर आदि स्थानों की ओर गया तथा ता० १६ अप्रैल को पुनः अजमेर लौट आया। यह कार्यक्रम केवल ६ दिवसों का ही रहा, कारण कि इधर गद्य संबंधी सामग्री उपलब्ध नहीं हुई। कोटा के राजकीय पुस्तकालय में कुछ राजस्थानी में किए गये अनुवाद प्राप्त हुए जो १७वीं शताब्दी के पश्चात के हैं। कोटा के एक जैन उपासरे में जैन विद्वानों की कुछ रचनायें गद्य में लिखी हुई हैं जो धार्मिक उपदेशपरक हैं। इसके अतिरिक्त कोटा में और कोई सामग्री उपलब्ध नहीं हुई और न ही अन्य स्थानों पर प्राप्त हो सकी।

राजस्थानी गद्य सम्बन्धी सामग्री मुख्यतया वार्तायें ख्यात, वंशावली आदि जयपुर के पुरातत्व-मंदिर, जोधपुर के उम्मेद-भवन के "पुस्तक-प्रकाश" पुस्तकालय, उदयपुर के राजकीय पुस्तकालय-सरस्वतीभवन तथा बीकानेर के अनूप संस्कृत पुस्तकालय-अभय जैन ग्रन्थालय तथा अन्य जैन उपासरों में लिपिबद्ध रूप से सुरक्षित है। ग्रीष्मावकाश के के आरम्भ होने के साथ ही मैंने इन चार प्रमुख स्थानों (जयपुर, जोधपुर, उदयपुर और बीकानेर) की ओर जाने का निश्चय किया। जैसलमेर के राजकीय पुस्तकालय में गद्य संबंधी सामग्री उपलब्ध है, ऐसा जानकर सूत्रों से विदित हुआ। जैसलमेर की ओर इस भीषण गर्मी में जाना मैंने स्थगित किया और वहाँ वर्षाकाल के पश्चात ही जाना ठीक समझा।

जिन चार स्थानों की ओर मैं गया उनका विवरण संक्षेप में इस प्रकार है:—

जोधपुर

ता० १३ मई ५८ को अजमेर से प्रस्थान कर १४ मई को प्रातः ८-३० पर जोधपुर पहुँच गया।

ता० १४ मई को प्रातःकाल ११ बजे "सुमेर पब्लिक लाइब्रेरी" जाकर वहाँ के पुस्तकाध्यक्ष श्री बी० एल शर्मा से सम्पर्क स्थापित किया व उनसे विषय-संबंधी चर्चा की। "सुमेर पब्लिक लाइब्रेरी" में "मुहणोत नैणसी रीख्यात दो भाग" तथा "मारवाड़ रीख्यात" की हस्तलिखित प्रतियां देखने को मिलीं। लिपिकार ने दोनों प्रतियों में अपना नाम व लिपिकाल का उल्लेख नहीं किया है। इन दोनों प्रतियों को देखने पर अनुमान लगाया गया कि इनका लिपिकाल १९वीं शताब्दी के आस पास रहा होगा। "मारवाड की ख्यात" में मारवाड़ के राठौर राजवंशों से संबंधित फुटकर वार्तायें लिपिबद्ध हैं। पश्चात श्री शर्मा के साथ वहां पर स्थित म्यूजियम गया तथा अध्यक्ष महोदय से भेंट की।

श्री बी० ए० शर्मा से विदित हुआ कि जोधपुर नरेशों का निजी पुस्तकालय जो "पुस्तक-प्रकाश" के नाम से विख्यात है आजकल "उम्मेद-भवन" (छीतर पैलेस) में सुरक्षित रखा हुआ है। वहाँ के ग्रन्थों का अध्ययन करने के लिये "पेलेस" के ऐडमिनिस्ट्रेटर महोदय से अनुमति लेना आवश्यक है, "पेलेस" नगर से तीन मील की दूरी पर है। अतएव श्री शर्मा के साथ जीप का प्रबन्ध करके हम "पेलेस" पहुँचे। वहां पहुँचने पर हैड क्लर्क से ज्ञात हुआ कि ऐडमिनिस्ट्रेटर महोदय अपना कार्य करके जा चुके हैं। उनका कार्य-काल १०—३० से मध्याह्न १—३० तक का है। हैड क्लर्क महोदय श्री तपसीलाल से ज्ञात हुआ कि गद्य संबंधी सामग्री पर्याप्त मात्रा में यहां पर उपलब्ध है। उन्होंने हमें 'पेलेस' दिखाने का प्रबन्ध किया। बातचीत के अन्तर्गत काफी बातों की जानकारी हासिल हुई।

ता० १५ मई को लगभग १२ बजे मैं 'पेलेस' पहुंच गया तथा ऐडमिनिस्ट्रेटर महोदय से भेंट की तथा अपने अनुसंधान संबंधी कार्य से उनको अवगत कराया एवं लिखित रूप में 'पेलेस' के हस्तलिखित ग्रन्थों के अध्ययन एवं नोट्स आदि लेने की अनुमति पाई। श्री ऐडमिनिस्ट्रेटर महोदय ने सहर्ष स्वीकृति प्रदान की तथा स्वीकृति-पत्र पर पुस्तकाध्यक्ष को नोट् लिख कर दिया कि जिससे वे मुझको सर्व सुविधा प्रदान कर सकें। पुस्तकाध्यक्ष श्री मोतीलाल गुटूं से मिला, उन्होंने मुझे हस्तलिखित ग्रन्थों का सूची-रजिस्टर दिया। रजिस्टर के अनुसार मैंने अपने विषय संबंधी पुस्तकों की सूची बनाई जिसके अनुसार ८० वार्तायें, २ ख्यात, ३ वंशावली, १ वचनिका तथा १ विगप्त है। 'पेलेस' के आफिसर इंचार्ज बाहर थे अतएव ग्रन्थालय नहीं खोला जा सका।

ता० १६ मई को प्रातः ११ बजे 'पेलेस' पहुँचने पर पुस्तकाध्यक्ष श्री गुटूं के साथ 'पेलेस' के आफीसर इंचार्ज श्री चन्द्रसिंह से भेंट की तथा उनको ऐडमिनिस्ट्रेटर महोदय का अनुमति-पत्र दिया। श्री चन्द्रसिंह ने दो सिपाही तथा एक गार्ड को बुलाया तथा हम सब 'पेलेस' के भीतरी भाग में प्रविष्ट हुये। एक विशेष कक्ष में सुरक्षित रखी "पुस्तकालय-कक्ष" की कुंजी श्री चन्द्रसिंह ने निकाली और उससे पुस्तकालय कक्ष का

द्वार खोला। कक्ष में लगभग २०–२२ अलमारियां हैं जिनमें संस्कृत, वेद, पुराण, उपनिषद्, तंत्र, योग, ज्योतिष तथा राजस्थानी के हस्तलिखित ग्रन्थ हैं। इन ग्रंथों के अतिरिक्त श्रीमद्भागवत, रामायण तथा महाभारत के दीर्घाकार चित्र हैं जिनमें कथात्मक भावों का तूलिका से सुन्दर रूप-वैभव अंकित किया गया है।

'पेलेस' के "पुस्तक-प्रकाश" पुस्तकालय में ता० १६, १७, १८, २०, २२, २३, २४ मई तक मैंने कार्य किया। १८ मई रविवार, तथा २१ मई को प्रतापजयन्ती के कारण पुस्तकालय का अवकाश-दिवस था। इस कार्य-काल में मैंने २५ वार्ताओं को देखा, उनके प्रारम्भिक, मध्य और अंतिम अंशों को नोट कर लिया। ख्यातों में केवल "तख्तसिंहजी वीख्यात" ही देख पाया। अन्य ख्यातें खोजने पर भी नहीं प्राप्त हो सकीं, जब कि सूची-पत्र में उनका संकेत है। "तख्तसिंहजी वीख्यात" अपूर्ण है।

अध्ययन क्रम के अतिरिक्त ता० १८ वा २१ मई को मैंने निम्न विद्वानों से सम्पर्क स्थापित किया तथा विषय सम्बन्धी चर्चायें की :—

(१) श्री पं० नित्यनंद शर्मा शास्त्री, रिटायर्ड पुस्तकाध्यक्ष "पुस्तक-प्रकाश" पुस्तकालय। इनसे ज्ञात हुआ कि पुस्तक-प्रकाश में जो गद्य सम्बन्धी रचनायें हैं वे अधिकांश तया १८वीं शताब्दी के पश्चात् की हैं। और कुछ रचनाओं को अतिरिक्त नकल करवाई गई हैं तथा कुछ चारण भाटों से क्रय की गई हैं।

(२) श्री नारायणसिंह भाटी—संपादक—"परम्परा" चौपासनी शोध संस्थान जोधपुर। श्री भाटी ने "परम्परा" त्रैमासिक पत्रिका के अंक दिखलाये। यह पत्रिका "राजस्थानी-साहित्य" के एक मुख्य विषय को लेकर प्रकाशित होती है। पत्रिका का विशेषांक "राजस्थानी वार्ता साहित्य" प्रकाशित होने वाला है। उनके द्वारा यह ज्ञात हुआ है कि शोध-संस्थान में दो ख्यातें तथा फुटकर वार्तायें उपलब्ध हैं। श्री भाटी ने मेरे विषय की सराहना करते हुये कहा कि यह विषय विस्तृत तो अवश्य है लेकिन इस विषय पर शोध की भारी आवश्यकता है। श्री भाटी ने एक सुझाव यह भी दिया कि गद्य-साहित्य के अध्ययन में वार्ता साहित्य पर विशेष और विस्तृत अध्ययन भी किया जाना चाहिए।

(३) श्री सीताराम सलिल—राजस्थानी भाषा के अन्वेषक विद्वान हैं। राजस्थानी व्याकरण नामक अपनी पुस्तक में राजस्थानी भाषा का सरल व सुबोध व्याकरण प्रस्तुत किया है। इस समय श्री सलिल राजस्थानी शब्द-कोष तैयार कर रहे हैं। उन्होंने शब्द-कोष का कार्य मुझे दिखलाया। उनके संग्रह में गद्य संबंधी पर्याप्त सामग्री है। जोधपुर में केवल एक बही उनके पास है जिसमें लगभग १०० से ऊपर वार्त्ताएँ लिपिबद्ध हैं। इस बही में कुछ मुगल बादशाहों की तथा अन्य क्षत्रिय नरेशों की जन्मकुण्डलियाँ भी बनी हुई हैं। इसके अतिरिक्त उनके अपने गांव के निजी संग्रहालय में राजस्थान के अन्यान्य राजघरानों एवं राज्यों के संबंध में 'बात—साहित्य' है। श्री सलिल ने भविष्य में पर्याप्त सहयोग देने का मुझे आश्वासन दिया।

'पेलेस' के आफीसर इन्चार्ज श्री चन्द्रसिंह से ज्ञात हुआ कि जोधपुर से ४० मील दूर 'बीलाडा' नामक स्थान पर 'आई जी देवी' का मंदिर है। मंदिर का एक निजी

पुस्तकालय है । उसके संरक्षक मंदिर के पुजारी हैं जो दीवान जी कहलाते हैं । उसमें योग और तंत्र के ग्रन्थों के अतिरिक्त महाराणा प्रताप एवं राठौर वीर दुर्गादास के १६ पत्र सुरक्षित रखे हैं । परन्तु उनके देखने व अध्ययन के लिए दीवान जी से आज्ञा लेनी पड़ती है । सूत्रों से ज्ञात हुआ कि दीवान जी उस समय 'बीजाड़ा' में उपस्थित नहीं थे । साथ ही चन्द्रसिंह जी से यह भी मालूम हुआ कि मंडावा (शेखावाटी) के कुंवर श्री देवीसिंह के पास पर्याप्त साहित्य उपलब्ध है ।

इस प्रकार जोधपुर का अपना कार्य समाप्त करके मैंने ता० २५ मई को उदयपुर के लिए प्रस्थान किया ।

उदयपुर

ता० १६ मई को प्रातः काल ६ बजे उदयपुर पहुँचा । उसी दिन राजस्थान साहित्य-संस्थान के कार्य वाहक मंत्री जी से मिला और उनसे मैंने अपने विषय की चर्चा की । उन्होंने दूसरे दिन आने के लिए कहा, क्योंकि इस समय कविराज श्री मोहनसिंह जी उपस्थित नहीं थे । तत्पश्चात् मैं पार्क के पुस्तकालय पहुँचा । वहाँ श्री डा० मोतीलाल मेनारिया से भेंट हुई । श्री मेनारिया ने मुझे परामर्श दिया कि विषय के नाम में परिवर्तन कर 'डिंगल गद्य-साहित्य' के स्थान पर 'राजस्थानी गद्य-साहित्य' रखा जाय और साथ ही यह भी सुझाव दिया कि इस विषय के लिए राजस्थान का ही कोई विद्वान् निर्देशक हो तो अच्छा; क्योंकि यह बड़ा उलझनमय और विस्तृत विषय है । मैंने उन्हें इस सुझाव के लिए धन्यवाद दिया । डिंगल और राजस्थानी के अन्तर के संबंध में हमारी वार्त्ता काफी विशद् रही । उनका कथन यही था कि डिंगल का नाम बहुत पश्चात् का है और डिंगल केवल कवियों के प्रयोग की एक भाषा अथवा शैली मात्र है । तत्पश्चात् मैंने राजकीय पुस्तकालय 'सरस्वती भवन' में सुरक्षित ग्रन्थों के अवलोकन-अध्ययन की इच्छा व्यक्त की । श्री मेनारिया ने कहा कि इस समय 'सरस्वती भवन' के ग्रन्थों का अध्ययन आदि नहीं किया जा सकता, कारण की गत १ वर्ष ६ माह से मुनि कान्ति सागर पर भवन से कुछ सामग्री गबन किये जाने के परिणाम स्वरूप कोर्ट-केस चल रहा है । इस कारण वहाँ के ग्रन्थ देखना सुलभ नहीं है । यह जानकर मुझे बड़ा दुःख हुआ । खैर मैं उनसे सहयोग का आश्वासन पाकर लौट आया ।

ता० २७ मई को राजस्थान शोध-संस्थान के पीठस्थविर तथा राजस्थान साहित्य अकादमी के अध्यक्ष श्री जनार्दनराय नागर से उनके आवासस्थान पर भेंट की । उन्होंने शोध-संस्थान के मन्त्री को इस आशय का पत्र लिख कर दिया कि जिससे मुझे हर प्रकार की सुविधा व सहयोग मिल सके । वहां से मैं शोध-संस्था गया तथा मोहनसिंह कविराज से मिला । उन्होंने एक प्रति मुझे दिखलाई जिसे उदयपुर नरेश ने उन्हें भेंट स्वरूप दी थी । प्रति १८वीं शताब्दी की रचित है तथा उसमें फुटकर ८० वार्त्तायें लिपबद्ध हैं । इसके अतिरिक्त उनके पास से अधिक सामग्री प्राप्त नहीं हो सकी । मैंने नाथद्वारा और कांकरोली की ओर जाने का निश्चय किया । एक परिचित सज्जन से ज्ञात हुआ था कि इन स्थानों पर भी कुछ सामग्री प्राप्त हो सकती है । अतएव मैं ता० २८ मई को नाथद्वारे और

कांकरोली गया परन्तु निराश ही लौटना पड़ा। वहाँ पर मेरे कार्य की कोई विशेष सामग्री नहीं थी। इन स्थानों पर अधिकांशतया धार्मिक साहित्य विशेषकर ब्रज भाषा में विद्यमान है—अनुवाद के रूप में कुछ रचनायें हैं जो गद्य एवं पद्य दोनों में ही हैं। यह अनुवादित सामग्री लगभग १९वीं शताब्दी की है। अतएव ता० ३० मई को मैं उदयपुर लौट आया तथा उदयपुर से वापस अजमेर २ जून को पहुँच गया।

जयपुर

९ जून ५८ को मैं जयपुर पहुँचा। ९-१० जून को जयपुर में 'राजस्थान के पुरातत्व मंदिर में' कार्य किया। वहां पर अच्छी सामग्री है। अधिकांश सामग्री वार्ता सम्बन्धी है तथा कुछ वंशावलियाँ विगत व वचनिकायें भी हैं जिनकी संख्या ५४-६० है। इनका रचना काल १७ वीं शताब्दी से १९ वीं शताब्दी तक है। इनके अतिरिक्त विविध विषयों के राजस्थानी ग्रंथ भी उपलब्ध हैं। 'पुरातत्व-मंदिर' से राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज भाग १, २, ३, ४ में से मैंने अपना अलग सूची-पत्र बनाया, जिनमें लगभग ३२ ग्रंथ मेरे विषय सम्बन्धित हैं जिनका प्राप्ति-स्थान भी अंकित है। इस कार्य में मुझे डा० देवराज उपाध्याय, डिप्टी डायरेक्टर तथा अन्य कार्यकर्त्ताओं का सौहार्द व सहयोग मिला। 'पुरातत्व-मंदिर' से प्रकाशित 'बांकीदास के ख्यात' मैंने व्यक्त की। 'मुहणौतनैणती की ख्यात' का संपादन कार्य चल रहा है। यहीं पर एक मित्र से ज्ञात हुआ कि पं० रामकर्ण जी आसोपा ने 'नैणसी की ख्यात' का एक भाग संपादित किया था जो उनके पुत्र के द्वारा प्राप्त हो सकता है। मैंने उनका नाम पता अंकित कर लिया और अजमेर से उनको पत्र दिया है जिसमें 'नैणसी की ख्यात' मुझे मिल सके। वैसे नैणसी की ख्यात का हिन्दी अनुवाद (दो भागों में) काशी नागरी प्रचारिणी सभा से भी प्रकाशित हो चुका है।

११ जून को मैंने मँडोवा कुँवर साहब से सम्पर्क स्थापित किया। क्योंकि वे आजकल जयपुर में ही हैं। मंडोवा के कुंवर सा० श्री देवीसिंह जी के यहां ८ भागों में वार्तायें लिपिबद्ध हैं तथा कुछ वंशावलियां भी हैं। उन्होंने मुझे आश्वासन दिया है कि कुछ समय बाद यह सामग्री मंडोवा से जयपुर मँगवायी जायगी।

जयपुर के नरेश का व्यक्तिगत पुस्तकालय 'पोथी-खाना' के नाम से प्रसिद्ध है। वहाँ पर भी पर्याप्त सामग्री है। ऐसा जानकर क्षेत्रों से विदित हुआ। परन्तु जयपुर नरेश उस 'पोथीखाने' को देखने की अनुमति नहीं देते ऐसा मालूम हुआ। कुछ व्यक्तियों से इस सम्बन्ध में मैंने चर्चा भी की परन्तु उन्होंने विवशता ही व्यक्त की। परन्तु मैं समझता हूँ कि जयपुर नरेश से सम्पर्क स्थापित करने पर संभव है इस समस्या का समाधान निकाला जा सके। इसके अतिरिक्त जयपुर में राजस्थान के जैन ग्रन्थ भंडारों का सूचीपत्र देखने के लिए मैंने सेठ बधीचंद जी गंगवा, मैनेजर महावीर अतिशय कमेटी, भंवरलाल जी न्यायतीर्थ आदि सज्जनों से सम्पर्क स्थापित करने का प्रयत्न किया परन्तु सम्पर्क बना नहीं सका। मैं जब भी उनके आवास पर गया वे अनुपस्थित थे।

१२ जून को श्री स्वरूप नारायण जी पुरोहित से भेंट की तथा पुरोहित हरनारायण जी के निजी संग्राहलय के संबंध में जानकारी प्राप्त की। उन्होंने पूर्ण सहयोग का आश्वासन दिया। सांयकाल मैं अजमेर लौट आया।

बीकानेर

१५ जून ५८ को अजमेर से बीकानेर के लिए प्रस्थान किया। १६ जून को प्रात: ७ बजे बीकानेर पहुंचा। १६ जून को ११ बजे श्री अगरचंद जी नाहटा से अभय जैनग्रन्थालय में भेंट की तथा उनसे विषय के संबंध में चर्चा हुई। श्री नाहटा ने भी यही सुझाव दिया कि 'डिंगल गद्य साहित्य' के बजाय 'राजस्थानी गद्य साहित्य' रखा जाय। तथा विषय के लिए राजस्थानी भाषा-साहित्य के विद्वान को ही निर्देशक बनाया जाय। श्री नाहटा ने श्री नरोतम दास स्वामी से भी सम्पर्क स्थापित करने के लिए कहा है।

१६ जून से ३० जून तक मैं बीकानेर रहा। बीकानेर में लालगढ़ स्थित 'अनूप संस्कृत लाइब्रेरी' में ता० १८, १९, २०, २४, २५, २६, व २७ तक अध्ययन कार्य किया। ये लालगढ़ नगर से ४ मील दूर स्थित है जहाँ पर मैं सवेरे ११ बजे पहुँच जाता तथा सांयकाल ४ बजे तक ग्रन्थावलोकन करके लौटता। इन दिनों में मैंने मुख्यतया बीकानेर के 'रोठोड़ों की ख्यात' (दो भागों) का अध्ययन किया। वह ख्यात दयालदास सिढ़ायल द्वारा रचित है। इसमें ब्रह्मा की उत्पत्ति की कथा से लेकर राठौड़ वंश की उत्पत्ति, वहाँ के राजवंशों का विवरण तथा प्रमुख घटनाओं का विशद चित्रण किया गया है। इसका रचनाकाल १८ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है। इसके अतिरिक्त राठौड़ों की वंशावली, कुछ वार्त्ताओं तथा राजस्थानी अनुवाद आदि को देखा। 'अनूप संस्कृत लाइब्रेरी' के कार्यवाहक मन्त्री श्री बाबूराम जी से ज्ञात हुआ कि वहां के ग्रन्थ 'सुरक्षा-अनुबन्ध' के द्वारा दिये जा सकते हैं। सुरक्षा-अनुवन्ध को मैंने उनसे पूर्ण जानकारी प्राप्त की, जिसके अनुसार मैंने एक स्टाम्प-पत्र पर पांच सौ रुपये का 'सुरक्षा-अनुबंध-पत्र' भरा तथा हस्ताक्षर के लिए प्रिंसिपल गवर्नमेंट कालेज, अजमेर को वह फार्म भेज दिया। यह कार्य मैंने ता० २१ जून सम्पन्न किया परन्तु २४ तारीख तक जब प्रिंसिपल महोदय के हस्ताक्षर होकर 'अनुबंध-पत्र' मुझे नहीं मिला तो मैंने ता० २४ व २५ को अजमेर टेलीफोन पर 'अनुबंध-पत्र' को शीघ्र भेजने की प्रार्थना की। ता० २७ को वह 'अनुबंध-पत्र' प्रिंसिपल महोदय के हस्ताक्षर सहित मुझे प्राप्त हुआ। गवाह के स्थान पर श्री अगरचन्द जी नाहटा के हस्ताक्षर कराकर वह 'अनुबंध-पत्र' मैंने श्री बाबूराम शर्मा को दिया। उन्होंने वहां के आफिसर इंचार्ज की अनुमति लेकर ग्रन्थ देना स्वीकार कर लिया। सर्व प्रथम 'वार्ता-साहित्य' पर अध्ययन प्रारम्भ करने का विचार करके मैंने वात्त संग्रह की प्रति निकल वाली। राजस्थान का वार्ता-साहित्य भाषा वैज्ञानिक एवं साहित्यक दृष्टियों से महत्त्व पूर्ण माना जाता है।

ता० १७, २१, २२, २३, के दिनों में श्री अगरचन्द जी नाहटा के संग्रहलय में ग्रन्थावलोकन करता रहा। इन्हीं दिनों समय निकाल कर मैंने श्री नरोतराम दास स्वामी से भी भेंट की। श्री स्वामी जी ने भी विषय और निर्देशक के सम्बन्ध में वही बात कही जो श्री नाहटा जी ने कही थी। साथ ही स्वामी जी ने निर्देशक के लिए श्री अगरचंद नाहटा का नाम प्रस्तावित किया तथा यह कहा कि विद्यापीठ के डाइरेक्टर महोदय को आप अपनी रिपोर्ट में यह सुझाव दें कि वे श्री नाहटा का नाम निर्देशक के लिए स्वीकर कर लेवें। साथ ही श्री नाहटा से भी इस विषय पर चर्चा कर ली जाय तो उचित रहेगा।

श्री स्वामी जी के निर्देशक श्री शिवस्वरूप शर्मा ने राजस्थानी गद्य के उद्भव-विकास पर शोध प्रबन्ध लिखा है। विषय अवलोकन करने से प्रतीत हुआ कि यह शोध प्रबन्ध विवरणात्मक अधिक है; आलोचनात्मक दृष्टि से इसमें कम ही विचार किया गया है। इस प्रबंध में अधिकांशतया जैन विद्वानों की रचनाओं का उल्लेख अधिक है। ख्यातों तथा वार्त्ताओं पर विशद रूप से विचार नहीं किया गया है। हाँ, प्रमुख ख्यातों का परिचय इसमें अवश्य है। मेरे विषय की जो रूपरेखा और सीमायें हैं उससे इस प्रबन्ध का विशेष सान्निध्य नहीं है। यह प्रबन्ध तो केवल गद्य के इतिहास का विवरणात्मक अध्ययन-भर प्रस्तुत करता है।

श्री नाहटा ी के 'अभय जैन ग्रन्थालय' में ख्यातें आदि नहीं है, कुछ वार्त्तायें फुटकर गुटकों में है। अधिकांश सामग्री जैन विद्वानों की है जिनमें कई एक जैन गद्य लेखक भी हैं। श्री अगरचन्द नाहटा ने यह सुझाव दिया कि गुजरात के विद्वानों से भी सम्पर्क स्थापित करके इधर की सामग्री के बारे में जानकारी प्राप्त करनी चाहिए। मुख्यतया ये विद्वान है:—डा० भोगी लाल सांडेसरा, बड़ौदा विश्वविद्यालय, बड़ौदा, श्री केशवलाल शास्त्री गुजरात विद्यासभा, भद्र, डा० हरि बल्लभ भयाणी, भारतीय विद्याभवन चौपाटी बम्बई, श्री मंजूलाल मजूमदार चैतन्य धाम-प्रतापगंज, बड़ौदा। साथ ही श्री नाहटा जी ने इन पुस्तकों के अध्ययन पर भी और दिया:—गुजराती साहित्य-मध्यकालनों साहित्य-प्रवाह, वर्णक समुच्चय, षष्टिशतक बालबोध, उपदेशमाला, जैन गुर्जर संग्रह, (भाग १ से ४) जैन साहित्य का इतिहास तथा गुजराती गद्य संदर्भ आदि। श्री नाहटा जी ने टैसीटोरी के शोध कार्य का भी अध्ययन करने को कहा, विशेषकर उन केटलोग का जो राजस्थान के ऐतिहासिक हस्तलिखित ग्रन्थों के परिचय विषय पर प्रकाशित हुए हैं। श्री नाहटा जी ने इन विद्वानों से भी सम्पर्क बनाने को कहा:—श्री उदय राज उज्ज्वल, ईश्वरदान जी, नाथूराम जी व्यास, सत्यदेव जी आढ, । रविशंकर देरासरी, विजय करण जी आढ़ा, आसनमंदमोदी तथा राव-शिवनाथसिंह आदि जिनके द्वारा गद्य संबंधी सामग्री का परिचय मिल सकता है, जो राजकीय पुस्तकालयों में उपलब्ध नहीं है तथा जो केवल वंश सम्पति रूप हैं। मैंने इन सब सज्जनों का पता नोट कर लिया है तथा अब उनसे पत्र व्यवहार प्रारम्भ कर रहा हूँ। आवश्यकता होने पर उन स्थानों पर जाकर उनमें व्यक्तिगत सम्पर्क भी स्थापित करने का प्रयत्न करूंगा।

श्री नाहटा जी से हुई चर्चाओं के फल-स्वरूप अपने विषय को इस प्रकार विभाजित किया जा सकता है:—

१. भाषा विकास की दृष्टि से राजस्थानी गद्य का ऐतिहासिक स्वरूप विकास

२. गद्य की ऐतिहासिकता। इसके अन्तर्गत ख्यात, वंशावली, विगत, पीढ़ियाँ, बचतिवायें, पट्टे परवाने आदि ऐतिहासिक सामग्री का विवेचनात्मक अध्ययन होगा।

३. साहित्यक गद्य-वार्त्तायें।

४. टीकायें, टब्बे व बालावबोध।

५. गद्य का तुलनात्मक अध्ययन (राजस्थान की भिन्न-भिन्न बोलियों के आधार पर तथा गुजराती, मालवी आदि गद्य को दृष्टि-पथ में रखते हुए।)

श्री नरोतराम दास स्वामी के कथन के आधार पर निर्देशक के लिए मैंने श्री अगरचन्द जी नाहटा से चर्चा की। चर्चा का निष्कर्ष यह निकला कि यदि विद्यापीठ स्वीकार कर लेता है तो उन्हें कोई आपत्ति नहीं होगी। श्री नाहटा राजस्थानी भाषा व साहित्य के विशेषज्ञ हैं और उनके सहयोग से इस विषय का कार्य भी सुगमता से सम्पन्न हो सकता है।

सीकर

ता० २८ जून को प्रातः ७-३० पर में सीकर पहुँचा। सीकर में २८, २९, व ३० तारीख तक रहा। सीकर में पं० शिवनारायण जी आचार्य भू० पू० मन्त्री जागीरदार कमेटी का पूर्ण सहयोग मुझे प्राप्त हुआ। सीकर के गढ़ में जीर्ण-शीर्ण अवस्था में लगभग १०० पृष्ठों की एक हस्तलिखित प्रति देखने को मिली जिसमें सेखावतों की वंशावली तथा पीढ़ियाँ हैं जो कि पुरोहितों के द्वारा लिखी गई हैं। तीन चार लिपिकारों की लेखनी से यह प्रति सुशोभित है, जिसमें श्री माधवसिंह जी तक का वर्णन है। सीकर के पुरोहितों की परम्परा से यह लिपिबद्ध होती आई है। ऐसा वहाँ पर सज्जनों से चर्चा करने पर विदित हुआ। इसके अतिरिक्त रजिस्टर रूप में सेखावतों की वंशावली की एक अन्य प्रति भी देखने को मिली जिसमें कुशवाहा वंश का उल्लेख तथा सीकर बसाने आदि के वर्णन से प्रारम्भ होकर वहाँ के राजाओं के कार्य काल का भी वर्णन है। इसका लिपिकाल सं० १९४५ है। इसमें मुख्य रूप से खिजड़ी राज्य का हाल विस्तृत रूप से दिया गया है। सीकर के इतिहास को वहाँ के पुस्तकालय में जाकर देखा। पुस्तकालय में 'वीर-विनोद' के २० भाग भी रखे हुए हैं जिनमें गद्य के अनेक रूपों का परिचय मिलता है। साथ ही इसमें प्राचीन राजा महाराजाओं के पत्रादि की नकलें भी हैं। सीकर के जैन दिगम्बर मन्दिर का ग्रन्थालय भी देखा परन्तु कुछ सामग्री नहीं मिल सकी। हां १८ वीं शताब्दी में रचित जैन विद्वानों का धार्मिक गद्य वहाँ पर अवश्य उपलब्ध हैं।

इस प्रकार राजस्थान के इन विभिन्न भू-भागों की ओर भ्रमण करने पर प्रतीत हुआ कि गद्य संबंधी सामग्री पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है। राजकीय पुस्तकालयों के अतिरिक्त व्यक्तिगत रूप से भी सम्पर्क तथा परिचय प्राप्त करने पर अप्रकाशित ग्रन्थों का ज्ञान किया जा सकता है जिसकी जानकारी अभी तक साहित्य-संसार को प्राप्त नहीं है।

मेरे विषय की वह अध्ययन संबंधी सबसे बड़ी कठिनाई यह है कि सब ग्रन्थ हस्तलिखित रूप में हैं तथा राजस्थान के सम्पूर्ण भागों में वह साहित्य यत्र-तत्र बिखरा हुआ पड़ा है। इसके लिए अधिक से अधिक समय की आवश्यकता है। फिर भी मेरा प्रयत्न यही रहेगा कि मैं अधिक समय निकाल कर इस कार्य में जुट सकूँ।

दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.	दिनांक Date	उधारकर्ता की संख्या Borrower's No.
- 6 [illegible] 1993	177/s		